

हिन्दी-आलोचना
के
आधार-स्तम्भ

हिन्दी-आलोचना के आधार-स्तम्भ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
आचार्य नन्ददुलारे वाजपयी
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
आचार्य नगेन्द्र

सम्पादक

प्रोफेसर रामेश्वरसाल खडेलवाल,
एम०ए० पी०एच०डी०, डी० लिट
डा० सुरेगचन्द्र गुप्त,
एम०ए० पी०एच०डी०



राधाकृष्ण प्रकाशन

© १९६६ राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली ।

मूल्य
१० ००
छान-भास्करण ६ ७५

प्रकाशक
ओम्प्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
४-१४ रूपनगर
दिल्ली-७

मुद्रक
अमरनाथ प्रिंटर्स बरन

आमुख

'हिन्दी-आलोचना के आधार-स्तम्भ' में समीक्षात्मक लेखा का सकलन विश्व विद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर किया गया है। इसकी मूल प्रेरणा यह रही है कि हिन्दी-आलोचना के चिन्तनगत उत्कर्ष बिन्दु और विषय भूतिपादन की वज्ञानिकता का समवेत रूप हिन्दी-आलोचना के जिज्ञासु तथा प्रबुद्ध छात्र अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाये जिससे कि वे उसकी अद्यतन उपलब्धि का कुछ अनुमान कर सकें। निश्चय ही समग्र चित्र प्रस्तुत करने में इस प्रकार के आयोजन को और भी विगल बनाने के लिए हिन्दी के अनेक लघुप्रतिष्ठ आचार्यों और चिंतकों की विचार-सरणियाँ की अपेक्षा व गुंजायश हो सकती थी पर योजना की साधन-सीमाओं के कारण अपने विचार को प्रस्तुत रूप देकर ही हम सन्तुष्ट होना पडा। विद्वज्जन इस प्रय को हमारे मूल आशय का एक प्रतीक रूप समझकर ही ग्रहण करने की कृपा करें। यदि भविष्य में अवसर मिला तो इस शृंखला में कठियाँ जोड़कर हम इस काय को आगे बढाने में प्रसन्नता का अनुभव करेंगे।

इस प्रय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी आचार्य हजारिप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य नगेन्द्र के आलोचनात्मक कृतित्व के उत्तमांश का कुछ थोष्ट निबन्धा के रूप में सकलन किया गया है। प्रत्येक विद्वान् के कृतित्व को सम्यक रूप से हृदयगम करने की दृष्टि से उन पर अधिकारी विद्वाना के भी कुछ लेख परिपाक्षिक अध्ययन के लिये दिये गये हैं। आशा है यह पद्धति नियत उद्देश्य की सिद्धि में विशेष रूप से सहायक होगी। प्रय की 'भूमिका' व अनिवाप अंग रूप में आचार्य नगेन्द्र जी ने आलोचना का अतःस्वरूप' सीपक सेल देने की महती कृपा की है इसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं।

इन निबन्धा के रूप में हमने अत्यन्त मननीय सामग्री प्रस्तुत करने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया है। विश्वविद्यालय के छात्रा की चेतना में इनका रस घुल मिल जाये और परिणामस्वरूप मेधावी छात्र अपनी अपनी प्रतिभा और गुणाप्र बुद्धि से हिन्दी आलोचना की उत्थप रेखा को साँपकर आगे बढ़ने की स्फूर्ति से उज्जावित हा नये समीक्षा प्रतिमाना की स्थापना का स्वप्न देखें और उसके लिए त्रियागील हा—इसी में इस प्रयास की चरम सिद्धि होगी।

जिन विद्वाना की रचनाएँ मुख्य पाठ्य सामग्री के रूप में हमने इसमें सम्मिलित की हैं और सहायक सामग्री के रूप में जिनके विद्वत्तापूर्ण लेखों को समाविष्ट किया है उन

© १९६६ राधाकृष्ण प्रकाशन लिडा ।

मूल्य
१० ००
छात्र-मस्करण ६ ७५

प्रकाशक
ओम्प्रकाश
राधाकृष्ण प्रकाशन
४-१४ रूपनगर
दिल्ली-७

मुद्रक
अगोवा छापमन् वकर्म
भार्याग बाग दहला ।

आमुख

'हिन्दी-आलोचना के आधार-स्तम्भ' में समीक्षात्मक लेखों का सकलन विश्व विद्यालयों की उच्चतम कक्षाओं के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर किया गया है। इसकी मूल प्रेरणा यह रही है कि हिन्दी-आलोचना के चिन्तनगत उत्कर्ष बिन्दु और विषय प्रतिपादन की बहानिकता का समवेत रूप हिन्दी-आलोचना के जिज्ञामु तथा प्रबुद्ध छात्र अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाये जिससे कि वे उसकी अद्यतन उपलब्धि का कुछ अनुमान कर सकें। निश्चय ही समग्र चित्र प्रस्तुत करने में इस प्रकार के आयोजन को और भी विरल बनाने के लिए हिन्दी के अनेक सचप्रतिष्ठ आचार्यों और चिंतकों की विचार-सरणियाँ की अपन्याय गुंजायमान हो सकती थी, पर योजना की साधन-सीमाओं के कारण अपने विचार को प्रस्तुत रूप देकर ही हम सन्तुष्ट होना पड़ा। विद्वज्जन इस ग्रंथ को हमारे मूल आशय का एक प्रतीक रूप समझकर ही ग्रहण करने की कृपा करें। यदि भविष्य में अवसर मिलता तो इस शृंखला में कठियाँ जोड़कर हम इस काम को आगे बढ़ाने में प्रसन्नता का अनुभव करेंगे।

इस ग्रंथ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य नयेन्द्र के आलोचनात्मक कृतित्व के उत्तमोत्तम का कुछ श्रेष्ठ निबन्धों के रूप में सकलन किया गया है। प्रत्येक विद्वान् के कृतित्व को सम्यक् रूप से हृदयगत करने की दृष्टि से उन पर अधिकारी विद्वानों के भी कुछ लेख परिपात्रिक अध्ययन के लिये दिये गये हैं। आशा है यह पद्धति नियत उद्देश्य का सिद्धि में विधायक रूप से सहायक होगी। ग्रंथ की 'पूमिका' के अनिवार्य अंग-रूप में आचार्य नयेन्द्र जी ने 'आलोचना का अन्त-स्वरूप' शीघ्रक लेख देने की महती कृपा की है, इसक लिए हम उनके विनोय आभारी हैं।

इन निबन्धों के रूप में हमने अत्यन्त मननीय सामग्री प्रस्तुत करने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया है। विश्वविद्यालय के छात्रों की चेतना में इनका राम धुल मिल जाये और परिणामस्वरूप मेधावी छात्र अपनी अपना प्रतिभा और गुंजायमान बुद्धि से हिन्दी आलोचना की उत्कर्ष रेखा को सँघरकर आगे बढ़ने की स्पर्ति से उन्मत्त हो जाय, नये समीक्षा प्रतिमानों की स्थापना का स्वप्न देख और उसके लिए त्रियागीत हा—इसी में हम प्रयास की धरम सिद्धि होगी।

जिन विद्वानों की रचनाएँ मुख्य पाठ्य सामग्री के रूप में हमने इसमें सम्मिलित की हैं और सहायक सामग्री के रूप में जिनके विद्वत्तापूर्ण लेखों को समाविष्ट किया है, उन

सबके प्रति हम हृदय से अपना आभार निवेदित करते हैं ।

राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली व श्री ओम्प्रकाश हादिक धयवान के पात्र हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ का स्वच्छ और सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने में कोई कमी नहीं छोड़ी ।

—रामेश्वरलाल खड्गवाल

—सुरेशचन्द्र गुप्त

क्रम

भूमिका

आलोचना का अन्त स्वरूप	डा० नगेन्द्र	६
आलोचना का स्वरूप	डा० सुरेशचन्द्र गुप्त	१३
हिन्दी आलोचना का विकास प्रश्न	डा० रामेश्वरलाल सहनवाल	२४

भाचार्य रामचन्द्र शुक्ल

भाचार्य ध्रुवन का काव्यालोचन	भाचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	६५
शुक्ल जी की आलोचना-दृष्टि	डा० जयचन्द्र राय	७२

निबन्ध

काव्य में लोक-भंगल की साधनावस्था	८३
साधारणीकरण और व्यक्ति-वचिश्यवादा	८९
* रसात्मक बोध के विविध रूप	१००
जायसी का विरह-दणन	११६

भाचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी की समासा-पद्धति	डा० भगवन्स्वरूप मिश्र	१२६
सम-व्यंगील आलोचक वाजपेयी जी	डा० रामचन्द्र निवारी	१३१

निबन्ध

* साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति	१३५
ध्वनि और रस	१४०
छायावाद	१४७
* प्रमाण और निराला	१५३

भाचार्य गुजारीप्रसाद द्विवेदी

भाचार्य द्विवेदी की आलोचना-पद्धति और उपन्यास	डा० गम्भूताप सिंह	१६०
--	-------------------	-----

निबन्ध

साहित्य में व्यक्ति और समाज	१७१
भारतीय साहित्य की प्राग-व्यक्ति	१७७
साहित्य के नये मूल्य	१८०

* करण विगम और रसास्वाद का प्रक्रिया १६२

आचार्य नगत्र

ड।० नगत्र की समीक्षा पद्धति	डॉ० कुमार विमल	१८६
निबन्ध		
रस सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्त और उनका समाधान		२०८
* साधारणीकरण		२१६
कामादना का महावाक्य		२३६

मूमिका

डा० नगेद्र	६-१०
डा० सुरेशचद्र गुप्त	१३ ३०
डा० रामेश्वरलाल खडेलवाल	३४ ६४

आलोचना का अन्त स्वरूप

नगेन्द्र

आलोचना को मैं निश्चय ही ललित साहित्य का अग मानता हूँ। आलोचना कला है या विज्ञान ? यह प्रश्न नया नहीं है—सर्वत्र आलोचना के स्वरूप निर्धारण में इसकी मायकता आज भी असादिश है। आलोचना की आत्मा क्लामय है, किन्तु इसकी शरीर रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के क्लामय होने का अर्थ यह है कि आलोचना भी मूलत आत्माभिव्यक्ति ही है—यहाँ भी आलोचक कलाकृति के विवेचन विश्लेषण के माध्यम से आत्मलाभ करता है। आलोचना का विषय रसात्मक होता है और आलोचना की परिणति भी आत्मसिद्धि में ही होती है। अतः रस का अभिप्रेष आलोचना में भी रहता है। शरीर रचना के वैज्ञानिक होने का आशय यह है कि आलोचना की पद्धति में विज्ञान के रीति नियमों का पालन करना आवश्यक तथा उपादेय होता है। यही वह गुण है जो आलोचक का सामान्य सहृदय से वशिष्ट्य प्रदान करता है। मैं आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व आत्म निरीक्षण के आधार पर अपने एक लेख में यह स्थापना की थी कि आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक ही होता है। उस समय मेरा शास्त्र से घनिष्ठ परिचय नहीं था, इसलिए शास्त्र के परिचित पारिभाषिक शब्द सहृदय के स्थान पर मुझे रस ग्राही पाठक शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा था। मेरी मान्यता अब भी वही है शास्त्र ने उसे और पुष्ट कर दिया है। कृति का रसग्रहण के सन्दर्भ में आलोचक सहृदय से अभिन्न है किन्तु इस रस-सत्त्व के विवेचन में वह पाठक से विशिष्ट है। दोनों के भेद की बात बहुत-कुछ कही ही है जमी कि श्रोत्र ने साधारण कलाकार और विशेष व्यवसायी कलाकार के भेद का विषय में कही है। श्रोत्र के मत से प्रत्येक व्यक्ति-कलाकार हाता है—उसमें और व्यवसायिक कलाकार में भेद प्रकृति का नहीं होता गुण और मात्रा का हाता है अर्थात् व्यावसायिक कवि के पास सामान्य व्यक्ति-कवि की अपेक्षा अपनी सहजानुभूति का मूल रूप प्रदान करने का साधन एक उपकरण अधिक होते हैं। यही भेद सामान्य सहृदय और विशेष सहृदय अर्थात् आलोचक में होता है। साहित्य का आस्वादन दोनों ही करते हैं, किन्तु उग आस्वादन का विश्लेषण आलोचक ही कर सकता है। कुछ विद्वानों का मन में यह शंका उठती है कि इस विवेचन विश्लेषण से क्या लाभ ? अर्थात् मानना और कर्ता का शीघ्र में हम मध्यस्थ अभिकर्ता की क्या आवश्यकता ? आलोचक के

प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वसा ही होता है जसा कि जीवन व्यवहार में सामान्य उभ भोवता का अभिवर्ता या एजण्ट के प्रति होता है। किन्तु यह सहज स्थिति नहा है—वसे तो अथविधान के अतगत अभिकर्ता का महत्त्व भी कम नहीं है—वह निर्माता के समकदा ननी है यह ठीक है परन्तु निर्माता उस पर काफी दृढ़ तक निमर करता है यह भी उनना ही सत्य है। फिर भी आलोचक अभिकर्ता नहीं है। उसकी भूमिका वही अधिक सजनात्मक है। वह कवि या कथाकार की कोटि का सजक नहीं है कि नु उनका कम भी अपने ढग से गजनात्मक है इसस इकार नहीं किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है—कवि अपने विषय का सजन नहीं करता पुन सजा ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुन सजन करता है। सजन क ही अथ में आलोचनाशास्त्र के अन्तगत एक और सरल गण का प्रयोग होता है और वह है आख्यान। काव्य की एक अत्यत परिचित परिभाषा है—काव्य जीवन का आख्यान है। इसी शब्द का प्रयोग करते हुए सीध तौर पर कहा जा सनता है कि आलोचना काव्य का आख्यान है। यहाँ भी स्पष्ट है कि आख्यान विवेचनमात्र का वाचक न होकर पुन सजन का ही वाचक है अथवा काव्य जीवन का आख्यान है—यह वाक्य अपना सही अथ खो सठता है। आलोचना के सदभ में भी आख्यान वस्तु विश्लेषणमात्र नहीं है यहाँ भी पुन सजन की प्रक्रिया चलती है। भेदकवल दो है। पहला भेद करण या साधन का है—अर्थात् कवि के साधनो में भावना और कल्पना प्रधान है बढि प्रायः सश्लेषण में ही सहायक होती है जबकि आलोचक के कर्म में मूलतः भावना और कल्पना का सम्यक उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सश्रिय रहती है। दूसरा भेद सजना क्वि क बलाबल का है। कवि जीवन का पुन सजन करता है और आलोचक काव्य का—अर्थात् जीवन के पुन सजन का पुन सजन करता है। सजन का परिणाम है पत्त्य और पुन सजन का परिणाम है विम्ब। अतएव कवि-व्यापार में विम्ब रचना का ही प्राधाय रहता है। इस पद्धति से पुन सजन के पुन सजन का अथ हाना है विम्ब क भा विम्ब—प्रतिविम्ब का निर्माण अर्थात् ऐमे विम्ब का निर्माण जो रचना प्रक्रिया में विम्ब का अपभा अधिक मूढम और घूमिन हो जाता है। इस प्रकार आनाबक का कम कवि कम की अपना कम सजनात्मक रह जाता है यह सच है। कवि-कर्म में यहाँ विम्बा क प्रयोग की प्रचरता रत्ता है यहाँ आलोचना में इन विम्बा की धारणा या अत्यत अधिक उपयोग न अने है—और सही गण में काव्य में ऐत्थ्य मानसिक विम्ब प्रमुन रत्त है जबकि आलोचना में मानसिक प्रनात्मक विम्बा का आधिपय रत्ता है।

कवि का तात्पर्य यह है कि कवि कथाकार और आलोचक की सजन-क्षमता में मत्ता और साधन उपकरण का ही भेद अधिक है प्रकृति का भेद नना नहीं है। जिस प्रकार कवि भाव का रचना या कल्पना का क्रीडा नहा है इसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का विनाम नना है। कविता उपयोग या नाटक की भाँति आलोचना भी सजन-क्षमता (इन्फेन्सिविबल) में अनुबुद्धि एवं परिख्याप्त रहती है। कवि यत्ति रमणीय (एन्-कन्साल्मर) अनुबुद्धि का माध्यम में आत्माभिन्वयिण करता है ता आलोचक

कवि की उस आत्माभिपक्ति के आख्यान के माध्यम से। इसी अर्थ में और इसी कारण से आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हूँ।

आलोचना का यही तात्त्विक (या सात्विक) स्वरूप है। इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अर्थवत्तव्य-कर्मों की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्यांकन उसकी गतिविधि का नियमन आदि। मरी दृष्टि में यह सब आरोपित दायित्व है और काफी हद तक व्यावसायिक कर्म है। मूल्यांकन की उपेक्षा मैं नहीं करता—वह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनायास ही हो जाता है। कृति के आस्वाद का विश्लेषण करने हुए आप से आप दोना प्रकार के तत्त्व उभरकर सामने आ जाते हैं। ऐसे तत्त्व जो उसने आस्वाद्यत्व के बाधक हैं और वे तत्त्व भी जो उसमें बाधक हैं। आस्वाद के विश्लेषण में उसके उन स्यायी और अस्यायी तत्त्वों की परीक्षा भी निहित रहती है जो अन्ततः भौतिक और मानवीय मूल्यांश सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मूल्यांकन कोई स्वतंत्र प्रक्रिया न होकर आख्यान की प्रक्रिया का ही अंग—सहा सत्त्व म—परिणामी अंग है और इस रूप में वह काम्य भा है कर्म से कर्म उपादेय तो है ही। किन्तु स्वतंत्र कर्म के रूप में वह व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर मूल्यांकन और आलोचना के महज रूप में भी पढ़ जाता है स्वतंत्र रूप में मूल्यांकन वास्तव में सजनात्मक नहीं रह जाता।

साहित्य की गतिविधि में नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है उसमें रस के स्थान पर शक्ति की स्पष्टता ही प्रमुख हो जाती है। वहाँ सजना का तो प्रश्न ही नहीं उठता निर्माण या रचना का काय भी पाछा पड़ जाता है और राजनाति अर्थात् बनावल की नाप-तौल ही सामने रहती है। मैं ममभना हूँ कि यहाँ साहित्यकार स्वधर्म में च्युत हो जाता है। निश्चय आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर मताग्रह का बोलबाला हो जाता है और राग-द्वेष के विगलन के स्थान पर अहंकार का संवर्धन ही मुख्य हो जाता है। स्पष्ट है कि रस में साहित्य के अंतर्गत यह सब नहीं आ सकता। इस प्रकार का दम्भ संवर जो आलोचक चलता है वह समर्थ प्रचारक तो बन सकता है ममवेत्ता साहित्यकार नहीं। आप क्षायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण लेकर मेरी स्थापना का खण्डन करना चाहें। मल्लिनाथ की यह गर्वोक्ति सस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है

भारती कालिदामस्य दुर्ध्याख्याविषमूच्छ्रिता ।

एषा सजीविनीव्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति ॥^१

—कालिदाम की भारती दुर्ध्याख्या के विषय से मूच्छ्रित पढ़ी थी मेरी यह सजा विनी टोका आज उस जीवनदान करणी।

आचार्य गुबल ने भी क्या जायसी का उद्धार नहीं किया? मैं ममभना हूँ कि यह शक्ति धर्म है। मल्लिनाथ और आचार्य गुबल को निर्मित होने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है—किन्तु कालिदास या जायसी के निर्माता यकिस मान जा सकते हैं? कालिदाम के मन्त्र में मल्लिनाथ की गर्वोक्ति का महत्व आलाचक के आत्म-तोष से अधिक मानना क्या किसी ममग के लिए मन्त्रव है? वास्तव में उसे अभिषाघ में प्रहण करने की मूल्यता

प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वसा हा होता है जसा कि जीवन व्यवहार में सामान्य उपभोक्ता का अभिकर्ता या एजेंट के प्रति होता है। किन्तु यह सहज स्थिति नही है—वैसे तो अधविधान के अंतगत अभिकर्ता का महत्त्व भी कम नहीं है—यह निर्माता के समकक्ष नहीं है यह ठीक है परन्तु निर्माता उस पर बाफी हृद तक निर्भर करता है यह भाजना ही सत्य है। फिर भी आलोचक अभिकर्ता नहीं है। उसकी भूमिका वही अधिक गजनात्मक है। वह कवि या कथाकार की कोटि का सजक नहीं है किन्तु उनका कम भी अपने ढंग में गजनात्मक है इससे इकार नहीं किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है—कवि अपने विषय का सजन नही करता पुन सजा ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुन सजन करता है। सजन का ही अर्थ में आलोचनाशास्त्र के अंतगत एक और सरल शब्द का प्रयोग होता है और वह है आख्यान। काव्य की एक अत्यंत परिचित परिभाषा है—काव्य जीवन का आख्यान है। इसी शब्द का प्रयोग करते हुए सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि आलोचना काव्य का आख्यान है। यहाँ भी स्पष्ट है कि आख्यान विवेचनमात्र का वाचक न होकर पुन सजन का ही वाचक है अथवा काव्य जीवन का आख्यान है—यह वाक्य अपना सही अर्थ खोजे बैठता है। आलोचना के सद्भम में भी आख्यान वस्तु विवरणमात्र नहीं है यहाँ भी पुन सजन की प्रक्रिया चलती है। भेदभावसही हैं। पहला भेद कथन या माधन का है—अर्थात् कवि के साधनों में भावना और कथना प्रदान है बहिः प्रायः सन्वयण में ही सहायक होती है जबकि आलोचक के कर्म में ममता भावना और कथना का सम्यक उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहता है। दूसरा भेद सजन कथन का बलाबल का है। कवि जीवन का पुन सजन करता है और आलोचक काव्य का—अर्थात् जीवन के पुन सजन का पुन सजन करता है। सजन का परिणाम है पद्य और पुन सजन का परिणाम है विम्ब। अतएव कवि-व्यापार में विम्ब रचना का ही प्राधान्य रहता है। इस पद्धति में पुन सजन के पुन सजन का अर्थ होता है विम्ब का भी विम्ब—प्रतिविम्ब का निर्माण अर्थात् एते विम्ब का निर्माण जो रचना प्रक्रिया में विम्ब का अपना अधिक सूक्ष्म और घनिष्ठ हो जाता है। इस प्रकार आलोचक का कम कवि कम की अपेक्षा कम सजनात्मक रह जाता है यह सच है। कवि-कर्म में यहाँ विम्ब का प्रयोग का प्रचलना रहता है वहाँ आलोचना में इन विम्ब का धारणा का अर्थ अधिक उपयोग में आते हैं—और यही शब्द काव्य में एतन्वय मानसिक शिष्ट प्रवृत्ति रहता है जबकि आलोचना में मानसिक प्रवृत्ति का अधिक

कवि की इस आत्माभि-पक्ति के आख्यान का माध्यम है। इसी अर्थ में और इसी कारण से आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हूँ।

आलोचना का यही तात्त्विक (या सात्त्विक) स्वरूप है। इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अर्थ-व्यवस्थाओं की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्यांकन उसकी गतिविधि का नियमन आदि। मरी दृष्टि में यह सब आरोपित दामित्व है और काफी हद तक व्यावसायिक काम है। मूल्यांकन की उपेक्षा मैं नहीं करता—यह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनायास ही हो जाता है। कृति के आस्वाद का विश्लेषण करने हुए आप से आप दोना प्रकार के तत्व उभरकर सामने आ जाते हैं। एक तत्व जो उसके आस्वाद्यत्व के बाधक है और दो तत्व भी जो उसमें बाधक हैं। आस्वाद के विश्लेषण में उसके उन स्यायी और अस्यायी तत्वों की परीक्षा भी निहित रहती है जो अन्ततः भौतिक और मानवीय मूल्या से सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार मूल्यांकन कोई स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं है, आख्यान की प्रक्रिया का ही अंग—सहा-गण्य—परिणामी अंग है और इस रूप में वह काम्य भा है। कम से कम उपादेय तो है ही। किन्तु स्वतन्त्र काम के रूप में वह व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर मूल्यांकन और आलोचना के सहज रूप में भी पड़ जाता है। स्वतन्त्र रूप में मूल्यांकन वास्तव में सजनात्मक नहीं रह जाता।

साहित्य की गतिविधि का नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है। उसमें रंग के स्थान पर शक्ति की स्पृहा ही प्रमुख हो जाती है। वहाँ सजना का तो प्रश्न ही नहीं उठता। निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड़ जाता है और राजनीति अर्थात् बनावल की नाप-तौल ही सामने रहती है। मैं समझता हूँ कि यहाँ साहित्यकार स्वयंसे-च्युत हो जाता है। निरखन आत्माभिव्यक्ति का स्थान पर मताग्रह का बोलवाला हो जाता है और राग-द्वेष के विगलन के स्थान पर अहंकार का सवधान ही मुख्य हो जाता है। स्पष्ट है कि रस का साहित्य के अंतर्गत यह सब नहीं आ सकता। इस प्रकार का दम्भ लेकर जो आलोचक चलता है वह समय प्रचारक तो बन सकता है ममवेत्ता साहित्यकार नहीं। आप पायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण लेकर मेरी स्थापना का खण्डन करना चाहें। मल्लिनाथ की यह गर्वोक्ति सस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है

भारती कालिनामस्य दुर्व्याख्याविषमूच्छ्रिता ।

एषा मजीविनीव्याख्या तामद्यो जीवयिष्यति ॥^१

—कालिनाम की भारती दुर्व्याख्या के विषय में मूच्छ्रित पढ़ी थी मेरी यह सजा विनी टीका आज उस जीवनदान करगी।

आचार्य गुकल ने भी क्या जायसी का उद्धार नहीं किया? मैं समझता हूँ कि यह दृष्टि भ्रम है। मल्लिनाथ और आचार्य दुर्वेन को निमित्त होने का श्रय अवश्य दिया जा सकता है—किन्तु कालिदास या जायसी का निर्माता यह काम मान जा सकते हैं? कालिनाम के सम्बन्ध में मल्लिनाथ की गर्वोक्ति का महत्त्व आलोचक के आत्म-ताप से अधिक मानना क्या किसी ममत्त के लिए सम्भव है। वास्तव में उसे अभिघात में ग्रहण करने की मूर्खता

प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः यथा हा होता है जसा कि जीवन व्यवहार में सामान्य उदा-
 मोक्ता का अभिवर्ता या एजेंट के प्रति होता है । किन्तु यह गहन स्थिति नहीं है—वमे
 तो अयविधान व अतगत अभिवर्ता का महत्व भी कम नहीं है—यह निर्माता के समक
 नहीं है यह ठीक है परन्तु निर्माता उम पर काफ़ी हूँ तक निरर करता है यह भा
 उतना हा सत्य है । फिर भा आलोचक अभिवर्ता नहीं है । उमका भूमिका बही अधि
 सजनात्मक है । वह कवि या कथाकार की कोटि का सजक नहीं है किन्तु उनका कम भी
 अपन ढग स सजनात्मक है इसस इन्कार नहीं किया जा सकता । काव्य का विषय जीवन
 है—कवि अपन विषय का सजन नहीं करता पुन सजा ही करता है । इसी तरह आमा
 चना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार स अपन आन्व्य विषय का
 पुनःसजन करता है । सजन क ही अय में आलोचनाशास्त्र क अन्तगत एक और सरल
 गल् का प्रयोग होता है और वह है आस्थान । काव्य की एक अत्यन्त परिचित परिभाषा
 है—काव्य जीवन का आस्थान है । एमी गल् का प्रयोग करत हुए सीध तौर पर कहा
 जा सकता है कि आलोचना काव्य का आस्थान है । यहाँ भी स्पष्ट है कि आस्थान विव
 चनमात्र का वाचक न होकर पुन सजन का ही वाचक है अथवा काव्य जीवन का
 आस्थान है—यह वाक्य अपना मही अय खो बटता है । आलोचना क सदम म भी
 आस्थान वस्तु विन उपनमात्र नहीं है यहाँ भा पुन सजन की प्रक्रिया चमती है । भू कवम
 दा है । पहला भे कण या माधन का है—अर्थात् कवि के माधना म भावना और
 कपना प्रधान है बुद्धि प्रायः मन्तपण में ही सहायक होती है जबकि आलोचक क कम
 म मूनन भावना और कपना का सम्यक उपयोग रहत हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय
 रहती है । दूसरा भू सजना गक्ति क बनाबल का है । कवि जीवन का पुन सजन करता
 है और आलोचक काव्य का—अर्थात् जीवन क पुन सजन का पुनःसजन करता है । सजन
 का परिणाम ह पत्तय और पुन सजन का परिणाम है विम्ब । अतएव कवि-व्यापार मे
 विम्ब रचना का हा प्राधान्य रहता है । इस पद्धति से पुन सजन के पुन सजन का अय
 हाता है विम्ब क भा विम्ब—प्रतिविम्ब का निर्माण अर्थात् ऐम विम्ब का निर्माण जो
 रचना प्रक्रिया म विम्ब का अथवा अधिक मूर्म और घूमिल हो जाता है । एम प्रकार
 आलोचक का कम कवि कम की अथवा कम सजनात्मक रह जाता है यह सच है । कवि-कम
 म जहाँ विम्बा क प्रयोग की प्रचुरता रहता है वही आलोचना म एन विम्बा का धारणा
 या प्रपय अधिक उपयोग म आते हैं—और सही गत्ता म काव्य म तद्विषय-मानसिक
 विम्ब प्रमुल रहत है जबकि आलोचना में मानसिक प्रनात्मक विम्बा का आधिक्य
 रहता है ।

कम का तात्पर्य यह है कि कवि कथाकार और आलोचक की सजन-क्षमता मे
 मात्ता और माधन उपकरण का ही भे अधिक है प्रकृति का भू रचना नहा है । त्रिम
 प्रकार काय भाव का रदान या कपना की कडा नहा है इसी प्रकार आलोचना भी
 बुद्धि का विनाग नहा है । कविता उपयोग या नायक का भाँति आलोचना भी सज
 न-मक मन्धान (क्रियात्मिक विजन) से अनुविद्ध एव परिष्कार रहती है । कवि यत् रमणीय
 (सा-क-नात्मक) अनुभूति का म माध्यम म आरमाभिन्त्यक्ति करता है ता आलोचक

कवि की उस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से । इसी अर्थ में और इसी कारण से आलोचना को मैं मूलतः साहित्य का अंग मानता हूँ ।

आलोचना का यही सांत्विक (या सात्त्विक) स्वरूप है । इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अर्थ कल्प-कर्मों की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्यांकन उसकी गतिविधि का नियमन आदि । भरी दृष्टि में यह सब आरोपित दायित्व है और काफी हद तक व्यावसायिक कर्म है । मूल्यांकन की उपेक्षा मैं नहीं करता—यह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनापास ही हो जाता है । कृति के आस्वाद का विन्तयेपण करने हुए आप से आप दोना प्रकार के तत्त्व उभरकर सामने आ जाते हैं । एक तत्त्व जो उसके आस्वाद्यत्व के माधक हैं और वे तत्त्व भी जो उसमें बाधक हैं । आस्वाद के विन्तयेपण में उसके उन स्यायी और अस्यायी तत्त्वों की परीक्षा भी निहित रहती है जो अन्ततः भौतिक और मानवीय मूल्या से सम्बद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार मूल्यांकन कोई स्वतन्त्र प्रक्रिया न होकर आख्यान की प्रक्रिया का ही अंग—सहा भाग में—परिणामी अंग है और, इस रूप में वह काम्य भा है, कम से कम उपायेय तो है ही । किन्तु स्वतन्त्र कर्म के रूप में वह व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर मूल्यांकन और आलोचना के महज रूप में भी पड़ जाता है । स्वतन्त्र रूप में मूल्यांकन वास्तव में सजनात्मक नहीं रह जाता ।

साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है उसमें रंग के स्थान पर शक्ति की स्पष्टता ही प्रमुख हो जाती है । वही सजना का तो प्रश्न ही नहीं उठता निर्माण या रचना का काम भी पीछे पड़ जाता है और राजनाति अर्पण बनाबन का नाप-तौल ही सामने रहती है । मैं समझता हूँ कि यही साहित्यकार स्वयं से च्युत हो जाता है । निरखत आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर मत्ताग्रह का बोलबाला हो जाता है और राग-द्वेष के विगलन के स्थान पर अहंकार का स्वयं ही मुख्य हो जाता है । स्पष्ट है कि रस के साहित्य के अंतर्गत यह सब नहीं आ सकता । इस प्रकार का दम्भ क्षेत्र जो आलोचक चलता है यह समय प्रचारक तो बन सकता है ममवेत्ता साहित्यकार नहीं । आप शायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण देकर मेरी स्थापना का पण्डन करना चाहें । मलिननाथ की यह गर्वोन्मित सस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है

भारता कालिदासस्य दुर्भाष्याविषमूर्च्छिता ।

तथा मञ्जीविनीव्याख्या तामघोऽजीर्वयिष्यति ॥^१

—कालिदास की भागनी दुर्भाष्या के विष से मूर्च्छित पड़ी थी मेरी यह सजा विनी टीका आज उस जीवनदान करगी ।

आचार्य शुक्ल ने भी क्या जायगी का उदार नहीं किया ? मैं समझता हूँ कि यह शक्ति धर्म है । मलिननाथ और आचार्य शुक्ल को निमित्त होने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है—किन्तु कालिदास या जायगी के निर्माता ये कर्म मान जा सकते हैं ? कालिदास के गर्भ में मलिननाथ की गर्वोन्मित का महत्त्व आलोचक के आम-ताप से अधिक मानना क्या किसी समय के लिए सम्भव है ? वास्तव में उसे अभिषाप में ग्रहण करने की मूलता

कौन कर सकता है ? इसमें सन्देह नहीं कि जायसी को प्रकाश में लाने का श्रेय धुबन जी को है किन्तु धुबन जी को अधिक से अधिक अनुगन्धान का ही गौरव दिया जा सकता है। रत्न की खोज या परख करनेवाला रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नहीं हो सकता। इसी अर्थ में बड़े से बड़ा आलोचक भी कवि को बनाने या बिगाड़ने का शक्ति नहीं कर सकता। महावीरप्रसाद द्विवेदी के विषय में मधिसीकरण गुप्त के निर्माण का दावा करना उतना ही गलत है जितना विद्याल भारत के सम्पादन के लिए निराशा को मेट्ट कर देने का दम्भ करना। इसी प्रकार साहित्य की गतिविधि के नियन्त्रण का दायित्व भी आलोचक के स्वधर्म से बाहर की बात है। साहित्य का विकास प्रज्ञा के आधार पर न होकर सजना के आधार पर ही होता है और जसा कि मैं अभी स्पष्ट कर चुका हूँ—समान स्तर पर तुलना करने पर—कलाकार की सजना-शक्ति आलोचक की सजना-शक्ति से अधिक प्रबल ठहरती ही है। जो साहित्य आलोचना की गर्भी से मुरझा जाए या जिसके विकास के लिए आलोचना के सहारे की जरूरत पड़े उसमें प्राण-शक्ति कम ही माननी चाहिए। साहित्य को दिशा तो स्रष्टा कलाकार ही देता है। आलोचक सभ्यता और प्रतिघात से उसकी प्रतिभा पर साक्ष्य रखने का कार्य करता है। उदाहरण के लिए शकल जी जैसे आलोचक की मेधा की चट्टान से टकराकर छायावादी कवियों की प्राणधारा में और भी अधिक बेग आ गया था। अभी किसी लेखक ने नयी कविता की सर्कल में लिखा था कि उसे बसे समर्थ आलोचक नहीं मिले जैसे कि छायावाद को अनायास ही प्राप्त हो गए थे। मैं समझता हूँ कि यह उल्टी दलील है। वास्तव में छायावाद की आलोचना इस लिए अधिक पुष्ट और प्रौढ़ है कि उसका आलोच्य विषय अपेक्षाकृत अधिक भव्य है क्योंकि यह तो एक परीक्षित तथ्य है कि किसी युग की आलोचना का स्तर उगने साहित्य के स्तर को अबाध रूप से प्रतिबिम्बित करता है। अतः साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण करने की महत्त्वाकांक्षा आलोचक के लिए कल्याणकर नहीं हो सकती।

कहने का अभिप्राय यह है कि आलोचना साहित्यिक साधना है व्यवसाय नहीं है।

आलोचना और कवि-कर्म

आलोचना के स्वरूप पर प्रकाश डालते समय स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न है कि उसका कवि-कर्म से क्या सम्बन्ध है ? आलोचना सज्जनात्मक साहित्य का अंग है अथवा नहीं ? इस विषय में कभी कभी मत-वैचित्र्य रहता है। वस्तुतः आलोचक के लिए भाषाकार यिनी प्रतिभा उतनी ही अपेक्षित है जितनी कि कवि अथवा गायक-कार के लिए। प्राचीन आचार्यों के अनुसार कवि और भाषक में अन्तर नहीं है क्योंकि वे दोनों ही कवि हैं। न पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भाषकश्च कवि इत्याचार्याः।^१ दूसरे गणना में आलोचक को सहृदय होना चाहिए अथवा वह कवि की भावनाओं को यथाथ रूप में घट्टन नहीं कर सकेगा। इस सम्बन्ध में आचार्य घमदत्त का मत भी यही है कि वासनायुक्त सम्प्राप्ति की ही रस का आस्वादन प्राप्त होता है। सवासनाना सम्प्राप्त्या रसस्यास्वादन भवेत्।^२ रीतिकालीन आचार्यों में भिखारीदास ने भी यही धारणा व्यक्त की है। रस-कवित्त परिपक्वता जान रसिक न और।^३ पाश्चात्य कवि आचार्यों में बन जानसन का मत भी यही है। किसी कवि के विषय में मत निर्धारित करना कवि का ही काय है और वह भाषा सब कविता का नहीं केवल मुख्य कविता का ही साध्य है।^४ वस्तुतः काव्य की रचना हृदय के आवेग से सम्बद्ध है अतः उसमें प्राप्य आरम्भिक आनन्द के आस्वादन के लिए प्रमाता को भी कवि-हृदय रखना ही चाहिए। इस प्रकार कवि-कर्म और आलोचक-कर्म भिन्न नहीं हैं। उत्तम कवि ही उत्तम आलोचक बन सकता है।

उपरोक्त धारणा के विपरीत यह शक्यता भी प्रकट की जाती है कि आलोचक का घम तो कवि द्वारा प्रणीत सज्जनात्मक साहित्य की विशेषताओं का उद्घाटन करना है अतः उसका नैसर्गिक प्रतिभा से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? पाश्चात्य आलोचक हरबर्ट रीड के अनुसार काव्य और आलोचना के क्षेत्र पूर्णतया भिन्न हैं वे भिन्न भावभूमि पर स्थापित हैं और उनका दृष्टिकोण भी भिन्न है। उत्तम कवि अधिकांशतः आलोचना व प्रति विमुख रहता है और यदि इसमें प्रवृत्त भी होता है तो उत्तम आलोचक नहीं बन सकता।^५ किन्तु ये दोनों विरोधी विचारधाराएँ वस्तुतः अतिवादी धारणाएँ हैं। यद्यपि यह सत्य है कि आलोचक में मूलभूत प्रतिभा के बीज अपेक्षित हैं क्योंकि इसकी स्थिति

१ काव्य-मीमांसा, राजराक्षर, पृष्ठ ३१

२ साहित्यदर्पण पृष्ठ ५४

३ भिखारीदास-प्रयासली प्रथम खण्ड पृष्ठ ४

४ To judge of poets is only the faculty of poets and not of all poets but the best

—Ben Jonson Vol viii Page 642

५ 'Poetry and criticism are entirely different faculties. They are established on different grounds and have a different point of view. The excellent poet is almost always an indifferent or at any rate an amateur critic

होने पर ही वह नवीन सिद्धान्त का निर्माण करके सजक और पाठन का मागदशन कर सकेगा, किन्तु दूसरी ओर उसमें भावन शक्ति की स्थिति भी उतनी ही अनिवाय है अथवा वह आलोच्य विषय की मौलिक विशेषताओं को ही नहीं समझ पाएगा। हिन्दी-लेखकों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आलोचना के इस अनुबन्ध पर इन शब्दों में बत दिया है 'इनके (कवियों के) कायों से आनन्द का यथेष्ट अनुभव वही कर सकते हैं जिनका हृदय इन्हीं के सदृश किम्बहुना इनस भी अधिक सुसज्जित कोमल और भावप्राही होता है।' वस्तुतः कवि ऐसे सहृदय समीक्षक को काव्यानन्द की अनुभूति कराने के लिए ही अपनी कृति को आस्वात्नीय बनाते हैं। अतः काव्य के आस्वादन के लिए सहृदय को कवि की भाँति सवेदनशील होना चाहिए।

उपयुक्त धारणा को आलोचकों की भाँति कविया ने भी बहुधा व्यक्त किया है। हरिऔध जी ने अनुसार आलोचक को काव्यज्ञ, भावुक रसप्राहक और सहृदय होना चाहिए जिसकी जसी वासना होगी, भाव-ग्रहण की जसी शक्ति होगी जिसमें जसी सहृदयता होगी रस आस्वाद का वह वसा ही अधिकारी होगा।^१ इसीलिए दिनकर ने आलोचना को कवि-रस के समान महत्त्व प्रदान करते हुए समालोचन क्षमता को जम से प्राप्त प्रतिभाविशेष माना है। उनका अनुसार जो लोग यह समझते हैं कि समालोचना सोखने की चीज है वे गलती करते हैं। यह भी उसी प्रकार जन्मजात है जस कवित्व।^२ आलोचना की शक्ति का जन्मान्तरिय सस्कारों में अन्तर्भाव सिद्धातत अनुचित स्थापना नहीं है—रचनात्मक प्रतिभा को ईश्वरीय श्रुपा का फल मानने का सिद्धान्त साहित्य के सभी अंग के लिए समान रूप से स्वीकार्य हो सकता है। दिनकर ने इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप आलोचक के लिए भावविश्री प्रतिभा के अतिरिक्त कारविश्री प्रतिभा को भी आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने यह मत व्यक्त किया है समालोचक में कवित्व भावुकता चिन्तन की कोमलता भावा की प्रबलता और रसप्राहिता होनी ही चाहिए अथवा वह उन मनोस्वाओं के घूमित-विन्व में पहुँच ही नहीं सकता जिनमें रचना के माध्यम से उसका रचयिता के मानस का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए समीक्षक द्वारा उपयुक्त गुणा का समय स्वभावतः अपेक्षित है। पाञ्चार्य कविया में पोष ने भी रसज्ञ भावुकता अथवा निमल चित्त से काव्यास्वादन-क्षमता को आलोचक का अनिवाय गुण माना है।^३ वर्तमान कवियों में 'बच्चन ने इसी अभिप्राय से आलोचक

१ समालोचना-समन्वय, पृष्ठ २६

२ रसकलस, भूमिका पृष्ठ ३५

३ मिटटी की ओर पृष्ठ १५५

४ मिटटी की ओर, पृष्ठ १५५

५ A perfect judge will read each work of wit.
With the same spirit that its author writ.

को कवि प्रतिभा से तान्त्रिक्य का मन्देश दिया है। उनके अनुसार कवि के समान रम्य चेतना से युक्त सहृदय ही भावप्रधान कविता को उचित रूप में हृदयगम कर पाता है अथवा उसकी पहुँच केवल विचार तत्त्व तक ही हो पाती है। यथा किसी कविता का अर्थ संतुष्ट रहकर भी जाना जा सकता है पर भावनाओं को समझने के लिए अपने को कवि के साथ एक करना पड़ता है। साहित्य को समझने के लिए जीवन के अनुभव को आवश्यकता होती है। अतः यह स्पष्ट है कि आलोचक का दायित्व कवि से अधिक है उसे सही अर्थों में वाक्य का मर्म ज्ञान होना चाहिए।

आलोचना-पद्धति

व्यावहारिक जीवन में हम प्रायः जाने-अनजाने किसी व्यक्ति वस्तु अथवा वाय-क्लाप की समीक्षा में प्रवृत्ति रखते हैं किन्तु सम्भारों ममाज-बोध के स्तर तथा चिन्तन क्षमता प्रभृति अथ व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुरूप हमारी प्रतिक्रियाओं में प्रायः अन्तर रहता है। इसी प्रकार साहित्य की आलोचना भी प्रतिक्रियाओं की देन है किन्तु ये प्रतिक्रियाएँ उच्छ्वल न होकर एक प्रकार के वैज्ञानिक समय से अनुशासित रहती हैं। अभिप्राय यह है कि आलोचना के लिए आलोचक को एक निश्चित विचार प्रम और गिल्प-बोध अपनाना होना है। वह सर्वप्रथम जालोच्य वृत्ति का अध्ययन करके उसमें निहित मूल भाव को ग्रहण करता है और पुनः उसकी व्याख्या और विश्लेषण द्वारा उसके महत्त्व का मूल्यांकन करता है। इस प्रकार आलोचना पद्धति के तीन मुख्य अवस्थान हैं—विषय-बोध व्याख्या विश्लेषण और मूल्यांकन।

(अ) विषय-बोध

आलोचक के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है कि उसे आलोच्य विषय का पूर्ण बोध हो। इस आधारभूत गुण के अभाव में निष्पन्न आलोचना सम्भव ही नहीं है। किन्तु कवन विषय-बोध ही पर्याप्त नहीं है। वृत्ति के अध्ययनोपरान्त उससे प्रभाव-ग्रहण की क्षमता भी आलोचक के लिए अनिवार्य है। उपयुक्त विषय-बोध के द्वारा वृत्ति से प्रभावित होने पर ही वह उसकी विशेषताओं का उदघाटन और मूल्यांकन कर सकेगा। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वृत्ति के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया तो संस्कार आयु तथा स्तरमापेक्ष है। रीतिवादी कविता के प्रति एक भक्त की प्रतिक्रिया निश्चय ही अर्धचिन्तित होगी किन्तु रम्यवादी सहृदय उसे पढ़कर आत्मविभोर हो जायेगा। सम्भवतः शालिवाहक नवीन जा ने समीक्षा में सहृदयता के समावेश को आवश्यक माना है और देश विदेश के साहित्य की उसी देश की सांस्कृतिक विचारधारा की पृष्ठभूमि में समीक्षा करने पर बल दिया है। प्रत्येक देश की कुछ विचार विशेषताएँ होती हैं। उनको ध्यान में रखे बिना उस देश के साहित्य उस देश की कथा आदि के सम्बन्ध में यदि मत प्रदान किया जाय तो वह एक अगुड बात होगी। किसी देश के साहित्य की आलोचना उस देश के

गुणविशेष की ओर दृक्पान किए बिना का ही नहीं जा सकती।^१ फासीसी समीक्षक टेन ने भी बाव्यालोचन के लिए कवि की जातिगत मनोवृत्तियाँ, सामाजिक राजनतिक परिस्थितियों और काल-रूपा को दृष्टिपथ में रखने पर बल दिया है।^२ दूसरे शब्दों में, यही विषय का प्रामाणिक बाध है।

आधु की भिन्नता भी आलोचना की प्रतिक्रियाओं का भिन्न कर देता है। मुवा ख्या म जो कृति परम प्रिय प्रनात हाती है, यह आवश्यक नहीं है कि बद्धावस्था म भी यह वही ही प्रतीत हा। इन अतिरिक्त स्तर की भिन्नता अथवा विचारधारा म अन्तर हान पर भी आलोचना की प्रतिक्रियाएँ भिन्न हा सकती हैं। अभावा व बीच में पननेवात्र आलाचक, मध्यवित्त आलाचक और सम्पन्न आलाचक का प्रतिक्रिया का समान हाता ओवश्यक नहीं है। मानववादी समीक्षा-मदति व सन्दर्भ म यह स्थिति प्राय उभरती रन्नी है। अतः समझा यह है कि कृति की प्रियता अप्रियता की कसौटी क्या है? इस विषय म केवल इनना ही कहा जा सकता है कि अधिनाधिक सद्बुद्ध-समाज की कृतिविशेष के प्रति जो प्रतिक्रिया है वही प्रामाणिक है। मणि पूर्वप्रहो से मुक्त सवेदनशील व्यक्तिया म म अधिकांश किसी कृति का अल्प घोषित करते हैं तो वह कृति निम्नमूल्य श्रेष्ठ हागी। इसलिए आलोचन की प्रतिक्रिया भी उसी व अनुकूल होनी चाहिए।

(आ) व्याख्या विश्लेषण

कृति से प्रभावित होने के उपरान्त उसकी प्रियता-अप्रियता व कारणों का विश्लेषण आलोचना का द्वितीय अवस्थान है। इसमें लिए आलोचक का काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र का आश्रय लेना चाहिए। आलोचना करते समय आलोचक व सम्मुख चार तथ्य होने हैं—(अ) काव्य का वाह्यारूप (आ) उसमें निहित भाव (इ) कवि की मन स्थिति जिसने आलोच्य काव्य का जन्म दिया (ई) लेखक की समकालीन परिस्थितियाँ जिन्होंने कवि की मन स्थिति का निर्माण किया। आलोचक का कसब्य है कि वह आलोचना में इन सभी अंगों को उचित स्थान दे। काव्य शास्त्र व आधार पर कति व रूप (फारम) का विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्र व आधार पर उसका भावगत मोक्ष का उद्घाटन मनाविज्ञान के द्वारा लेखक की मन स्थिति का विश्लेषण, समाजशास्त्र के आधार पर युगीन परिस्थितियों का वर्णन और कवि पर उनका प्रभाव का विश्लेषण आलोचक का चरम लक्ष्य है। वस्तुतः साहित्य का मूल तत्व तो भाव है किन्तु भावविशेष का प्रियता अप्रियता लगन और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यदि लेखक की परिस्थितियाँ विषम हैं तो उसका काव्य पर उनका प्रभाव अवश्य पडेगा। किन्तु यदि आलोचक इस ओर ध्यान नहीं देता तो वह स्रष्टा के प्रति न्याय नहीं कर सकेगा। उदाहरणतया रीतिवादीन दरबारी वातावरण के कारण ही उस युग व काव्य में शृंगार भावना की प्रचलता भी स्पष्ट करना आवश्यक है। इससे अतिरिक्त कविया

१ क्वासि भूमिका, पृष्ठ १६

२ देविए सिद्धांत और अध्ययन, पृष्ठ ३०१

की व्यक्तिगत परिस्थितियाँ भी भिन्न थीं। अनेक को दरबारी कवि बनना पड़ा किन्तु अनेक कवि राधाश्रय के वाद्यन से सबधा मुक्त थे। जत यदि आलोचक उम मुग की किसी कृति में शृंगार भावना को नष्ट कर उसकी निष्ठा को तो निश्चय ही वह अपने कृत्य से विमुख हो जाएगा। स्पष्टतः शास्त्रा विनियम के ढरम आलोचक के लिए उक्त चारों तत्त्वों का अनुमधान अपरिहार्य है। मनोविज्ञान मुगीन वातावरण आदि के आलोक में साहित्य का अध्ययन करते समय रचनाकार के व्यक्तित्व और रचना के मुग भावक रूप की उपमा नहीं की जानी चाहिए।

(इ) मूल्यांकन अथवा निणय

शास्त्रा विश्लेषण के उपरान्त कृति को समग्रतः दृष्टि में रखने हुए उसके साहित्यिक महत्त्व का आलेखन आलोचना का अन्तिम चरण है। किन्तु, कुछ विद्वानों का मतानुसार आलोचक को निणय करने का अधिकार नहीं है। उसका कार्य तो कृति के सौन्दर्य का उद्घाटनमात्र करना है। किन्तु वास्तव में हम देखते हैं कि जब आलोचक कृति से प्रभावित होता है तभी उसके मन में एक निश्चित धारणा बन जाती है। व्याख्या विनियम में तो उसकी पुष्टिमात्र होती है। अतएव कृति के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते समय आलोचक प्रकारान्तर से उसका महत्त्व को भी निर्धारित कर देता है। इसके अतिरिक्त आलोचक का यह दायित्व है कि वह पाठक तथा कवि का मागदान करे और इसके लिए निणय देना आवश्यक है। गुलाबराय के अनुसार जिस प्रकार सामन के आलाचक सामन को गिथिलता से बचाए रखते हैं उसी प्रकार साहित्य के आलोचक साहित्य में गिथिलता और कुत्सितता नहीं आन देते और उसकी गतिविधि निर्धारित करने में सहायक होते हैं।^१ स्पष्टतः आलोचक को रचनाविशेष के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया अथवा निणय को स्पष्ट रूप में व्यक्त करना चाहिए अन्यथा साहित्य से अप्रिय तत्त्वा का निष्कासन सम्भव नहीं सजगा। किन्तु प्रश्न यह है कि निणय को कौन की सगा ? इसके लिए चार मुख्य तत्त्व उत्प्रेक्षनीय हैं आलोचक पकितगत रचित नतिक मूल्या शास्त्रज्ञान तथा मानवता के शाश्वत मूल्या में से किसी के भी आधार पर निणय द सकता है।

आलोचना की उपादेयता

आलोचना में गुण श्रेय विवेचन के सन्तुलित आधार को महत्त्व दिया जाता है फलतः उसका सबप्रमुख लाभ यह है कि सहृदय को साहित्य के प्रामाणिक अनुशीलन की सुविधा प्राप्त हो जाती है। निस्सग भाव से की गयी आलोचना और मूल रचना के एक साथ अनुशीलन से पाठक को जोध-वर्ति तथा जनरुचि का निश्चय ही परिष्कार हागा वचाकि उक्त माध्यम में साहित्य का प्रसार और असत साहित्य का बहिष्कार किया जाता है। वस्तुतः आलोचना पाठक को बोद्धिन सजगता प्रदान करके उसकी निणयात्मक

शक्ति का प्रबुद्ध करता है। फलतः कृतिविशेष की मम्यक समाप्ता से सहृदय को न केवल रस-ग्रहण में मुविधा रहती है, अपितु उसका माहित्यविषयक जिज्ञासा भी बढ़ती है।

उत्तम आलाचना से आनाच्छ कृति के लेखक को भी उत्साह और शिक्षा की प्राप्ति होती है। सम्भवतः इसलिए भारतन्दुयुगीन पत्रिका आलोचनात्मिकता के पुस्तक-समीक्षा-खण्ड में यह मिद्वान्त-वाक्य प्रकाशित किया जाता था समालाचना अर्थात् गुण गाना दोष दिखाना और मोक्ष निघाना। इस उक्ति के सुन्दर म स्वभावतः यह जिज्ञासा ही मकती है कि क्या उपलक्षण आनाच्छक बौद्धिक अहम्पयता से विलग रह सकता है? दूसरे शब्दा में, इस बात का पदाप्त-सम्भावना द्विज आलाचक द्वारा माहित्यकार के अन्तर्लोक की उपसा हो जाए अर्थात् कृति के प्रति मवन्नापूण दृष्टिकान मही अर्थों में न उभर सक। ममाधानस्वरूप केवल यही कहा जा सकता है कि आनाच्छक की रचना के प्रामाणिक अद्ययन के उपरान्त ही उसका विषय में अभिमत प्रकट करने का अधिकार होना चाहिए। प० कृष्णविहारी मिश्र ने इस कोटि की आलाचना को माहित्य विवद्वन में सहायक माना है। यथा 'निष्पत्तपात भाव स किमी वस्तु के गुण-रूपणा की विवेचना करना ममालाचना है। इस प्रया के ज्वलम्बन से उत्तम विचारा की पुष्टि तथा बद्धि होती रहती है।^१ कारण स्पष्ट है—समीक्षक द्वारा धेष्ट और माधारण कृतियों के गुण-दोषा का निधारण उसे उनके ग्रहण जयवा त्याग की प्ररणा देना है। इन उद्देश्य की सिद्धि के लिए कृतिविशेष का उमा विषय में सम्बद्ध अय रचनाओं स तुननात्मक अनुगीतन भा किया जाता है। भारत-दुयुगान कवि आनाच्छकों में प्रमधन न आनाचना से प्रथकर्ता को प्राप्त हानवाली विचार प्रौढि के साथ ही उम प्राप्त-प्रयण की आर भी सवेत किया ह।^२ किंतु इस आलोचना का गौण प्रयाजन ही स्वोकार करना हागा।

उपयुक्त अनुच्छेद में स्पष्ट है कि आनाचना स आलोच्छ कृति के लेखक का उत्साह विचार प्राप्ति रचनागत विचारा जयवा गिनय का सुविकसित करण की प्ररणा पण आत्ति विविध पना-का प्राप्ति हाती है तथा पाठक का बोध-वृत्ति का भी परिवार हाता है। मावहारिक आलोचना की इस उपायता के अतिरिक्त सद्धान्तिक आनाचना द्वारा भी आलाचन लेखक का मागदगन करता है। गुलावराय णी ने रचनागत भाव सौदय के आम्वादन की प्ररणा और सुविधा देन में आलोचना की सायकता मानी है। उनका मत है कि कवि का कृति का समी दष्टिवाणा स आस्वादक पाठक को उस प्रकार के आम्वात्त में सहायता देना^३ उसका मूत प्रयोजन है। सहृदय का रस-ग्रहण का क्षमता का परिवार करन के लिए आलोचक उमना सवेत्नाभा को जागत करता है और उमे रचना से माधारणाकरण की प्ररणा णता है। इसलिए निरर ने आलोचना को सौन्दर्य प्ररित रणो पर बन देने हुए उसे भावक को आनन्द-बोध करानवाला गवित्त कहा है। आलोचना का प में प्रबुधत बोधल का रक्ष्य उद्घाणित करता है उम माग का भेद

१ देव और विहारी पृष्ठ २८

२ देखिए प्रमधन-नयस्य भाग २ पृष्ठ ४४६

३ मिद्वान्त और अद्ययन पृष्ठ २६१

है जिम पर चलकर कवि न अपने भावा को अभिव्यक्त किया है अपनी कविता प्रभाव वा चमत्कार उत्पन्न किया है। इसलिए रचनारमक आलोचना के अपने से पाठक की आनन्दप्राहिणी योग्यता का प्रमाण होता है।^१ अतः यह स्पष्ट है कि आलोचना पाठक का बोध वृत्ति और रस ग्रहण की क्षमता का परिष्कार करके उभय आनन्द प्रदान करती है।

उपयुक्त आत्म में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ आलोचक समीक्षा तथा साहित्य रचना के नियमों को स्तना जटिल बना देते हैं कि साहित्य विकास में गल्प रोध आ जाता है। इस विषय में डा. रामकृष्ण वर्मा का सुभाष मन्त्ररूप है आदर्शवता रस वात की है कि साहित्य की समीक्षा करने के लिए जो भी नियम या सिद्धांत बनाये जायें वे इतने प्रापक और लचील हों कि साहित्य का विकासो-मुम्भी प्रवृत्ति व अनुरूप के स्थानांतरित होना हुई दृष्टि का अपने में समाहित कर सकें।^२ इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ विनिष्ट अवस्थाओं में पाठक मूल रचना का अनुमान न करके तदविषयक आलोचना से ही संतुष्ट हो जाता है अतः आलोचना विधि में यह विशेषता होनी चाहिए कि उसमें मूल वृत्ति व अध्ययन की प्रेरणा मिले।

आलोचक से अपेक्षाएँ

आलोचना को उपयुक्त दिशाओं में फलवती बनाने के लिए आलोचक से अनेक गुणा की अपेक्षा होती है। आलोचक का सर्वप्रमुख गुण यह होना चाहिए कि वह आलोचना वृत्ति के प्रतिपाद्य को हृदयगत करके अपनी संवेदनात्मक प्रवृत्ति के अनुरूप वृत्तिकार के साथ साक्षात्सम्बन्ध स्थापित करे। इसके लिए उसे व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों का त्याग करके पूर्णतः निरमल भाव से समीक्षा करनी चाहिए क्योंकि लेखक की अनपेक्षित स्तुति तथा अमूलक निन्दा समान रूप से अनिर्भरीय है। कभी कभी आलोचक अपनी विनिष्ट अभिवृत्ति व अस्वरूप लेखक की धारणाओं से असहमत रहकर 'याय' नहीं कर पाता। इसका फल यह होता है कि लेखक के प्रति सहृदयता अथवा सहानुभूति व अभाव के कारण वह साहित्य के मर्म को उदघाटित करने में गवथा असमर्थ रहता है। सर्वोपेक्षित आवेपण की प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष में आलोचक का धर्म नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की यह उक्ति प्रसिद्ध है 'मित्रता के कारण किसी का पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन तन्त्र व सिवाय और कुछ नहीं। ईर्ष्या दूष अथवा गुरु भाव व बर्गीभूत होकर किसी की वृत्ति में अमूलक दोषादभावना करना उससे भी घुरा काम है।

१ नील कुमम दो शब्द पृष्ठ १

२ साहित्यशास्त्र दृष्टिकोण पृष्ठ २

३ विचार दिग्गज पृष्ठ ४५

आलोचना के क्षेत्र में हम दक्षिण की साथ-साथ महज स्पष्ट है। राजनेत्र ने इस प्रकार के समीक्षकों को मत्स्यी आलाचक कहा है क्योंकि वे कवि प्रतिभा का दखकर भी नहीं देखना चाहते और गण कथन के विषय में मौन रहते हैं मत्सरिणस्तु प्रतिभा तमपि न प्रतिभान परगुणेषु वाचयन्त्वान् ।^१ पांचाल्य आलोचक म इलियट ने भी आलोचना में निष्पक्ष भाव पर बल देते हुए कहा है 'आलोचक को व्यक्तिगत पूर्वाग्रह तथा विविध धारणाओं से पथक् रहना चाहिए।'^२ साहित्यस्रष्टा और आलोचक में प्रतिस्पर्धा का भाव साहित्य की स्वस्थ रचना के लिए विघातक होता है। सम्भवतः इसीलिए बालमुकुन्द गुप्त ने आलोचक को निम्नलिखित गणना में कतव्य-सजगता का प्रेरणा दी है आलोचक में केवल दूरगो की आलोचना करने का सट्टस ही न होना चाहिए वरन् अपनी आलोचना दूसरों से सुनने और उसकी तीव्रता सहन की हिम्मत भीहानी चाहिए।^३ वस्तुतः समीक्षकों को जालोच्य कृति में मुख्यतः जीवन-व्याख्या के स्वरूप का अन्वेषण करना चाहिए। रचना के मर्म का उद्घाटन करने के लिए यह अनिवार्य है कि आलोचक, समाज के लिए उपयोगी आत्माओं के प्रति उसके लेखक की सजगता का अध्ययन करते हुए स्वयं भी जीवन से अनुप्रेरित रहकर कृति की समीक्षा करे।

आलोचना क्या अथवा विज्ञान

आलोचना की वनानिक पद्धति और रसमर्मों साहित्य से उसके सम्बन्ध पर विचार करने पर यह प्रश्न उठता है कि आलोचना मूलतः क्या है अथवा विज्ञान ? विज्ञान की समीचीन पर क्रमों पर हम देखते हैं कि वनानिक के लिए जिम वस्तुनिष्ठ दृष्टि, व्यवस्थित तर्कसम्मत विवेचन तथा नियमों की स्थापना की अपेक्षा रहती है, उन सबसे सम्पन्न होना आलोचक के लिए भी आवश्यक है। उसे पूर्वाग्रह मुक्त होकर तटस्थ भाव से कृति का अध्ययन करना चाहिए। कृतिविशेष की समीक्षा करते समय उस एक ओर इस बात पर ध्यान देना होता है कि पाठक उससे रस-ग्रहण कर सके और दूसरी ओर तथ्या की स्थापना करते समय वनानिक की भांति कारण भी देने पड़ते हैं। उदाहरणतया यदि यह कहे कि नयी कविता में बुद्धिवादिता व्यक्तिवाद आदि विशेषताएँ प्रमुख हैं तो उसे यह सिद्ध करने के लिए प्रमाण देने पड़ेंगे। व्याख्या वितरण के उपरान्त जिस प्रकार वनानिक अपने मर्म की घोषणा करता है उसी प्रकार आलोचक भी आलोचना के अन्त में वण्य विषय के सम्बन्ध में अपनी धारणा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार तथ्या का सफलन, वर्गीकरण वितरण कारण-नाय शृंखला का अनुसरण आदि आलोचना के तत्त्व वनानिक पद्धति के अनुरूप हैं। आलोचना का एक सत्य ज्ञान की वृद्धि भी है जिससे वह विज्ञान के और भी निकट हो जाती है।

१ काव्य मीमांसा पृष्ठ ३३

२ 'The critic should endeavour to discipline his personal prejudices and cranks
—The Function of Criticism

३ गल्प नियमशास्त्री, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६६

स्वभावतः यहाँ यह जिनासा होगी कि क्या आलोचना मात्र विज्ञान है ? उत्तर स्पष्ट है—उसमें सजनात्मक साहित्य व रगाति तत्त्व भी उपलब्ध रहते हैं। इसका कारण यह है कि आलोचना व माध्यम में आलोचक अपने आत्मतत्त्व का अभिव्यक्ति करता है और कृति को परखन व लिंग उमका दृष्टिकोण भी व्यक्तित्वगत रहता है। इसलिए कतिबिधों की विभिन्न आलोचना शरार की गई गमाथा में भिन्नता दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त आलोचना का चरम उदय में कृतिगत रग का गवगुनभ करना है। आलोचक कृति की यादया करके उमके मीदय व उपादन शरार बाध्यगत रग को सहृदय तव पहुचाने में सहायक सिद्ध होता है। नानवदन तो उका मगयन उ, य है मुख नही। वस्तुत आलोचक भी एक महत्त्व पाठक है वह अय महत्त्व व ममान ही कृति का रसास्वादन करता है। उसकी मीदय दृष्टि वानिव व ममान नीरग नरा होनी। अत यह स्पष्ट है कि आलोचना न ववल विज्ञान है और न ववल बना। उका पद्धति विज्ञान के निकट है तो नश्य बना व निकट। अमीलिए आनाक रचना में दृष्टि चिरतन जीवन सरय की राज में ही मातुष्ट न होकर लगव व सौत्य-बोध का भा दृष्टि में रखता है।

आलोचना क प्रकार

जिस प्रकार काय शत्र में समय समय पर विभिन्न प्रवृत्तिया का उदय होता रहा है उगी प्रकार दृष्टिकोण भेद से आलोचना व भी विविध भणोपभन्त है। वस्तुत आलोचना के रूप साहित्य की विकास धारा पर अवलम्बित रहत है और इसीलिए युग की माग के अनुरूप नवीन आलोचना गतिया का प्रादुर्भाव होता रहता है। उपाहरण स्वरूप प्रभाववाणी समीक्षा का उत्य छायावाणी कविता की पष्ठभूमि में हुआ मावसवादी समीक्षा-पद्धति प्रगतिवादी साहित्य का तन है और नयी समीक्षा के मूनमनया कविता नयी कहानी आदि के आगलन है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि आलोचना व विविध रूप सिद्धातन भिन्न होने पर भा नश्य की उपनय की दृष्टि से अतत एक ही वक्त में आ मितते हैं। उनमें तीव्र अतविरोध की प्रवृत्ति कम लक्षित होती है सहयोग के मून ही अधिक जाति रहते हैं।

आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तिया का मूनत दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—सद्धान्तिक आलोचना और व्यावहारिक आलोचना। सद्धान्तिक आलोचना के अन्तगत वाच्यशास्त्रीय मूल्या व निधारण के अतिरिक्त साहित्य की विविध विधाओं के स्वरूप का विवचन भी प्रस्तुत किया जाता है। व्यावहारिक आलोचना व अन्तगत आने वाली शास्त्रीय आलोचना पद्धति मूनत सद्धान्तिक आलोचना पर ही निर्भर रहती है। व्यावहारिक आलोचना क रूप में प्रमावात्मन आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना और निष्पात्मक आलोचना उल्लेखनीय हैं। इनमें से व्याख्यात्मक आलोचना को शास्त्राय आलोचना मनोविज्ञानपात्रक आलोचना एतिहासिक आलोचना मावसवादी आलोचना धरितमक आलोचना आदि क रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। अनुगधान परक समीक्षा नयी समीक्षा आदि आलोचना की अन्य प्रमुख पद्धतियाँ हैं जिन्हें साहित्य

के विभिन्न विकास क्रम के साथ साथ प्रमुख अथवा गौण स्थान प्राप्त होता रहता है।

सद्धान्तिक आलोचना

सद्धान्तिक आलोचना के अंतर्गत साहित्य के कविता नाटक निबंध आदि विविध रूपा की रचना के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण और विवेचन किया जाता है। इसके लिए आलोचक एक आर रचनात्मक साहित्य के गुण-दोषादि के आधार पर सिद्धांत निरूपण करता है। दूसरी ओर उपलब्ध साहित्यशास्त्र से लाभान्वित होना है और तीसरी ओर नवीन साहित्य धाराओं (छायावाद नयी कविता आचलिक उपयाम आदि) के विषय में लेखकों का धारणाओं से प्रेरणा ग्रहण करता है।^१ किसी एक भाषा में विद्यमान सद्धान्तिक आलोचना विषयक ग्रन्थों से अन्य भाषाओं की काव्यशास्त्राय रचनाओं का प्रभावित होना भी नवव्या स्वाभाविक प्रक्रिया है। उदाहरणार्थ हिन्दी काव्यशास्त्र मुख्य रूप से संस्कृत-आचार्यों का श्रेणी है किन्तु पाश्चात्य साहित्यशास्त्र से भी पर्याप्त प्रेरणा ली गयी है। वस्तुतः आलोचना का यह रूप ही व्यावहारिक आलोचना का मुख्य आधार है और इसी के द्वारा व्यावहारिक आलोचना के विविध रूप अनशामित होते हैं। सद्धान्तिक आलोचना द्वारा निर्धारित मानदण्ड युक्त परिस्थितियाँ और काव्य प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित होत रहने चाहिए। यथा उनका आधार पर का गयी आलोचना दोषपूर्ण हो जाती है। उदाहरणतया अत्याधुनिक साहित्य की आलोचना करने के लिए यदि ऐतिहासिक आलोचना-मानकों का कसौटी के रूप में प्रयोग किया जाए तो हमने निश्चय ही वर्तमान साहित्य के प्रति योग्य नहीं हो पाएगा। स्पष्टतः सद्धान्तिक आलोचना की श्रेष्ठता सजनात्मक साहित्य की धरतल पर अतिरिक्त है क्योंकि उल्लूक साहित्य की रचना के पश्चात् ही उसकी आलोचना के मानदण्ड निर्धारित किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, आलोचक द्वारा रचना सिद्धान्तों का निर्धारण कौरी कल्पना का दान नहीं है उनके मूल में सजनात्मक साहित्य की प्रवृत्तिबद्ध गवणना रहती है। यहाँ यह भा उल्लेखनीय है कि चिंतन की गम्भीरता का कोई अन्तिम आयाम नहीं होता फलतः एक ही विषय पर प्रायः अनेक गम्भीर काव्यशास्त्रमय ग्रन्थों की रचना सहज सम्भव है। कन्हैयालाल पोद्दार की रंग मञ्जरु डा गुलाबराय की नवरस आचार्य गुप्त का 'रस-मीमांसा', डॉ० नगेश की रस सिद्धान्त आदि कृतियाँ रस सम्बन्धी इसी प्रकार की उचित की गवेषणात्मक रचनाएँ हैं।

व्यावहारिक आलोचना

आलोचना की एक प्रणाली के अंतर्गत सद्धान्तिक आलोचना द्वारा निश्चित किए गए सिद्धान्तों का कसौटी पर प्रतिविम्ब अथवा साहित्य की प्रवृत्तिविषय का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है। साहित्यिक आलोचना के आधारभूत तंत्रों तंत्रों—प्रभाव ग्रहण व्याख्या तथा निष्कर्ष—के आधार पर इस आलोचना के तीन भेद

१ इतिहास आपत्तिक हिन्दी-कविता के काव्य सिद्धान्त' पृष्ठ ५६१-५७४

किए जा सकते हैं—प्रभावात्मक आलोचना व्याख्यात्मक आलोचना और निगमात्मक आलोचना । इन आलोचना प्रणालियों की अपना अपनी आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें कहा कही एकरूपता भी अभिन्न ज्ञाना है । इन प्रवृत्तियों तथा सद्भावितक आलोचना क अन्तर्गत प्रस्थापित सामान्य सिद्धांतों क आधार पर व्याख्यात्मक आलोचना में मूलतः आत्मक साहित्य की विशेषताओं का विवेचन विशेषण और मूल्यांकन किया जाता है । आगे हम इनके स्वरूप पर भेदापभेद सहित विचार करण ।

प्रभावात्मक आलोचना

प्रभावात्मक समीक्षा मूलतः यत्ननिष्ठ आलोचना है जिसमें प्रतगन उन प्रभावा का आकलन रत्ता है जो कृतिविषय के अध्ययन में आलोचक के मन पर आगत होते हैं । इसके अंतर्गत आनाचक रचनाविषय क सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया का जो प्रमुख मानना है आलोचक आलोचना क उपादान यहाँ अपना मन्त्रत्व को बढत है । इस प्रकार यह आलोचना पद्धति जहाँ एक ओर अभिक स्वाभाविक प्रतीत होती है वहाँ दूसरी ओर यत्ननिष्ठ रचि का प्रधानता होने से इसमें पतापत की भी सम्भावना रहती है । वस्तुतः आलोचक का रचिया पर उसकी आय मस्कारा तथा मनाशा का आन्वयन रहता है । अतः कवल रचि का आधार लेकर जो आलोचना की जाएगी वह निश्चय ही आलोच्य विषय के साथ पूरा याम नहा कर पाएगी । यद्यपि बुद्धि अथवा तर्क को अपेक्षा हृदय अथवा भावा को प्रमुखता देने क कारण आलोचना का यह रूप सम्मान योग्य है किन्तु इसमें सद्भावितक दृष्टिकोण का जो अभाव रहता है उसका सराहना नहीं की जा सकती । हिरी आलोचका में आतिप्रिय विवेकी इस गती क मुख्य समीक्षक हैं । उनकी रचनाओं का अनुगोचन करने पर प्रभाववादी समीक्षा की दो विशेषताओं को महज ही लक्षित किया जा सकता है—(अ) उन्होंने आलोच्य रचना क विषय में अपनी सवन्तमानता अथवा अतः प्रवृत्ति को ही प्रमाण माना है परम्परागत काव्य सिद्धांतों में बढ समीक्षा-दृष्टि को वे उनका महत्त्व नहीं देते । (आ) आलोचना में बन्धुनिष्ठ दृष्टि क ज्ञानो न होने क कारण उन्होंने भाव मयदान अर्थात् निजी अभिरुचि का महत्त्व दिया है अतः उनकी समीक्षा गली में लालित्य की सहज यान्ति भिन्नती है । प्रभावात्मक समीक्षा-पद्धति की इन दोनो विशेषताओं पर विज्ञाना ने कुछ आक्षेप भी किया है । पन्ना आक्षेप तो यह है कि विभिन्न आलोचकों की व्यक्तिगत अभिरुचियाँ भिन्न हो सकती हैं अतः यदि अनेक समीक्षक इसके प्रति जास्यावाग हा तो किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों क अभाव में उनकी प्रतिक्रियाएँ अवाञ्छित रूप में भिन्न होंगी । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि मन्त्रत्व होने क जाने ऐसे मभा समीक्षा की अन्तर्वृत्ति परिष्कृत गणा जिससे उनका मन्त्रत्व में विरोध का समाधान नहीं हो पाएगा किन्तु इस तर्क से उपपन्न समाधानों को गवया अस्वीकार नहीं किया जा सकता । दूसरा आक्षेप यह है कि परम्परीय साहित्य सिद्धान्तों के प्रति अभाव न होने क अन्तर्वृत्ति प्रभावात्मक समीक्षा में आलोच्य क विमुखता की सम्भावना मन्त्र विद्यमान रहती है । इस आक्षेप का भी निराकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रभाववादी समीक्षक एक प्रकार से सजना

त्मन माहित्यवार की भूमिका का निर्वाह करन लगता है जिसमे उसकी रचना में कलात्मकता तो आ जाती है किन्तु उसके निष्कर्षों का औचित्य गंवास्प हो जाता है।

व्याख्यात्मक आलाचना

आलोचना के इस रूप के अंतगत आनाच्छ कृति के अध्ययन-मनन के उपरांत उमक भावगत और गलागत मीदय का तत्स्य भाव म उद्घाटन किया जाता है। त्मम जालोचक अपनी आर स बोड निणय न देकर रचनागत प्रवर्तिया के अनुम-गान और व्याख्या विन्नेपण की प्रवृत्ति अपनाता है। त्म आलोचना गली म आलोचक की निजी प्रतिक्रियाआ को महत्त्व न देकर प्रतिपाद्य के वनात्मक परी ण पर उन किया जाता है अन कवि के साथ भी पूरा ग्याय होता है और जालोचना भी अधिक् विश्वसनाम तथा रोचक प्रतीत होती है। इसम समीक्षक की ओर मे व्यक्तिगत पूर्वाग्रहा को महत्त्व नहीं दिया जाता और न ही इसम आत्माभिध्यजक समीक्षा प्रणाली का आधार लिया जाता है। रचनागत उद्देश्य को ध्यान म रखते हुए इसम काव्यशास्त्र मनाविनाम मीत्यशास्त्र आर समाजशास्त्र म यथास्थान साम उठाया जाता है। इस आलाचना पद्धति को पांच वर्गों म विभक्त किया जा सकता है—शास्त्रीय आलोचना मनोविश्लेषात्मक आलोचना ऐतिहासिक आलोचना माकषवादी आलोचना और चरितमूलक आलोचना। आलोचना के ये सभी रूप प्रवर्तित विभिन्नताया के होन पर भी इस दृष्टि स एक ही नदय की ओर प्ररित हैं कि इनम काव्यशास्त्र आदि विद्याआ क कुछ विगेष सिद्धान्ता का निर्वाह होने पर भी रचनागत मूल्या की सोज और उनके उपयुक्त विन्नेपण पर बल किया जाता है। वस्तुत व्याख्यात्मक आलाचना म न तो प्रमावात्मक समीक्षा की भांति व्यक्तिगत अभिचि क आधार पर प्रभाव-ग्रहण रहता है और न निणयात्मक आलोचना की तुलनामूलक गली अपनायी जाती है। अनुमधानपरक दृष्टि पूर्वाग्रहमुक्त विन्नेपण समीक्षा क प्ररक सिद्धांता की विकामगीनता म जास्था भद-बुडि का प्रोत्साहन दनदाल तुलनात्मक मूल्यारवन म अनास्था—य चार तत्त्व व्याख्यात्मक समीक्षा क मूल सापान हैं। आग हम शास्त्राय आलोचना प्रमृति उमन उपभेदा पर श्रमण विचार करेगे।

शास्त्रीय आलोचना

शास्त्रीय आलोचना क अन्तगत आलाच्छ कृति की विषयवस्तु जीर गैती को काव्यशास्त्र की कमीटी पर परला जाता है। इसमें रचनागत त्म भाव जमकार भाषा गली भांति की शास्त्रीय दृष्टिकानम व्याख्या पर बल रहता है। इस पद्धति म यह दाप है कि यह कृति जयवा कलाकार क वगिण्य की उपगा करती है। त्मम कुछ पूव निधारित शास्त्राय नियमा की कमीटी सकर सभी कृतिया को समान धरानल पर परगा जाता है। पनस्वरूप आलाचना म हात्मिकता की अपगा जटिलता क समावण की सम्भावना रहती है। अत शास्त्रीय आलोचना को जस्यधिक नियमबद्ध और रूठ होन म बधाना चाहिए। इस गन का मदात्मिक आलाचना म भाषा मन्व घ है। यति काव्य

शास्त्र की सजनात्मक साहित्य के सद्बन्ध में पुनः पुनः परखा जाना रह तो नियमा की जटिलता का प्रश्न ही नहीं उठता । शास्त्रीय आलोचना पर एक अथ आशय यह किया जाता है कि इसमें अनुसंधान की भाँति तथ्य निर्धारण की प्रवृत्ति मिलती है जिसमें गली में हादिकता तथा लालित्य का उपयुक्त समावेश नहीं हो पाता । यह आशय तर्कमय है क्योंकि शास्त्रीय समीक्षा में मुख्यतः इस बात पर बल रहता है कि आलोच्य कृति में सवस्वीकृत साहित्य सिद्धान्तों का किस सीमा तक निर्वाह किया गया है । यह बाप एक प्रकार से तथ्यानुसंधान की रणनीति का ही होता है फलतः समीक्षक की दृष्टि भाव सवेष्टना की अपेक्षा तथ्यों की स्थापना पर अधिक रहता है । उदाहरणार्थ जगन्नाथ प्रसाद के काव्य का मूल्यांकन करने समय वत् कल्पना की मनोरमता व प्रति उनका आच्छादन होगा जितनी कि उसकी दृष्टि इस बात पर केन्द्रित होगी कि प्रसाद न रस के अवयवों भाषा-संरचना के नियमों अलंकारों तथा छन्दों की कितनी सफलता व साथ प्रयुक्त किया है । वषय विषय व प्रति भावकतापूर्ण दृष्टिकोण उसक मन में तभी उभर पाया जब व इस सम्बन्ध में आश्वस्त होगा कि इन नियमों का अधिकारिक वानिर्दिष्ट रग में निर्दिष्ट किया गया है । इस स्थिति के अभाव में उम रचनागत दोषों की खोज करने में सकोच नहीं होगा । अतः यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय समीक्षा में प्रभाव सर्वत्र आत्माभिव्यक्ति कलात्मकता आदि का एकांत बहिष्कार न होने पर भी उन्हें सद्धान्तिक आलोचना से अनिवाद्यत अनुशासित रखा जाता है । किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि युगविद्युत की कृति व समीक्षण में उम युग की सद्धान्तिक दृष्टि की ही प्रमुखता रहनी चाहिए । द्विवेदीयुगान् कविता के मूल्यांकन के लिए केवल छायावादी काव्य म्या को ही आधार स्वरूप ग्रहण करना अथवा भारते दुयुगीन नाटका की रगमचीय साधकता पर वर्तमान कालिक रगमच की उपलब्धियों के प्रकाश में विचार करना निश्चय ही अतिवाद होगा ।

मनोविज्ञान-पाठमक आलोचना

मन आलोचना-पद्धति का लक्ष्य लेखक के मन स्तरों का ज्ञान वण करना है । जिस प्रकार प्रभावत्मक आलोचना में आलोचक पर पढ़नेवाले मन प्रभाव का विश्लेषण रहता है उन्ही प्रकार मनोविज्ञान-पाठमक आलोचना में कृतिकार के मन की पान्या रहनी है । इस समीक्षा-पद्धति के अन्तर्गत आलोचक द्वारा नरक के प्रविष्टि की परि वेण (समक की समकालीन सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों) का सम्यक अध्ययन किया जाता है और रचनागत विषयताओं व मूल्यांकन के लिए सम कालीन चानावरण का पृष्ठभूमिवत् आश्रय लिया जाता है । इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि साहित्य अथवा रग मानसिक प्रथिया की अभिव्यक्ति है और मनोविज्ञान मानक की मानसिक प्रथियाओं का विश्लेषण करनेवाला शास्त्र है । अतः मनोविज्ञान-पाठमक आलोचना में आलोचक उमन की मानसिक प्रथियाओं का विश्लेषण करते हैं उसकी मन स्थितियों तक पहुँचने का प्रयत्न करता है । फ्रायड एडलर और युग य तीन प्रसिद्ध मनोविज्ञान-शास्त्री हैं जिन्होंने क्रमशः दमित वासना की अभिव्यक्ति हीन प्रथिया से विमुक्ति और जावित रहने की तीव्र इच्छा का मानक की मूल प्रवृत्तियाँ माना है और

क्रमगन्धी को साहित्य की मूल प्रेरणा स्वीकार किया है। आलोचक अपनी मायताओं के अनुसार इन्हीं मूल प्रवृत्तियों के आधार पर कृति का विश्लेषण करता है और लेखक की मानसिक शक्ति अथवा प्रक्रिया को पकड़ने की चेष्टा करता है। इस प्रकार मनो-विश्लेषणवादी आलोचक यह मानकर चलता है कि काव्य में जिन भावनाओं को कवि ने अभिव्यक्त किया है उन्हें वह स्वयं यथाय जीवन में भोग चुका है। इसलिए आलोचक सदा कवि की व्यक्तिगत परिस्थितियों का अध्ययन विश्लेषण करके उसकी रचनाओं में इनके प्रभाव को खोजने का प्रयत्न करता है। किन्तु इस आलोचना-पद्धति का मुख्य दोष यह है कि एक ओर तो यह आलोचक की व्यक्तिगत शक्ति का प्रथम देती है और दूसरी ओर सदा क जीवन की व्यक्तिगत घटनाओं के उद्घाटन द्वारा समाज में सम्पन्न उत्पन्न करती है। फिर यह आवश्यक भी नहीं है कि कृति में व्यक्त किए गए सभी भावों का भोग कवि ने वास्तविक जीवन में भी किया हो। अतः मनोविज्ञान को आलोचना का एक महत्वपूर्ण आधार तो मान सकते हैं किन्तु आलोचना की एकमात्र कमी नहीं है।

ऐतिहासिक आलोचना

जब किसी कृति की आलोचना युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में की जाती है तब उसे 'ऐतिहासिक आलोचना' की संज्ञा दी जाती है। इसमें कृतिविशेष के मूल्यांकन के लिए वास्तविक राष्ट्रीय परिस्थितियों को अलग-अलग मानक के रूप में ध्यान में रखकर युगधर्म के निर्वाह पर भी ध्यान दिया जाता है। यह दृष्टिकोण ठीक ही है क्योंकि लेखक के भावों और विचारों का हृदयगत रूप से युगीन परिस्थितियों का सम्बन्ध रहना जाना चाहिए। विश्लेषण में सर्वांगीणता पाने के लिए इस समीक्षा-पद्धति के अंतर्गत तुलनात्मक आलोचना का भी आधार लिया जाता है अर्थात् साहित्य की प्रवृत्तिविशेष में लेखक के योगदान का ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार विश्लेषण किया जाता है। इससे अलग-अलग इस बात का खोज पर चल रहा है कि युग और साहित्य परस्पर किस रूप में सम्बद्ध हैं और एक-दूसरे का किस प्रकार प्रभावित करते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना में युग-घटना की पृष्ठभूमि को सर्वोपरि महत्व दिया जाता है। किन्तु इस आलोचना-पद्धति का प्रमुख दोष यह है कि इसमें व्यक्ति की उपेक्षा हो जाती है। कवि अपनी रचना से समाज का किस प्रकार प्रभावित करता है इस तत्त्व की ओर इसमें प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता।

भावगत आलोचना

भावगत अथवा समाजशास्त्रीय समीक्षा ऐतिहासिक आलोचना का ही एक विकसित रूप है। भावगत आलोचना में समस्त सामाजिक सम्प्रदाय अथवा क्रिया-प्रक्रियाओं के मूल में अन्वेषण तथा स्वीकार किया जाता है। वस्तुगत की परिवर्तनशीलता के साथ साथ अन्वेषण भी निरन्तर रूप में परिवर्तित होती रहती है। परिणामतः अन्वेषण के उपजीवा साहित्य और जीवन-दृष्टि में भी तदनुसार परिवर्तन हो रहे हैं।

माकसवादी आलोचक इसी बदलती हुई अथ "यवस्था और आत्मक भौतिकता" के परि-
 प्रक्षय में साहित्य का अनुशीलन करता है। उसकी दृष्टि समाज के आधिपत्य वषण्य पर
 केन्द्रित रहती है। यह सबहारा वग के प्रति सहानुभूति रखते हुए यह गोज करता है कि
 समीक्षाए रचना में उनकी समस्याओं और पजीवानी वग से उनका सघप की किस रूप
 में अभिव्यक्ति हुई है? वह केवल ऐसी रचनाओं को सत्साहित्य मानता है जिनमें पुत्रावा
 का सगक्त विरोध है और श्रमिका की समस्याओं के अतिरिक्त उनके पश्विम उत्थाम
 और सामाजिक व्यवहार की अभिव्यक्ति हो। किन्तु पूर्वाग्रहप्रति होने के कारण यह
 समीक्षा पद्धति विरोध लो-प्रिय न हो सकी। माकसवादी आलोचक साहित्य में समाज का
 केवल साम्यवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने पर बल देते हैं जिससे फलस्वरूप व जीवन
 की जय उदात्त चतताओं की सराहना नही कर पाते। नतिन आत्मों अध्यात्म-दान
 जीवन के निष्पन्न रसात्मक भावन आदि के प्रति उनके मन में सहज उपेक्षा रखा है
 फलतः उनके दृष्टिकोण में व्यापकता नही आ पाती। वे साहित्य में आत्माभिव्यक्ति के
 सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते और सामाजिक यथाव की अभिव्यक्ति को ही प्राप्ति
 गीयता की कसौटी मानते हैं। इस एकांगी मनोवृत्ति के फलस्वरूप माकसवादी समीक्षा
 का आलोचना की प्रतिनिधि गली नही कहा जा सकता। यदि समाजशास्त्रीय आधार
 पर प्राप्त निष्कर्षों का प्रभावार्थक समीक्षा और मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की विशेष
 ताओं के अनुसार प्रगमत्याकन कर लिया जाए तो उपयुक्त अभावा की पूर्ति हो सकती
 है।

चरितमलक आलोचना

इस समीक्षा पद्धति को एक ओर ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली से सम्बद्ध माना
 जाता है और दूसरी ओर इसके आधिर्भाव में मुख्यतः मनोविश्लेषणात्मक आलोचना और
 सामाजिक प्रभावार्थक आलोचना के प्रभाव-सूत्रा की खोज की जाती है। किन्तु इसे
 उक्त पद्धतियों की अगभूत प्रवृत्ति न मानकर यथात्र तय से विकसित समीक्षा रूप कहना
 ही उचित होगा। इसमें क्रियाविषय की समीक्षा के पूर्व उसके लेखक के मानस विश्लेषण
 पर ध्यान दिया जाता है। इससे लिए एक ओर ऐतिहासिक आलोचना की पद्धति से लेखक
 पर युग-जीवन के प्रभावों की खोज का जाता है दूसरी ओर मनोविश्लेषणात्मक आलोचना
 पद्धति से उसके मन विकास को समझने का प्रयत्न किया जाता है और तीसरी ओर
 प्रभावार्थक समीक्षा विधि से उसके व्यक्तित्व के प्रति भावुक दृष्टिकोण अपनाकर उसकी
 दृष्टिमा से सामजस्य स्थापित किया जाता है। दूसरे गों में इसके अन्तगत लेखक की
 जीवनी के सन्ध में उसकी अन्तवृत्तियाँ और विचारधारा के अध्ययन को प्रमुखता दी
 जाती है। गद्यप्रमाण पाठ्यकी महाप्राण निराशा और जमतराय की कलम का सिपाही
 हम लोगों की सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं। रचनागत आभावर्ण और विचारधारा पर लेखक के
 व्यक्तित्व और जीवन-वन का कहीं तक प्रभाव है इसकी खोजपूर्वक स्थापना करना इस
 समीक्षा पद्धति का मुख्य ध्येय है। मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की तलना में इसकी विशि
 ष्टता यह है कि इसमें मन-धरा के अन्तवृत्तियों की उपेक्षा लेखक की जीवन घटनाओं के

सामग्र्य पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार इसमें जीवन वर्णों का वर्णन ऐसे वृत्त वक्ष का रूप न लेता है जिसका विविध दृष्टांतें रसक क वृत्तिल की आर धनायास ही संकेत करती प्रतीत होता है।

निष्पात्मक आलोचना

इस आलोचना-गत क अन्तगत कवि अथवा रचनाविशेष क अनुभावन, मूल्यांकन और मूल्यांकन निर्धारण का उद्देश्य अपनाया जाता है। इसके लिए आलोचक का उम्र युग क अथ कविता अथवा रचनाया का भी दृष्टि में रचना होता है। इस दृष्टि से आलोचक की दृष्टि इस बात पर केंद्रित रहती है कि आलोच्य कृति सहाय पाठक और मनाज का कहां तक भाग निष्ठा कर सकती है? वह इस बात की भी सोच करता है कि युगविशेष का चित्रण करने समय कहा तक न उसका विविध मूल्या का भीमिन ता नहीं कर दिया है अथवा गानक मानव मूल्या क समन्वय द्वारा उस कहां तक मवयुगीन बनाया गया है? मूर मूर तुलना समा उदगन कवदास और सबकी भूपन सतसई रवा बिहारीलाल जसा उक्तियाँ निष्पात्मक आलोचना के अन्तगत ही आता है। निष्पात्मक समीक्षा का एक ओर काव्यशास्त्रीय मर्यादा का सम्बन्ध में व्यक्त किया जा सकता है और दूसरा ओर इसमें रचनाजनित अन्तगत प्रभावों क समावेश की सम्भावना भी रहती है। कतिपय विज्ञाना क मन में निष्पादन करना उचित नहीं है किन्तु वास्तव में दला जाए तो जब हम किसी पुस्तक का अध्ययन करते उसमें प्रभावित हात हैं तथा हमारे मन में उनका साहित्यिक मूल्य का निष्पादन हा जाता है। किन्तु जब आलोचक मूल्यांकन में आगे बढ़कर निम्न विषयों की पुस्तक का तुलना करते एक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना चाहें तब निष्पात्मक आलोचना दोषपूर्ण बन जाती है। उदाहरणार्थ 'कामाक्षी और रामचरितमानस' दाना श्रेष्ठ कृतियाँ हैं किन्तु यदि आलोचक इनकी तुलना करके इनमें से एक का श्रेष्ठ घोषित करना चाहें तो यह कवि के साथ न्याय नहीं कहा जा सकता। निष्पादको मुख्यतः चार कसौटियाँ हैं—व्यक्तिगत शक्ति अथवा मूल्य साहित्यिक मूल्य तथा मानव मूल्य। इनमें से साहित्यिक तथा मानवतावादी मूल्या की कसौटी पर लिया गया निष्पादन श्रेष्ठ कहा जा सकता है। आलोचक को व्यक्तिगत अभिप्राय की अथ मूल्यों के सम्बन्ध में ही देना जाना चाहिए अन्यथा रचना में निष्पादना नहीं आ सकेगी। वस भी, आलोचक क मन में हानवाती प्रतिक्रियाओं को ही प्रमाण मान लेना प्रभावितक समझा का गुण है निष्पादक समीक्षा में तो सञ्ज्ञात्मक आलोचना के अन्तगत स्वातंत्र्य किंग गर काव्य मू या को ही प्रमाण माना जाता है। इसी प्रकार निष्पादक आलोचना में मुख्यतः नतिक मूल्या पर भा प्रव नहीं दिया जा सकता, इनका अनुभावन मानव मूल्या क वल में हा किया जाना चाहिए।

आलोचना और अनुसंधान

आलोचना और अनुसंधान साहित्य विज्ञान का परस्पर निम्न प्रक्रियाएँ हैं जिनमें स्पष्टता काय प्रणाली और उपलब्धि की दृष्टि में विभाजक रचनाओं की सहज ही

खाज की जा सकती है। यद्यपि इन गानों को पर्याय मान लेने की भाँति भी प्रचलित है किन्तु वस्तुतः यद्युक्त अंशों में परस्पर सद्भाव रखत हुए भी अधिराजित भिन्न अर्थों की व्यञ्जना करते हैं। हिन्दी में शोध गद्य का आरम्भ आलोचना की अपेक्षा बहुत बाद में हुआ जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुसंधान के मन में अनुसंधान प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अवश्य ही भिन्न अर्थ की कल्पना रही होगी। वस्तुतः अनुसंधान में वस्तुनिष्ठ दृष्टि तथा निष्कल जसी तटस्थता और तथ्यों की खोज पर बल रहता है जबकि आलोचना में इनकी अपेक्षा होने हुए भी इन पर उतना बल नहीं दिया जाता और प्रभाववात्मकता तथा साहित्य को भी अनायास स्थान प्राप्त रहता है। 'युष्पति की दृष्टि से भी इनमें अन्तर लक्षित होता है। अनुसंधान गानों अनु और संधान के योग से बना है जिसका अर्थ है—विशिष्ट लक्ष्य को सम्मुख रखकर उसकी पूर्ति के लिए दिशाविशेष में काम तत्पर रहना। दूसरे गानों में अनसंधाना निरंतर शोध द्वारा तथ्यों की स्थापना में सतत रहता है। इससे विपरीत आलोचना में अज्ञात तथ्यों की खोज अथवा तथ्य निरूपण की अपेक्षा सहृदयतापूर्ण भावना का अर्थ निहित है।

आलोचना और अनुसंधान में प्रवृत्तिगत विभिन्नताएँ होने पर भी इनका सौहार्द को सहज ही लक्षित किया जा सकता है। उपरिनिर्दिष्ट मूल प्रवृत्तियों का एकीकी निर्वाह इनमें भी किसी में भी अभाव नहीं होता। वस्तुतः इनकी उत्कृष्टता एक-दूसरे के तत्वा के आदान प्रदान पर निर्भर करती है। इनमें साम्य के पर्याप्त लक्षण उपलब्ध हो जाते हैं। अनुसंधान में अप्राप्त तथ्यों का अन्वेषण अथवा प्राप्त तथ्यों का नवीन ढंग से विवेचन अनिवार्य गत है आलोचना में भी 'याह्या विश्लेषण पर पर्याप्त बल दिया जाता है। अनसंधाना के लिए विवेचन के पश्चात् किसी निष्कर्ष पर पहुँचना आवश्यक होता है आलोचना में भी आलोच्य वृत्ति के प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण का उपरान्त उसका मूल्यांकन अपेक्षित है। अनुसंधाना शोध करते हुए जिस प्रकार तथ्य को आधार बनाकर आगे बढ़ता है उसी प्रकार आलोचना को प्रामाणिक रूप देने के लिए आलोचक के लिए भी तथ्य-ग्रहण अनिवार्य होता है। स्पष्टतः अनुसंधान और आलोचना की प्रक्रिया बहुत कुछ साम्य रखती है। दोनों का मूल उद्देश्य साहित्य का सम्यक विवेचन करना है। इस तथ्य को डा. नगेन्द्र और श्री परगुराम चतुर्वेदी ने क्रमशः अनुसंधान और आलोचना तथा आलोचना और अनुसंधान शीर्षक लेखों में निम्नलिखित वाक्यों में स्पष्ट किया है

(अ) आलोचनात्मक प्रतिभा के बिना मैं उत्कृष्ट अनुसंधाना की कल्पना नहीं कर सकता। अतः उत्कृष्ट साहित्यिक आलोचना साहित्यिक अनुसंधान का उत्कृष्ट रूप है।^१

(आ) आधुनिक आलोचकों के विभिन्न वर्गों ने अनुसंधान की सहायता अपनी दृष्टि-विशेष द्वारा की है और इसका प्रयोग अपने अपने ढंग से करते हुए आलोचना पद्धति

१ अनुसंधान की प्रक्रिया (सम्पादिका—डा० सावित्री सिन्हा) पृष्ठ ५५

म ध्यायकता ज्ञान की चेष्टा की है ।

किन्तु, अनुसंधान में विना सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण को प्रतिपादित करना ही असम्भवी होता अर्थात् उसे प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने का संकल्प मुख्य होता है। अनुसंधान के लिए यह आवश्यक होता है कि वह साहित्य की उपलब्धता को कुछ और आगे बढ़ाए। ज्ञान का विस्तार अनुसंधान का मुख्य लक्ष्य है जबकि आलोचना का लक्ष्य साहित्य की बात सामग्री से महत्त्व को परिचय कराना और लक्षक के भावों तथा विचारों को उस तक सम्प्रेषित करना है। वस्तुतः अनुसंधान में खोज की अधिक महत्त्व दिया जाता है किन्तु समीक्षा में उपलब्ध सामग्री के सम्बन्ध विवेचन और मूल्यांकन का प्रमुखता रहती है। आलोचक का लक्ष्य यह रहता है कि महद्दय को जालोच्य कृति के प्रति वसा ही संवेनामूलक दृष्टि प्राप्त हो जाए जैसी कि उस स्वयं प्राप्त है। वह लक्षक से तादात्म्य स्थापित करके एक तो रचनागत भावों का कवि के दृष्टिकोण में ही विचारण करना है और दूसरे लक्ष्य-रचना की चर्चा करने पर भी व्यक्ति-तत्त्व का मवया त्याग नहीं कर पाता। आलोचना में आत्मीयता अथवा भावुकता की प्रमुखता रहती है किन्तु अनुसंधान में व्यक्ति-तत्त्व का समावेश हितकर नहीं होता। तथ्या द्वारा जो मांग प्राप्त होता है अनुसंधान उसी का अनुसरण करने के लिए बाध्य होता है जबकि आलोचक अपने सिद्धांतों और आदर्शों को उपलब्ध सामग्री के प्रकार में स्वतंत्र रूप में प्रतिपादित कर सकता है।

आलोचना की भाँति अनुसंधान के मूल में भी भावयित्री प्रतिभा विद्यमान रहती है फलतः तथ्य गोप्य पर बल रहने पर भी अनुसंधान के कुछ क्षत्रों में शुष्कता से किंचित बचा जा सकता है। किन्तु भाषावैज्ञानिक अनुसंधान और पाठानुसंधान में गगन-तत्त्व का स्पष्ट अभाव रहता है। इसी प्रकार आलोचना में भी तथ्य-गोप्य की प्रेरणा तो रहती है किन्तु इस उसकी आत्मा नहीं कहा जा सकता। आलोचना में वस्तुनिष्ठ गती की अपेक्षा भावना का प्रमुखता रहती है किन्तु अनुसंधान में ज्ञान की किसी विशेष शाखा का उद्घाटन हीन अथवा उपलब्ध ज्ञान राशि को मौनिक दृष्टि से विकसित करने के कारण सार्वत्रिक विश्लेषण पर बल रहता है। इसीलिए गोप्य कृतियाँ में आलोचनात्मक रचनाओं की भाँति मन्त्रियों का उल्लेखमात्र नहीं किया जाता अर्थात् उन्हें प्रमाणित करने के लिए सम्बन्धित-सहित उद्धरण दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त निधारित विषय से सम्बद्ध तथ्य-संकलन, उपयुक्त वर्गीकरण टिप्पणी-लेखन ग्रन्थ-सूची निर्माण आदि भा अनुसंधान के आवश्यक अंग हैं। आलोचना के लिए उक्त तत्त्व उपयोगी हात हुए भी अनिवार्य नहीं हैं उन्मथ विषयान्तर भी हो सकता है और वर्गीकरण को वर्णान्विता भा उतनी अभिप्रेत नहीं होती। विवेचन गती की दृष्टि से भी आलोचना और अनुसंधान में स्पष्ट अन्तर मिलता है। आलोचना में दालगत साहित्य के समावेश की पर्याप्त सम्भावना रहती है क्योंकि आलोचक का विषय के साथ साक्षात्क सम्बन्ध हाता है। इसके विपरीत अनुसंधान की भाषा गती गूढ़-गम्भीर होती है क्योंकि अनुसंधान का दृष्टिकोण वस्तुपरक

रहता है।

उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आलोचना और अनुसंधान में प्रक्रिया की भिन्नता ता है किन्तु इन दोनों का अन्तिम लक्ष्य सत्य की सिद्धि है। अनुसंधान में तथ्य का अवलोकन ही पर्याप्त नहीं होता अपितु यह तो गाम्भीर्य का मात्र है। अनुसंधान का मुख्य लक्ष्य उस तथ्य के आधार पर सत्य का आख्यान करना है और इसके लिए उसमें आलोचनात्मक प्रतिभा का होना अनिवार्य है। उस प्रतिभा के होने पर ही वह उपलब्ध तथ्यों पर भलीभाँति मननोपरात उन्हें विचाररूप में अभिव्यक्त कर दूसरों तक सम्प्रसारित कर सकता है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि श्रद्धा अनुसंधान और स्पष्ट आलोचना में जितना विधि का अन्तर है उतना उपलब्धि का नहीं।

विद्वलपण

उपयुक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्य में उचित मूल्यांकन के लिए आलोचना का आग्रह आवश्यक है। आलोचना की विविध प्रवर्तियाँ हैं जो आलोच्य रचना की विशेषताओं के अनुसार समीक्षावा द्वारा प्रयोग में लायी जाती हैं। जिस प्रकार रचनाकार के मन में नव नव गलियाँ में साहित्य रचना की उमंग उठती है उसी प्रकार आलोचक भी मूल्यांकन के लिए नवीन दिशाओं की खोज करते हैं। इस संदर्भ में तिनकर की यह उक्ति विचारणीय है प्रत्येक नया कवि आलोचक से आलोचना की नयी कसौटी की माँग करता है क्योंकि आलोचक नये कवि को पुरानी कसौटी पर बसके उसके साथ साथ नहीं कर सकता। इसलिए जब भी कविता में नवीनता आती है तब आलोचना भी ईषत् नवीन हो जाती है।^१ इस उद्धरण के पूर्वाह्न में प्रत्येक कवि के लिए आलोचना के मान परिवर्तन का प्रतिपालन स्पष्टतः आक्षेप योग्य है किन्तु नवीन काव्य प्रवर्तियाँ (साम्प्रदायवाद प्रगतिवाद प्रयोगवाद आदि) के समीक्षण के लिए आलोचना के स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन का सुझाव निश्चय ही यकिनसंगत है। यद्यपि कवि विचार की मौलिकता भी विवेचन के नवीन आधार की माँग कर सकती है किन्तु सभी कवियों की रचनाओं के अनुशीलन के लिए इस सिद्धांत का पालन आवश्यक है। इसीलिए वर्तमान युग में प्रगतिवादी समीक्षा प्रणाली की सखीण दृष्टि को महत्व नहीं दिया जाना। इसी प्रकार तुलनात्मक समीक्षा पद्धति भी अब उतनी गौरवपूर्ण नहीं मानी जाती। इसका कारण यह है कि इस प्रणाली के अंतर्गत दो अथवा अधिक कवियों या उनका रचनाओं का विद्वलपण तो उपयुक्त होता है किन्तु उनमें से किसी एक को पूर्वाग्रहपूर्वक श्रद्धा बताना सभी का समुचित प्रतीत नहीं होता। मूर और तुलसी अथवा देव और बिहारो में से किसी एक को अधिक गौरव देने का पूर्वाग्रह इस समीक्षा प्रणाली की असफलता का उदा

हरण है। इसी प्रकार प्रभावात्मक समीक्षा भी आलोचना की आत्म्य प्रणाली नहीं है क्योंकि इसमें आलोचक के व्यक्तिगत मत की प्रमूढता रहती है और इस प्रकार पूर्वाग्रह के समावेश की सम्भावना रहती है। वर्तमान युग में अनुसंधानपरक व्याख्यात्मक समीक्षा को समालोचना की सर्वश्रेष्ठ विधि माना जाता है क्योंकि इसमें पूर्वाग्रहमुक्त रहकर मूल्यांकन की सम्भारता को समादृत किया जाता है।



हिन्दी आलोचना का विकास-क्रम

रामेश्वरलाल खण्डेलवाल

विकास स्वरूप और प्रक्रिया

वस्तु-जगत् की स्थूल या सूक्ष्म दृश्य या अदृश्य सभी सत्ताएँ निरन्तर गतिशील या विकासशील हैं। यह विकास चाहे प्रकृति की अपनी ही निजी और सर्वोपरि शक्ति में प्रेरित व नियंत्रित हो रहा हो अथवा प्रकृति से परे किसी उच्चतर या परम तत्त्व (जिस भारतीय दशनो में ब्रह्म पुरुष परमशिव आदि नामों से अभिहित किया गया है) से प्रेरित हो रहा हो इतना अवश्य है कि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता है व पदार्थ गतिशील या विकासशील है उस गति का नियन्त्रण कोई परम तत्त्व है वह विकास देण और काल के माध्यम से चरिताय हो रहा है और सम्भवत यह भी कहा जा सके कि किसी पूर्व निर्धारित उद्देश्य की ओर—जैसे हमारी ससीम या सान्त चेतना न समझ पाती हो— अभिमुख है। प्रकृति द्वारा प्रमाणित विकास की इस मूल स्फुरणा साधन प्रक्रिया लक्ष्य आदि को हृदयगत कर देने पर यह स्पष्ट हो सकेगा कि मात्र स्थूल पदार्थ या घटना का विवरण काल क्रम में गद्यकर यात्रिक ढंग से रख देना ही किसी भी सत्ता के विकास का निरूपण नहीं कहा जा सकता। देश और काल की जो प्रायः विशेषिकनी विचार प्रक्रिया में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदार्थ माने गये हैं कल्पना के बिना विकास अपने-आपको अभिव्यक्त ही नहीं कर सकता। शक्तिमय एक लघु वाज में से विशाल वक्ष का विकास तथा निविड उदगमा से सरिता का प्रवाह और समुद्र में विलय इन दोनों की कल्पना चक्षुओं के सामने लाने पर विकास का सारा रहस्य व रोमांस समझ में आ सकता है। प्रत्येक विकास की कहानी रोचक होती है। इसी प्रकार हिन्दी आलोचना के विकास की कहानी भी रोचक है।

क्या आलोचना का विकास और हिन्दी आलोचना का विकास—ये दोनों पन्ध्रवर्षों अभिनय समानाधिक हैं? आलोचना तो सभी साहित्यों में होती है और सभी साहित्य बाह्य या देगीय भंगों के उपस्थित रहते भी तत्त्वतः एक हैं फिर हिन्दी आलोचना का विकास क्या आलोचना के विकास की सामान्य कहानी से कुछ भिन्न बात है? वस्तुतः हिन्दी की आलोचना अथवा किसी साहित्य या साहित्यों की आलोचना से सांत्विक या व्यावहारिक दृष्टि से बहुत-कुछ समानता रखते हुए भी कुछ ऐसी भिन्नता

या विशेषता रखती है, जो हिन्दी के अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व सही उद्भूत है। यहाँ हिन्दी आलोचना के मूल स्रोतों का ऐतिहासिक अनुसंधान करने जसा कोई विधिवत व विशद सम्भार हम नहीं कर रहे हैं। केवल इतना ही निदिष्ट करना अलम है कि औपचारिक या विधिवत आलोचना व्यापार हिन्दी-साहित्य में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के सन्धि-स्यत पर ही स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ा। किन्तु यत्नि स्वयं आलोचना-वृत्ति का आरम्भ या सूत्रपात की खोज की जाए तो वह अप्रत्यक्ष रूप में हिन्दी के प्रथम कवि में ही चाहे वह कोई भी रहा हो देखी जा सकेगी, क्योंकि कवि या कलाकार के अपने सजन में बुद्धि व विवेक का प्रयोग जो वह वस्तु-विश्वास व कला-पक्ष के निर्माण में करता है अतः आलोचना का उचित वृत्ति के उपयोग का ही तो परिचायक है। इसे सूक्ष्म रूप में देखा जाए तो हिन्दी-आलोचना बहुत पुरानी ठहरेगी किन्तु जिसे हम औपचारिक स्पष्ट, जाग-रूक साहित्यालोचना कहते हैं वह तो निश्चय ही बहुत बाद में आरम्भ हुआ है।

प्राचीन व मध्ययुगीन हिन्दी-आलोचना

सर्जन-वृत्ति और आलोचना-वृत्ति कवियों में अनुप्रात भेद में प्रायः साथ-साथ ही रहती है। भारतीय धारणा के अनुसार श्रेष्ठ सजक श्रेष्ठ समीक्षक होना है और श्रेष्ठ समीक्षक श्रेष्ठ सजक।¹ इस अर्थ में जब से हिन्दी-कविता का आरम्भ हुआ तभी से, सूक्ष्म रूप में हिन्दी-आलोचना का भी जन्म माना जा सकता है। भाव-सत्ता व विचार-सत्ता दो सवथा विच्छिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, दोनों परस्पर-अभित व सहयोगिनी रहकर काय करती हैं। काव्य के कला-पक्ष के निर्माण में (वर्ण-योजना, शब्द-चयन, छन्द-चयन, विन्व-योजना, अलंकार-विधान आदि में) वस्तु-पक्ष की व्यवस्था व समृद्धि में यहाँ तक कि गीत-जसी कोमलकाय रचना में भी आलोचना-वृत्ति सजन प्रक्रिया में प्रच्छन्न रूप से काम करती है। पर इस रूप में आलोचना के उद्भव-विकास का निरूपण करना कदाचिन् अघ्याद-हारिक ही जान पड़ेगा। जीवन और सस्कृति से जुड़कर, सजन की कोटि को पहुँची हुई श्रेष्ठ साहित्यिक आलोचना से जो कुछ भी आज अभिप्रत है उसे देखते हुए तो हिन्दी में वास्तविक आलोचना की स्थापना आचार्य गुल की आलोचना से ही होती है। उनके पूर्व की आलोचना-वस्तुत आलोचना के लिए सम्भार-मात्र थी। पर फिर भी उसका अवमूल्यन कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि भावी आलोचना के विकास-प्राप्ताद की नींव के रूप में वह महत्वपूर्ण है।

प्राचीन कवियों की समीक्षा-दृष्टि उनके काव्य में ही यत्रतत्र बिखरी हुई देसी जा सकती है। विद्यापति ने अपनी प्रसिद्ध रचना-कीर्तिलता में कहा है

बालचन्द बिज्जावर्द भाषा । दुहु नहिं लगई दुज्जन-हासा ।

ओ परमेसर हर सिर सोहई । ई निचय नाअर-मन मोहई ॥

यहाँ विद्यापति की यह समीक्षोचित धारणा व्यक्त हुई है कि काव्य (यहाँ केवल

विद्यापति का) लोक हृदय के लिए आह्लात्कर वस्तु है जना के उपहास से उसकी आत्मा कभी मरान नहीं पड़ती। उमी युग में जायमी ने पद्म राव के उपसंहार मध्यस्थ काव्य का स्वरूप या अदिग इन पवित्रया में ध्वनित कर दिया

मुग्ध कवि यह जाति गुनावा । गुना मा पीर प्रम कर पावा ॥

ओ मैं जानि गीत अम कीहा । महु यह रहै जगत महु चीन्हा ॥

धनि साई जस कीरनि जामू । फूत मर प मर न बामू ॥

केइ न जगत जस बचा के न नी जम मोल ?

जो यह पढ कहानी हम्ह सवर दु बोल ॥

जायमी के अनुसार काव्य एक मम मधुर गहन अनुभूतिमयी व अत्यंत प्रभाव वालीनी वस्तु है जो गहरी प्रेम की पीर में ही उत्पन्न होती है। कवि अपनी मृत्यु के वक्त एकमात्र यही अमर सुगन्धित व पवित्र स्मृति चिह्न विश्व के पास छोड़ जाना चाहता है जिससे कि वह उस चिरवाले तक प्यार से याद करता रहे। यही कीर्ति के समतल म जो कुछ कहा गया है वह आचार्य दण्डी वामन और मम्मट की धारणा से सम्मत है। वस्तुतः काव्य का प्रशस्तिमयी उच्च धारणा सहृदय के लिए सद्दृष्टि स्वीकार्य है। मध्य युग में तुलसी ने भी रामचरितमानस में अनेक स्थला पर प्रेष्ठ काव्य का मानदण्ड प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है

(अ) निज कवित केहि गग न नीका । सरस हाउ अयवा अति फोका ॥

(आ) तसेहि सु-कवि कवित बुध कर्ता । उपजहि अनत अनत छवि सहही ॥

सब जानत प्रभ प्रभुता सोई । तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥

(इ) जो प्रबन्ध बुध नहि आदरही । सो सम बाणि बाल-कवि करही ॥

कीरति भनिति भूति भनि माई । मुरमरि सम सब कह हित होई ॥

(ई) गिरा अरथ जल-बीचि सम कटियत भिन्न न भिन ।

इस धारणा में स्पष्टा पाठक व समीक्षक—ताना की दृष्टि से सति त्त व मार्मिक विचार ममाविष्ट हो गये हैं। (स्वयिना की आत्माभिष्पक्ति की दुदमनीयता व आह्लाद भावका जोर ममीक्षका का सौंदर्यानुभव तथा काव्य पाठका का सद्गुण गुणम का यानद—तीना की समवेत सिद्धि काव्य से हो यही तुलसी का मन्तव्य जान पड़ता है)। धर्म और अध की मूल अभिन्नता और उनके गतिक सौम्य की पारस्परिक प्रति द्विता भी जिक्र के आधार पर वक्त्रोक्तिवार कुतक ने साहित्य की मूल धारणा खड़ी की है बड़ी गह्रजता से प्रकट की गयी है। कवि की शुभकीर्ति का बखान यहाँ भी किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह काव्य की बड़ी ही यापक व पूण धारणा है।

साहित्यशास्त्र की चर्चा की दृष्टि से हिन्दी का रीतिकाल अथवा महत्त्वपूर्ण है। इस काल के हिन्दी-कवियों व आचार्यों ने आलोचना (सद्धान्तिक) विषयक गतिविधि बहुत सक्रिय रही किन्तु यही आश्चर्य है कि उमका हिन्दी आलोचना के विकास से उसे बहुत धनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहा। कारण स्पष्ट है वह आलोचना हिन्दी की अपनी निजी प्रकृत विधाधारण से सहजोद्भूत न होकर पूणतया संस्कृत-साहित्यशास्त्र से प्रेरित व उम पर आश्रित है। इस दग में कुछ कवियों का संस्कृत भाषा व साहित्य से धनिष्ठ सम्बन्ध

या । य सौग ससृष्ट की काव्यशास्त्रीय परम्परा को हिन्दी में साये और परिणामस्वरूप
 ऐसे कवियों का एक बग उत्पन्न हो गया जो कवि और आचार्य दोनों साय साय होन
 लग—अवश्य ही कारयित्री व भावयित्री प्रतिभा व निजा भर्त्सक अनुपान व साय । पर
 अधिकांश कवियों का सम्बन्ध न गहन प्रवेग नहीं था । अस्तु जिन लक्षणयुक्त काव्य
 रचना की प्रणाली को (दोना प्रकार की प्रतिभा के प्रकाशित करने के प्रयोग से) कहते
 अपनाया उसका लक्षण निर्धारण पण प्राय दुबक रहा । डा० मंगीरथ मिश्र व गणेश
 लक्ष्मी में कोई विवेचन सम्बन्धी नवानता नहीं है लक्षण महत्वपूर्ण नहीं रखे
 सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण विचार प्रकट नहीं हुए हैं लक्षणयुक्त कवियों में ससृष्ट-प्रया
 व समान गम्भीर विवेचन नहीं मिलता मौलिकता और रोचकता उदाहरण की ही है
 शास्त्र-विवेचन की नहीं । इस प्रकार की धारणाएँ उनक समी तद्विषयक कान्तव पर
 आग चलकर बनीं ता क्या अन्वय । जब लक्षण का ही स्पष्ट निधारण करने का लानता
 नहीं ता शास्त्र चर्चा कसी ?

तो प्रस्तुत प्रश्न यह है कि जन्म रतिनाल का ममीक्षात्मक कनीया मौलिकता को
 दृष्टि से इस श्रेणी-स्तर का है और परिणामत हिन्दी आत्माचर्या का विकास को मौलिक
 योगदान की दृष्टि से वह बिरत्य या नगण्य है तो फिर इस समी सामक प्रतिभा का आग्वि
 क्रिय रूप में आकलन करके आग क्या जाय ? आशुति स मत हा वट्ट उम आत्माचर्या स
 कम ही सम्बन्ध रखती हा ता आक निखिन जीवनस्पर्शा विग्न नास्ति गतिविधि क
 रूप में सुप्रनिष्ठित हो गई है पर प्रकृति स तो वह निमी न किमा रूप म विग्न का अपना
 निमी चेतना से कोई न कोई सम्बन्ध रखती ही है—इम तथ्य का कम तस्वीकार कि
 जाये ? वह समीक्षा-वृत्ति तो अन्ततः हिन्दी क अपन हा रखत की कौष धा उनकी उपशा
 करके बढ़ जाना उचित नहीं जान पडता । डा० नगट्ट नहिनी का अरना निजा जानोचना
 शास्त्र खडा करने की परिकल्पना करते हुए व्यक्ति क का मनावकानिक मिति पर इम
 दन का सम्पक आकलन किया है । व लिखत है

(अ) परन्तु स्थिति इतनी दयनीय नहीं है । हिन्दी क प्राचान नया नवान
 काव्य म—और काव्यशास्त्र म भी इतनी सामग्री निश्चय ही विद्यमान है कि उनक
 आधार पर हिन्दी के अपन विग्न काव्यशास्त्र क अस्तित्व की परिकल्पना असमन नहा
 कही जा सकती ।

(आ) श्रुति विवेचन के अनिश्चित हिन्दी क प्राचीन काव्य म भा अन्तनी प्रनून
 सामग्री है कि उगण आधार पर अपने स्वतन्त्र काव्यशास्त्र का निर्माण जयत सनतना
 पूवक किया जा सकता है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस परिकल्पना के शोध साधन प्रयत्न का पराग

१. हेतिए हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृष्ठ ७७१-७७३
 २. हेतिए विचार और विश्लेषण पृष्ठ १०११
 ३. विचार और विश्लेषण पृष्ठ ६७
 ४. विचार और विश्लेषण पृष्ठ ८

रूप से रीतिज्ञान व कवि आशय या आचार्य बचि ही है। हिंदी आनाचना व विज्ञान को रीतिज्ञान का देन यहाँ कही है। एतद्वय रूप में भी यहाँ देन आँकी जा सकती है। यदि काव्य (काव्य) के आधार पर भी काव्य धारणा गढ़ी जा सकती हो (और इस प्रकार के सम्भार प्रयत्न हुए हैं) तो हम युग की काव्य धारणा की एक मूर्ति गढ़ सकते हैं। रीतिज्ञान का कवि कामनीया रीति से परिवर्तित रण रण या राति का अर्थ वह सामान्य का य प्रणाली (रीति) मानना होता है परन्तु मूल प्रवृत्ति में वस्तुतः यत्न और ध्यान का ही सिद्धान्त मानता है अतःकार (एतद्वय कविया को छोड़कर), वक्रोक्ति राति या अचिन्त्य का उचाना नहीं। उगवी रीति में काव्य यह है जो रसात्मक हो ध्यान की विभूति में सम्पन्न हो (कल्पना-मौल्य का मन्त्र ध्वनि में कल्पित भर हुआ है अतः कल्पना का महत्त्व इसमें निहित ही है) जिसमें मौल्य का मूह्य व गहरी चेतना (मतिगम्य देव और घनानन्द का काय प्रकृत है) जो अभिव्यक्ति की वक्रता या वचन-रहिता में चाह हो और जिसमें भाषा संगीत का प्राजल व सम्भार प्रवाह हो।

रीतिज्ञान की स्वच्छन्तावाणी धारा के कविया में घनानन्द शीघ्र ही हैं। उनके काव्य के प्रामाण्य पर गभीरक ने उनकी प्रशंसा कही है जिससे घनानन्द की समीक्षा दृष्टि बनित होती है

- (अ) ने ही महा ब्रह्मभाषा प्रदान और सुदरतानि क भेद को जान ।
जोग वियोग की रीति में कौविद भावना भेद स्वरूप को जान ।
चाह के रण में भी जा हियो बिछरें मिलें प्रातम साति न मान ।
भाषा प्रवीन सुछन्द सग रहै सो घन जी के कवित बलान ।।
- (आ) प्रम गदा अति ऊचो सहै सुकहै इहि भाँति की बान छकी ।
मुनि क सब के मन लानव दौर प बीरे लख सब बुद्धि धकी ।।
जग की कविताई के घोषे रहैं ह्यो प्रवीननि की मति जाति जकी ।
ममूक कविता घन आनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी ।।

एत उक्तियो में काय समीक्षा की प्राचीन स्वच्छन्तावाणी दृष्टि कूड़ी जा सकती है। स्वानुभूतिजय अर्थ्य आत्मविभक्ति रूप कविता के आनन्द का व्यास्तविक दशन रूप के भीतरी नशो में ही सम्भव है। सच्चे कवि की वाणी में भावना और सौन्दर्य का गूँथ कविता-रचन को मिलता है। कविता स्वच्छन्द मन से प्रसून एक ऐसी वस्तु है जिसमें हम प्राण पोषक आत्मव्यक्तिता है और जो अपनी अभिव्यक्ति की वक्रता भगिमा से हमें मग्य भी करती है। एतद्वय रीति में रम और ध्वनि के व्यजन भरपूर है।

दृष्टने की आवश्यकता नहीं कि सामान्य रूप में देखने पर यहाँ तक ता काव्य की रीतिज्ञानीन धारणा प्रायः मनाता या व्यापकतम काव्य धारणा के भेद में ही है। पर धार बानें या आपत्तियाँ विचारणाय गृह जाती हैं

- १ रीतिज्ञानी काव्य विज्ञान की निम्न व स्थूल प्रवृत्तियाँ से प्रेरित है
- २ रीतिज्ञान कवि का व्यापक सामाजिक जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं उमक पाम का मानस-मुक्तिकारी जीवन स्थान नहीं और

४ उसके पाम केवल गली रह गई है, अनुभूति का कोश तो भक्तिकाल के कवियों के पाम ही छूट गया ।

इन चार आपत्तियाँ के समाधान पर रीतिकालीन समीक्षादाता थोड़ा और उभर कर सामने आ सकता है । विस्तार की गुंजायन नष्ट दृष्टि निक्षेपमात्र ही पर्याप्त होगा ।

१ यह स्यायी और व्यापक आ उप प्रायण्य लायससमापना युग में पुनर्विचार की अपेक्षा रखना है । काम आज डार्मेट पवित्र के माय नहीं कविता में चल रहा है तब रीति-कविता से यह नाक भौं सिकोट क्या ? छर यो भी इस प्रश्न का जडें बहुत गहरी हैं । आइए मीध वहाँ चलें । उपनिषद् के ऋषियाँ को आभास हुआ 'तदेतन्मिथुनमोमि त्येतस्मिन्नाक्षरे स मयत यदा व मिथुनो समागच्छत । भोज ने शृंगार प्रकाश' में शृंगार का ही रमराज कहा । फ़ायद की धारणा स कौन अपरिचित है ? सृष्टि की मूल चेतना व जीव की महज वृत्ति आनन्द ही है । राजनीतिक जीवन में सृष्टि-पथ पर जो प्रान्तियाँ आदानन आने-जाते हैं व पासिंग गो हैं । आधी के बाद बादन छटने पर, आकाश पुन शुभ्र पुन वही मून आनन्द । रीतिकाल का कवि यहीं रहता है । उसके पास कोई प्रश्न नहा गोपन नगी रखन में भ्रमभ्रमी नहीं गिराओं में ऐँठन-तनाव नहीं । सृष्टि की मूल चेतना का रम्य मानो उसके लिए हस्तामलकवत है ।

२ सामाजिक जीवन का प्रश्न ही वहाँ वहाँ खड़ा हाता है ? वह तो जा देखता है सो अनुभव करता है और वही जीता है । यह प्रश्न आपके हमारे लिए आज ठीक है उस समय के लिए यह प्रश्न ही प्राय असंगत है—व्यवस्थित शासनजन्य स्निग्ध चान्दी-सी गान्धि के उस युग में यह निरर्थक है । विदेशियों की दागता के उस युग में कविता को शांति व निष्क्रियता का अनुभव नहीं करना चाहिए था । (भूषण-जस कविता ने नहीं भी किया) यह आरोप निश्चय ही हम उन कविता पर लगा सकते हैं । पर सामान्यतः उस समय के कवि के लिए वह सबष का कथन ही लागू होता है *Every flower enjoys the air it breathes* और फिर यदि इसे हम उस युग की एक श्रुति ही मान लें तो इसकी क्षतिपूर्ति एक सुन्दर रूप में होनी हुई निश्चय पड रही है । विरति व वराग्य की क्षताख्या के बाद रीतिकविता ने गृह-जीवन का सौन्दर्य पुन गाना और निश्चाया और अपिवाग निगुणियों की गूँवबासिना चेतना को पुन पृथ्वी व सामाजिक जीवन की ओर उभुन किया । निवृत्ति में प्रवृत्ति की आर युग का यह सक्रमण माकमवाणी विचार धारा के अनुयायियों को भी सम्भवन बड़ा अनुकूल जान पडगा । किन्ती अर्थों में यह एक सांस्कृतिक योगदान है । रीतिकाल की कविता को जो पुनर्जागरिता हो रही है उनमें बना सौन्दर्य के गाय ही इस तत्त्व के बोध को भी सहज स्मृति है । सौन्दर्य तथा की कलात्मक तृप्ति हमारे मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व के लिए भी स्वास्थ्यप्रद सिद्ध हुई वही जा सकती है ।

३ जीवन-दणन का प्रश्न भी ऐसा ही है । समस्ता प्रश्न दाढ़—जहाँ कुछ भी प्राय न हो वहाँ जीवन-दणन क्या ? यदि कोई जीवन-दणन है तो वह है सहज आनन्द । इसे धार्मिक दणन कहना भयकर अशाय होगा ।

४ रीति जैसे बाह्य तत्त्व को उठाने अत्यधिक महत्त्व दिया, किन्तु इस भाग्य का निराकरण तो सहज ही या हो जाता है कि जिस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में सगुण मतवाद का स्थान व महत्त्व है उसी प्रकार रीतिवाद काव्य-क्षेत्र में सगुण मतवाद कहा जा सकता है। भक्त निगुण के पक्ष में न पड़कर रूप रस गुण को ही सर्वस्व और प्रामाणिकमानता है उसी प्रकार यदि रीतिवाद का कवि काव्यात्मा का स्पष्ट रूप ग्यु-जसी सगुण रीति के माध्यम से ही ज्ञान करे तो क्या गहरी आपत्ति हो विरोधत जबकि रीति के प्रति उनकी निष्ठा सगुण (राम-कृष्ण) के प्रति निष्ठा व समकक्ष-जसी ही हो ?

तात्पर्य यह कि सजन व समीक्षण—दोनों के सम्मिलित योग में हम उस युग का एक समीक्षादश अवश्य मिलता है जो उस युग के श्रेष्ठतम काव्य को देखते हुए रसवाद से सम्बद्ध ही जान पड़ता है।

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी आलोचना

भारतेन्दु युग का हिन्दी-आलोचना में योगदान बहुत प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष ही अधिक दिखाई पड़ता है। या भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रमथन और बालकृष्णभट्ट ने सद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में अपनी सेवाएँ अर्पित कीं किन्तु उनका परिमाण बहुत अधिक न था। हाँ इतना निश्चित है कि उनके युग में रीतिवादी आलोचना से भिन्न नवीन धर्म चेतना का 'यूनायिड बोध' करानेवाली आलोचना लिखी जाने लगी जो उसका भावी विकास में सहायक सिद्ध हुई। इस युग में नवीन युग की आलोचना के स्फुरित व प्रवृद्ध होने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बन रही थीं। आलोचना को उत्तमता तब मिलती है जब नये नये विचारों के शक्तिज सुलने लगे और प्राचीन व नवीन विचारों का पारस्परिक घात प्रतिघात आरम्भ हो। नवीन ब्रह्मान्तिक आन्ति भारत व पश्चिम के राजनीतिक सम्पर्क तथा शिक्षा व साहित्य के माध्यम से यूरोपीय विचारों के भारत में आगमन से वह चेतना प्रभावित हुई जो आलोचना की गति को धार देती है। परिस्थितियाँ इस युग में गद्य का आविर्भाव भी हुआ नय नय काव्य रूप साहित्य क्षेत्र में मुकुलित होने लगे और मुद्रण-यंत्र का भी प्रसार प्रचार हुआ। देश में नवीन राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक आन्ति का गलनाद गूजने लगा। ऐसे वातावरण में हिन्दी की नयी आलोचना ने पलकें खोली।

इस युग की आलोचनात्मक गतिविधि सद्धान्तिक व व्यावहारिक आलोचना के दोनों क्षेत्रों में थोड़ी-बहुत दिखाई पड़ी। भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने सद्धान्तिक भूमि पर नाटक की विस्तृत चर्चा करते हुए नाटक को युगानु रूप संगोपित-परिवर्तित करने उसे राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना का वाहक बनाने का आन्तिकारी विचार प्रस्तुत किया। उहाँ के कविवचनसुधा में हिन्दी कविता नाम का एक मंत्र-ब्रह्म नाम भी लिखा। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (जो आलोचना-नम्रूपिता थी) आनन्दशाम्बिकी सारसुधानिधि हिंदी प्रदीप आदि इस युग में प्रकाशित विविध पत्र-पत्रिकाएँ हैं जिनके माध्यम में आलोचना की चेतना का प्रसार हुआ। प्रमथन और बालकृष्णभट्ट ने नैमी व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखीं जिनमें आलोच्य रचनाओं के गुण

दोष-कथन या निरुद्धन के साथ ही थोड़ी-बहुत मननीय व सूक्ष्म सद्भावित्क चर्चा भी मिलती है। प्रेमचन्द ने श्री रमणचन्द्र दत्त द्वारा मूल बंगला में लिखित तथा बाबू गदाधर सिंह द्वारा हिन्दी में अनूदित उपन्यास 'वग विजेता' की आन्तरिक विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए आलोचना की। उन्होंने लाला श्रीनिवासदास के 'सयोगिता स्वयंवर' नामक ऐतिहासिक नाटक की भी, उसका सिद्धांत पर प्रस्तुत करते हुए 'आनन्दकादम्बिनी' में विस्तृत व कड़ी आलोचना की। इसी प्रकार प० बालकृष्ण मट्ट ने भी 'हिन्दी प्रदीप' में 'सयोगिता स्वयंवर' की अपनी दृष्टि से आलोचना की जिसमें उन्होंने नाटक की यत्र तत्र सद्धान्तिक चर्चा करते हुए नव युग के सद्बोध में उसकी रचना पर विचार किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में नवीन हिन्दी-आलोचना का मूलपाठ हुआ और उसमें देशकालानुसार नवीन उपकरणों का भी 'यूनानिक समावेश' हुआ। मुख्यतः सम्पादकीय लेख, गुणदोषविवेचनमूलक कुछ स्वतंत्र लेख, पुस्तक-परिचय, टिप्पणियाँ आदि के रूप में ही यह आलोचना उपलब्ध है।

द्विवेदीयुगीन हिन्दी-आलोचना

परिमाण और गुण की दृष्टि से द्विवेदी युग की हिन्दी-आलोचना अपने पूर्ववर्ती युगों से अधिक सङ्गन समृद्ध व मौलिक कही जायगी क्योंकि एक तो इसकी युग निर्माता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु पद्मसिंह शर्मा लाला भगवानदीन पटुमनाल पुनालाल बस्ती, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र गुप्त-जैसे महारथियों का योगदान प्राप्त हुआ और दूसरे हिन्दी में पहली बार आलोचना अपने मूल या वास्तविक स्वरूप जो भारतीय व अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर क्रीडा करनेवाली प्राचीन-नवीन के विराट सभ्य से प्रसूत नवयुगीन विचारणा के आलोक में प्रमत्त तयार हो रहा था के निकट पहुँचने का प्रयास करती दिखाई पड़ी। समीक्षा की नवीन या नवीनतर उपलब्धियों से अवगत होकर भले ही हम शुक्ल-पूर्व समीक्षा की बहुत ऊँचा स्थान न दें पर उसका सांत्विक-ऐतिहासिक महत्त्व नगण्य नहीं है।

द्विवेदी युग के प्रवक्ता आचार्य महावीरप्रसाद ने सरस्वती के माध्यम से हिन्दी में समीक्षा के एक नवीन युग का द्वार उद्घाटित किया। उन्होंने आलोचना के दोनो मुख्य रूपों—सद्धान्तिक व व्यावहारिक—से सम्बद्ध सामग्री मुक्तक लेख, पुस्तक परिचय, टिप्पणियाँ एवं स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रस्तुत की और हिन्दी-पाठकों का ध्यान पाश्चात्य और भारतीय लेखकों व कवियों (बंकर, कात्तिदास भवभूति आदि) की ओर आकृष्ट किया। वे उस युग में अवतरित हुए जब हिन्दी में द्रजभाषा का स्थान सही-बोधी ल रही थी देश के सामान्य स्वराज्य प्राप्ति का जटिन व उन्नत प्रश्न था और राजा राममोहनराय रामनाथ और विवेकानन्द के धार्मिक-साहित्यिक और राष्ट्रीय-महापुरुष हमारी राष्ट्रीय-सामाजिक-सांस्कृतिक नीचा के बंधधार थे। इस वातावरण में द्विवेदी जी न सुधारवादी व नवीनतावादी दृष्टि में हिन्दी-साहित्य का नेतृत्व करके नृजन और समीक्षण को स्थापित करने का बीड़ा उठाया। अपनी समीक्षा-दृष्टि का निर्माण उन्होंने अपने दण-जीवन की परिस्थितियों उपलब्ध युगीन साहित्यिक उपकरणों

नया प्राचीन भारतीय का प्रवृत्ति इतिहास पुराण व अध्ययन से प्राप्त चिन्तन स्फूर्तियाँ के योग से किया। कवि और कविता जगत् के द्वारा उद्धान नवीन गद्यांश समीक्षा को आग बग्या का प्रवृत्ति उद्देश्यना ऊर्ध्वना जैसे लेखक द्वारा साहित्य में मानवता व नारीविषयक उच्च भावनाएँ प्रस्तुत की कालिदास की रचनाओं की गुण शोषमूलक विस्तृत प्रशंसा करके भावी समीक्षा का प्रवृत्ति किया और सरस्वती व माध्यम से खनीवोनी के ज्ञानोत्पन्न का नेतृत्व करके भाषा को निम्न पुष्ट व प्रवाहमयी बना कर आलोचना व अन्वयन व साथ ही वास्तु कर्तव्य को संवारने का भी प्रवृत्ति उद्योग करके यथांतरकारी कार्य किया।

द्वितीय युग के समीक्षका म मिश्रवधुआ का नाम बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी नवरत्न तथा मिश्रवधु विनोद नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया। प्रथम म हिन्दी का नौ विविध कविता का जिनका चयन प्रायः लेखकीय रूचि के आधार पर ही हुआ है श्रेणी विभाजन करके उनकी काव्यगत विशेषताओं के निरूपण का प्रयास किया गया है जो विज्ञाना को बहुत सतोपजनक नयी प्रतीत हुआ। इस प्रथम देविका के तत्त्व बड़े कवि बताया गए हैं। इस रचना में तुलनात्मक आलोचना का जा आगे चलकर काफी समर्थ हुई भी थोड़ा बहुत आभास मिला। मिश्रवधु विनोद एक इतिवृत्त-ग्रन्थ है जिसमें सदातिक व ऐतिहासिक समानोचना का मिला जुला रूप दिखाई पड़ता है।

मिश्रवधुओं ने एक बड़ा बतकर एक दूसरे लेखक को उभारा जिसने बिहारी को और भी बड़ा कवि सिद्ध किया और वे ये उस समय का सुप्रसिद्ध समीक्षक पद्यसिंह गर्मा। फिर तो देविका-इन्द्र खूब चला। इस क्रम में कृष्णबिहारी मिश्र ने साहित्यिक आलोचना को एक उच्चस्तरीय पुस्तक एक और बिहारी के नाम से प्रस्तुत की जिसमें तलनात्मक दृष्टि से विषय का स्वच्छ और प्रोत्त विवेचन किया गया था। दूसरी ओर पद्यसिंह गर्मा और सारा भगवान् ने बिहारी के पक्ष का पोषण करने में और उन्हे श्रेष्ठ सिद्ध करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इस प्रकार इस विवाद से हिन्दी समीक्षा में तुलना और सण्डन-मण्डनमूलक व्याख्या विशेषण के अगु पुष्ट हुए और रचनागत गुण दोषों का द्वारीक विवेचन करने का भाव पक्ष और कला पक्ष को सूक्ष्म ध्यानवीन करने की शक्ति का भी अभ्यास बढ़ा।

इस युग के दो अन्य महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं—पदुमलान पुन्नालान बन्गी और जगन्नाथमुन्दरदास जिन्होंने जगत् विश्व साहित्य और साहित्यालोचन नामक ग्रन्थों का प्रणयन करके पाश्चात्य सदातिक समीक्षा का स्वरूप हिन्दी जगत का सम्मुख प्रस्तुत किया। इन रचनाओं ने साहित्यविषयक पाश्चात्य दृष्टिकोण को समझने में बहुत सहायता की। बाबू साहब का साहित्यालोचन तो पिछले जगत्तम चार दशकों से हिन्दी का उच्चतम कलात्मक ध्यान का एक प्रवृत्ति व सारत्रिय समीक्षा ग्रन्थ रहा है। इस ग्रन्थ के द्वारा उम सति सत्त व पूणतर समीक्षाणास्त्र का निर्माण की मूल स्फूर्त वसित हुई जिसको वस्तुगत व स्थापयगत प्रौढता प्रदान करने का सद्दुद्योग आधुनिक समीक्षकों में डॉ० नगेन्द्र की रचनाओं में विशेष रूप से दिखाई पड़ रहा है।

शुक्लयुगीन व शुक्लनोत्तर हिन्दी-आलोचना

विश्वेदा युग तक की हिन्दी-आलोचना में अनक महत्वपूर्ण समीक्षा-तत्त्व उभरकर यज्ञ-तंत्र ऊपर आत है जा अपने आप में 'यूयाधिप' गतिक लिए भये ही दिवाई पड़े किंतु उनकी वास्तविक साधना आगे चलकर उत्भूत होवानी आचाय रामचंद्र शुक्ल की कानतिक समीक्षा म यथास्थान नियामित हाने म हा है। वास्तव में शुक्ल जी की समीक्षा व लिए पहले म ही भूमिका प्रस्तुत हा रहा थी तुलसी ने उन्हें बाध्य की नोकोपयोगिता का सूत्र दिया दो सौ बाघन बण्णवों की वात्ता चौरासी बण्णवा की वात्ता 'मनमाल आदि रचनाआ से उन्हें युग व जीवन क आनीक म कविया का विवेचन करने नया प्रभावाभिप्रेतक व तुलनात्मक समीक्षा के कुछ स्वस्य तत्त्व मिलान की सामग्री मिला सरदार कवि जैसे कवियों स मदान्तिक व ध्यावहारिक आलोचना का गाय साध विकसित करन की प्रेरणा हुई उनक विशेष प्रिय कवि घनानन्द ने उन्हें बाध्य म मौनिक गम्भीर व तान अनुभूति तथा अन्वत्तियों की मासिक पहचान की प्रेरणा दी, रीतिवादीन आचार्यों ने उन् काव्यालों के विवेचन के रिक्त जग का पूर्ण करन और आवयक सपाधन परिष्कार करने को प्रेरित किया भारते-दु रा उन्हे राष्ट्रीय आत्मा का तत्त्व नया दिवनी युग की समीक्षा मे सामाजिकता नतिवता उपयोगितावा तथा भाषा मन्कार के तत्त्व प्राप्त हुए मिश्रव-घुआ तथा दश ब्रिहागी-द्वन्द्व म गम्भीरत विद्वाना म उन् तुलनात्मक अध्ययन की प्रेरणा मिली बक्षी जा और वाजू श्यामसुन्दरनाम की रचनाआ म उन्हें पारस्वात्य सदान्तिक समीक्षा के नवीन तत्त्व प्राप्त हुए। शुक्ल जी ने इन सब तरकों का अपनी विन्तन प्रणाली म यथावयक समावेश करते हुए अपने स्वतंत्र मन्कन व मौनिक व्यक्तित्व का निर्माण किया।

शुक्ल जान हिन्दी आलोचना का स्वयं ता अनेक आयाम दिए ही उनक परवर्ती आलोचकों ने भी इन गिा म पापक काय किया। यहाँ हम सभी प्रमुख आलाचना की चर्चा न करके आचाय शुक्ल के अतिरिक्त शुक्लनोत्तर आलोचना-शात्र के तान प्रतिष्ठित आचार्यों—नन्दुगारे वाजपेया हजारीप्रसाद द्विवेदी नगेंद्र—के हितक पर गतिप व सामूहिक दृष्टिपात करेंगे।

आचाय रामचंद्र शुक्ल

आचाय शुक्ल की हिन्दी का मवप्रथम मौनिक और प्रौढ़ समीक्षा होने का मोरव प्राप्त है। व साहित्यिक व गतिहासिक दोना प्रकार के महत्व म सम्पन्न हिन्दी के एक गण शिगत्र आचाय हैं जिन्हाने पाठ्याभ्यास और व्यक्तिक जीवनानुभूति के माग म निर्मित अपने मौनिक विन्तन व सुन्द सूत्र में भारतीय व पारस्वात्य समीक्षा-पक विचार-सरणिया का सप्रतिष्ठित जीवन मूल्या के आलाक म गुम्पित किया है और समीक्षा को ऊचा अर्थ व आगय प्रदान किया है। बाध्य-शात्र म तुलसा उनक सर्वाधिक प्रिय व आत्मा हवि हैं जिनम उनक मन प्राण आत्मा व विचारणा की समवेत मनुष्टि हो जाती है। उन्ने बाध्य कता और साहित्यिक विविध उपकरणों पर क्षात्रौय व स्वतंत्र विचार भूमि पर स्वल्प निर्धारणपरक मूढम व मौनिक सदान्तिक विवेचन

तो किया ही है कुछ अर्थ महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी सत्रया मंत्रीन ढंग से विचार करके सद्धान्तिक विचारणा को गहरी गति व उत्तमना प्रदान की है और इस प्रकार वचारिक ऊहापोह के लिए अटूट सामग्री प्रस्तुत कर दी है।

कविता के स्वरूप दार्शनिक और सम्भावनाओं पर उन्होंने हिंदी में पन्ना बार तलस्पर्शी व प्रौढ चिंतन प्रस्तुत किया है। सौन्दर्य जैसे सूक्ष्म विषय पर उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि से सक्षिप्त, किन्तु मूलग्राही विवेचना प्रस्तुत की है। प्रकृति-सौन्दर्य का साहित्यिक दृष्टि से तात्त्विक विवेचन उनसे पूर्व नहीं किया गया था। रस-तत्त्व का उन्होंने गम्भीर अनुशीलन किया है। पंडितराज जगन्नाथ व बाद साधारणीकरण के सिद्धान्त का उन्होंने ही मौलिक ढंग से प्रतिपादन करके उसके पुनराख्यान व पुनर्स्थापन का प्रयत्न किया। लोकमंगल का अपनी प्रिय भावना के आधार पर उन्होंने साहित्य की रोचक व्याख्या की है। रहस्यवाद पर भी उन्होंने अत्यन्त विगन्तापूर्वक और निगमात्मक दृष्टि से विचार किया है। गली के सौन्दर्य का पूर्ण महत्त्वांकन करते हुए भी उन्होंने वस्तु-तत्त्व को ही प्रमुखता प्रदान की है। उनकी समीक्षा की वास्तविक दार्शनिक उसमें निरूपित साहित्यिक आदर्शों में सम्भवतः उतनी न होकर उनका सशक्त व मौलिक व्याख्यान में है। एक भावक के रूप में वे अपनी पत्नी व गहरी सबदना से हम सबत्र प्रभावित करतु हैं।

मूलतः नविकता और लोक धर्म के आधार पर खड़ी उनकी समीक्षा पद्धति की अनक सीमाएँ व अभाव विद्वान विचारकों द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं और बराबर किय जा रहे हैं फिर भी वे हिंदी समीक्षा जगत में अपराजेय शक्ति बन रहकर अडिग हैं। इस सम्बंध में डा. नगेन्द्र का मत उल्लेखनीय है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में वदाचित यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

गुस्तातर हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने गणल जी के वृत्तित्व का सम्यक विश्लेषण व मूल्यांकन करते हुए उनकी सीमाओं का स्पष्ट निर्देण किया और उनके रचनाणा की पूर्ति का प्रयत्न करते हुए अपनी मौलिक स्फूर्तियाँ में समीक्षा को नयी दिशा व गतिशीलता भी प्रदान की। उन्होंने परम्परागत रस की दान का यथावत् प्रबल आग्रह न रखते हुए कुछ अधिक मुग्गे चित व मदुल मान तयार किए जिन्हें उनके घण्टा में रचनात्मक जीवन चेतना में समाविष्ट किया जा सकता है। उनके विचारानुसार यदि मूल रचनात्मक जीवन चेतना उपस्थित है तो मग्गा प्रकार की साहित्यिक वस्तु (सुभात्मक व दुःखारमक दोनों ही) के श्रेष्ठ व वविध्यपूर्ण होने की पूर्ण पूर्ण सम्भावना है।

वाजपेयी जी ने महत्त्व व क्रम में काव्योत्कष के अपने कुछ विगिष्ट सूत्र भी न्दिये हैं। त्रिनम उनकी समुन्नत कला-दृष्टि व मनोविधान का स्पष्ट निर्देण हम प्राप्ता

हो जाता है। जया जया उनका समीक्षा-दृष्टि प्रौढ़ और विकसित होता गई है। या त्या ये सूत्र उनकी समीक्षा के अन्तिम अंग हात मये हैं। उन्होंने अपन लिए जो मान व मूल्य बनाये हैं वे साहित्य के मानमिक और कथारमक उत्कृष्ट का आवलन करन के लिए हैं। उन्होंने 'सम्भवन' से परे 'हकर साहित्य-समीक्षा का प्रकृत पद्य बढ़ा है। इस अन्वयण में काव्य की सामयिक प्रेरणा का भी योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। सम्भवन उनकी मूल्यांकन-दृष्टि उनका हम कथन से प्राप्त हो सकती है। किसी काव्य का या साहित्यिक कृति का श्रेष्ठत्व किसी मवेदन या रसविशेष में नहीं है बल्कि उस सवदन की मनावर्तनिक प्राज्ञलता पुष्टता और गहराई में है।^१ आह्लासमूत्रक तीव्र मार्मिक अनुभूति और उसका कलापूर्ण मुष्ट अभिव्यक्ति को ही काव्य-समीक्षा का निरापण आधार मानकर चलना एक स्वस्थ व वास्तविक दृष्टि ही समझी जायेगी। इसी दृष्टि के पावक उन्नायक होने के कारण वे मौल्यवादी समीक्षक के रूप में हिन्दी जगत में नितान्त प्रसिद्ध हैं।

आचार्य वाजपयी द्वायावाक्य व उसकी काव्य गती के एक समय व्याख्याता और उन्नायक के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। उनकी समीक्षा गली ध्यावहारिक समीक्षा का उच्च आत्मा प्रस्तुत करती है। पात्रों के चरित्राच्छादन में उनकी दृष्टि किसी कोरे नतिक फामूल को लेकर तुरन्त ही मन्-असत का निणय नहीं कर देती। मानव प्रकृति के विविध गुणों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया युग के प्रसंग परिस्थिति आदि पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किये बिना वे पात्र का चरित्र नहीं आकत। डा० देवराज के गद्य में वाजपयी जो सम्पूर्ण जय में अपना युग के लेखक हैं।^२ उनकी मद्धान्तिक समीक्षा ध्यावहारिक समीक्षा में ही समाप्ति हुई है। हिन्दी गाय-जत्र के पुरस्कर्ताओं में भी उनका नाम मूढ्य लेखकों में है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद शिल्पी हिन्दी के मूढ्य जाओचका मस हैं। अपना नितान्त मौलिक समीक्षा दृष्टि, प्रगाढ़ जीवनाभ्यास विगत मानव-महानुभूति व स्वच्छ प्रतिपादन गती के कारण वे गुणोत्तर शिल्पी-समीक्षा के क्षेत्र में अतुंगी महिमा से समर्पित होकर प्रतिष्ठित हैं। उनका समीक्षा-दृष्टि आचार्य गुणन की लोक मगल का मूल दृष्टि का प्राय विगत ध्यास्थान नहीं जा सकती है। जीवन-तत्त्व की गवयणा व ध्यास्थान में शिल्पी जी का गहरी रुचि व प्रीति है। इस तत्त्व-बोध में उनका भीतर के जिज्ञामु का रूप पूरा पूरा खिना है। जीवन-तत्त्व की उनकी उक्त जिज्ञामा कोरी एकडमिक नहीं है। वह मानव मानव समाज व मानव-समृद्धि को और उनके पारस्परिक अन्तर्गत का समझन में सहायक हुई है। मानव का समझने का उनका प्रयास एतना हासिक है कि उनकी चरम परिणति में द्विवेदी का साहित्य में मानवतावादी मूल्या के एक नीरम्य

१ नया साहित्य : नये प्रश्न (१९५९) लखनऊ (भूमिका), पृष्ठ २९

२ हिन्दी-आलोचना की अर्धशताब्दी प्रवृत्तियाँ (राजकमल प्रकाशन), भूमिका पृष्ठ ३

उनायक व रूप में अनुपनीय समझे जाते हैं। उनके सामन्य मस्मृति का एक अत्यन्त ही व्यापक रूप है। स्वयं साहित्य भी जिसे हम प्रायः एक आमपदवर्तित वस्तु मान बैठते हैं उनकी दृष्टि में मस्मृति का ही एक रूप अभिव्यक्ति या शली है। इंगीति के साहित्यिक प्रसाहित्यिक की प्रयास छटनी करने के पास नयी सिगाई पड़ते। जो कुछ भी साहित्यिक व मानवीय महत्त्व से सम्बन्धित है वह सब कुछ उच्च कोटि की साहित्यिकता से प्रेरित शली में विद्यमान होने पर वनात्मक साहित्य ही है।

द्विवेदी जी की मूलदृष्टि मानववादी है। वगैरे का प्रप्रय देनेवाली समाजशास्त्रीय दृष्टि से उनकी मानवीय साहित्यिक समाजशास्त्रीय दृष्टि सहज ही पथक करके देखी जा सकती है। द्विवेदी जी के समीक्षा निरूपण के निर्माण में जीवन तत्त्व मानवता मस्मृति व समाजविषयक चिन्तन का पूरा पूरा समावेश है। सिद्धांतों की व्याख्या में उनका व्यावहारिक समीक्षक रूप अत्यन्त आक्षेपक है। उच्च साहित्यिक गुणों की अतिरिक्त व्यापक मानव-संवेदना जीवनास्था उच्च मत्स्या के प्रति गहरी निष्ठा जावन स्वीकृति दृढ़ता स्पष्टता उत्कट भागा सहज औदाय आदि व्यक्तिगत गुणों के रस में पगी उनकी उचित व्याख्या अत्यन्त महिमागानिनी बन गई है।

द्विवेदी जी ने साहित्य कला काव्य आदि को दखन परखने की एक ऐसी नवीन व आक्षेपक दृष्टि ही दी-साहित्य को प्रदान की है जिससे शास्त्रीय दृष्टि से प्रायः साहित्येतर या साहित्यवाह्य सभी जानेवाली पुष्कल सामग्रियों का यथोचित या वाञ्छित मूल्य आका जाने लगा है और उसे साहित्य की गौरवमयी निधि में सम्मिलित किया जाना लगा है।

आचार्य नगेंद्र

पुस्तोत्तर समीक्षा के क्षेत्र में डा० नगेंद्र का हिन्दी के मूल्या समीक्षकों में अपना विनिष्ठ स्थान है। उनका समीक्षात्मक कृतित्व व्यापक व विविध्यपूर्ण है। आचार्य शुक्ल के कृतित्व का गम्भीर अध्ययन करके उन्होंने हिन्दी के अग्र समीक्षकों के साथ हिन्दी समीक्षा के अगा को सुभर व उसके व्यक्तित्व को मौलिक व बलिष्ठ बनाने का अनवरत उद्योग किया है। सिद्धांतिक आलोचना उनका अपना विनिष्ठ व प्रिय शक्ति है। उन्होंने भारतीय और पश्चात्य काव्यशास्त्र का विधिवत् व गम्भीर अध्ययन किया है और उसके स्वतंत्र तथा तुलनात्मक अध्ययन की उपलब्धियाँ से सम्बन्धित हो एक ऐसे सरिलिष्ट व परिपूर्ण काव्यशास्त्र के निर्माण का उपक्रम किया है जिसमें पूर्व और पश्चिम की काव्य चिन्ता की प्रामाणिक तथा परिनिष्ठित उपलब्धियाँ समजित की जा सकें और जो अष्टम काव्य के मूल्यांकन का यथासम्भव निरापद निकष प्रदान कर सकें। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के अनेक प्रकारस्तम्भवत उपजीव्य ग्रन्थों की पाठित्यपूर्ण विगद भूमिकाएँ लिखकर और उनमें पश्चात्य काव्य-तत्त्वा का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उन्होंने काव्यशास्त्र के जिज्ञासुओं व अध्ययताओं का अशेष उपकार किया है।

व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में डा० नगेंद्र ने अपने युग के विशिष्ट कृतिकारों और उनकी कृतियों की मौलिक काव्यशास्त्रीय व स्वच्छन्द व्याख्या की है। छायावाद

की कायत्री का रस रंगन बनाने में आचार्य वाजपयी के साथ डा० नगेन्द्र का नाम भी अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। 'रीतिकान्त' की भूमिका म दव का अध्ययन नामक अपने टी० निट० क गोपब्रथ के द्वारा उन्होंने हिन्दी के उपनिषत्प्रिय रीतिकान्त का वनानिक पद्धति से विरचण व मूर्यावन करके अपनी परिष्कृत व उ नत कला रुचि का तथा तत्त्वाभिव्यक्ति मनीषा का, परिचय दिया है।

रस सिद्धांत नामक नवीनतम ग्रंथ डा० नगेन्द्र की दीर्घकालीन साहित्य साधना का गुणरिपवव फल है। इसमें रस सिद्धांत व उदभव और विकास का ऐतिहासिक और तात्त्विक भूमि पर क्रमवद्ध निरूपण किया गया है और अन्त में रस सिद्धान्त के प्रति समय समय पर उठे हुए प्रायः सभी प्रश्नों और गवाजा पर तब व प्रमाणपूर्वक विचार करके एक सावकालिक सिद्धांत के रूप में उसकी पुनःप्रतिष्ठा की गई है। यह ग्रंथ लेखक की भाववित्री प्रतिभा का चरमोत्कृष्ट ही कहा जायगा।

हिन्दी में शाश्वत विषयक सद्धान्तिक चिन्तन के क्षेत्र में भी डा० नगेन्द्र का योगदान स्तुत्य है। शोध और आलोचना के सम्बन्ध का स्पष्ट आख्यान कर उन्होंने दोनों की कृत्रिम सीमाओं को दहाते हुए आदर्श समीक्षा को आत्मा अनुसंधान और आदर्श अनुसंधान को उत्तम गोप के रूप में ग्रहण करने की धारणा प्रतिपादित की है। इस प्रकार साहित्य तत्त्व व एक समय आख्यानकार एवं उदभावनाकार के रूप में डा० नगेन्द्र का स्थान आधुनिक हिन्दी समीक्षक में अत्यन्त उच्च है।

सद्धान्तिक आलोचना

'प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽयं सिद्धांत (तकभाषा)। प्रामाणिक रूप से स्वीकार किये जानेवाले अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं। सिद्धांत के भेदों में से द्वितीय भेद 'प्रतिपत्ति सिद्धांत विरोध शास्त्र में (साहित्यशास्त्र में जैसे रस सिद्धान्त) माना जाता है। किन्तु आज जबकि मानव ज्ञान के अधिकाधिक सन्निकष से प्रसूत विचारणा व आलोचन में साहित्य या काव्य-तत्त्व पर विशद विचार हो रहा है तो सिद्धांत के अर्थ सभी भेद (सर्वतन्त्र अधिकरण अभ्युपगम) पूणत भुलाये नहीं जाते या जा सकने। नवीन काव्य मूल्यांकन के अन्वेषण व निर्माण की प्रक्रिया के बीच यह बात आज देखी जा सकती है।

सद्धान्तिक आलोचना समीक्षा का, उसकी प्रक्रिया पद्धति के आधार पर किया गया एक महत्त्वपूर्ण प्रकार का भेद है। उदात्त क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें समस्त काव्यांग काव्य-तत्त्व, काव्य हेतु काव्य प्रयोजन काव्य भेदोपभेद काव्य लक्षण, काव्य-स्वरूप काव्य प्रक्रिया काव्य त्रिकोण (कवि समाश्रय पाठक) काव्य पद्धतियाँ काव्य शिल्प काव्य-साहित्यविषयक वाद प्रवाद—इन सब का अग्रभूत स्वतन्त्र या सन्निवृत्त तात्त्विक विचार समाविष्ट रहता है। यद्यपि प्रसार से तथा नवीन साहित्य रूपा के उदभव और विकास से आज जबकि साहित्य की परिधि परम्परागत काव्य-परिधि को साँपकर और भी विस्तृत हो गई है और कवि, वाग्म्यास्वात्मकर्ता आलोचक और काव्य निर्माण की प्रक्रिया की सूक्ष्मतर विवेचना होने लगी है तो सद्धान्तिक आलोचना के विपुल विस्तार की

उनायक क रूप में अनुवनीय समझ जाते हैं। उनमें सामान्य मस्तिष्क का एक अत्यन्त ही व्यापक रूप है। स्वयं मान्दित्य भी जिसे रूप प्रायः एक आशयवर्तित वस्तु मान बैठते हैं उनकी दृष्टि में ससृष्टि का ही एक रूप अभिव्यक्ति या शक्ति है। इमोतिवक व साहित्यिक असाहित्यिक की बजादा छटनी करने के पक्ष में नती सिद्धि पढ़ते। जो कुछ भी सासृष्टिक व मानवीय महत्त्व से गर्भित है, वन्मव कुछ उच्च कोटि की हासितना से प्ररित शली में विरयस्त होन पर वनात्मक साहित्य ही है।

द्विवेदी जी की मूलमि मानववादी है। वग न के प्रप्रय देनवाती ममाज शास्त्रीय दृष्टि से उनकी मानवीय सासृष्टिक समाजशास्त्रीय दृष्टि सहज ही पयक करके देखी जा सकती है। द्विवेदी जी के समीक्षा निरूपक व निर्माण में जीवन तत्त्व मानवता ससृष्टि व समाजविषयक चिन्तन का पूरा पूरा समावेश है। सिद्धांतों की व्याख्या में उनका व्यावहारिक समीक्षक रूप अत्यन्त आक्षेपक है। उच्च साहित्यिक गुणा व अति रिक्त व्यापक मानव सवेत्ना जीवनास्था उच्च मत्याप प्रति गहरी निष्ठा जावन स्वीकृति ळना स्पष्टता उत्कट आगा सहज औदाय आसि यक्तिगत गुणा के रम में पगी उनकी उक्त व्याख्या अत्यन्त महिमागातिनी बन गई है।

द्विवेदी जी ने साहित्य कला काव्य आदि को देखने पररत्ने की एक ऐसी नवीन व आक्षेपक दृष्टि हिन्दी-साहित्य को प्रदान की है जिससे शास्त्रीय दृष्टि से प्रायः साहित्यतर या साहित्यवाह्य समझी जानेवाली पुष्कल मामग्री का यथोचित या वाछिन मूल्य आका जाने लगा है और उसे साहित्य की गौरवमयी निधि में सम्मिलित किया जाने लगा है।

आचार्य नगेन्द्र

गुजलोत्तर समीक्षा के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र का हिन्दी के मूढय समीक्षका में अपना विनिष्ट स्थान है। उनका समीक्षात्मक कृतित्व व्यापक व वविध्यपूर्ण है। आचार्य गुजल के कृतित्व का गम्भीर अध्ययन करके उन्होंने हिन्दी के अय समीक्षकों के साथ हिन्दी समीक्षा के अगा को सुभर व उसके व्यक्तित्व को मौलिक व बलिष्ठ बनाने का अनवरत उद्योग किया है। सद्धातिक आपोरना उनका अपना विनिष्ट व प्रिय क्षेत्र है। उन्होंने भारतीय और पारचात्य काव्यशास्त्र का विधिवत् व गम्भीर मयन किया है और उसके स्वतंत्र तथा तुलनात्मक अध्ययन की उपलधिगा से सजित ही एक ऐसे सश्लिष्ट व परिपूर्ण काव्यशास्त्र के निर्माण का उपक्रम किया है जिसमें पूव और पश्चिम की काव्य चिन्ता की प्रामाणिक तथा परिनिष्ठित उपलधियाँ समजित की जा सकें और जो ळठनम काव्य के मूयावन का यथासम्भव निरापद निरूपक प्रदान कर सकें। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के अनेक प्रकास्तम्भवत उपजीव्य ग्रन्था की पाठित्यपूर्ण बिनाद भूमिकाएँ निरन्तर और उनमें पारचात्य काव्य-सत्त्वा का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उन्होंने काव्यशास्त्र व त्रिणामुओं व अध्याताओं का अनेप उपकार किया है।

व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र ने अपने युग के विनिष्ट कृतिकारों और उनकी कृतियों की मौलिक काव्यशास्त्रीय व स्वच्छन्द व्याख्या की है। छायावा

साधारणीकरण का विषय

गुवन जी का मत है कि जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः उसके उसी भाव का आलम्बन ही सने तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण गति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। विषय को ही किसी रूप में लाया जाता है अतः सिद्ध है कि साधारणीकरण उसी का होता है। दूसरे शब्दों में साधारणीकरण आलम्बन का होता है। गुवन जी आगे कहते हैं— इसमें सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। प्रकृत तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उभय घोड़ा बहुत होता है। उनका मत को लेकर हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र ने एक रोचक आपत्ति उठायी है। वे इस सिद्धान्त से सहमत नहीं कि साधारणीकरण आलम्बन का होता है उनका निष्कर्ष यह है कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई कवि अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकता है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक ग्लानि में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की गति वर्तमान है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका उपपत्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसके द्वारा साधारणीकरण का अपवादी स्थिति—आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन के साथ साधारणीकरण का न होना—के निराकरण का भाग स्वच्छ हो गया है। गुवन जी ने भी कवि की अनुभूति (भाव) के साधारणीकरण (तादात्म्य) की बात दो स्थलों में मानी है एक तो वहाँ जहाँ किसी प्राकृतिक दृश्य का यथातथ्य चित्रण हो दूसरे वहाँ जहाँ आश्रय के दुराचारी कृत्यों के कारण हमारे मन में उसके प्रति घना क्रोध आदि के भाव जग जाए और हम नील द्रष्टा बन जाए। पहली स्थिति में किसी अन्य आश्रय के न रहने के कारण हमारा तादात्म्य कवि के भाव से ही हो सकता है और दूसरी स्थिति के लिए गुवन जी ने स्पष्ट कहा है— इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस आश्रय भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सघटित करता है। इस अवतरण से प्रकट है कि अपने मूल रूप में यह स्थापना आश्रय गुवन के विवेचन में विद्यमान थी वे कारणवश—आश्रय और पाठक के भावात् एकीकरण तथा दोनों के आलम्बन के एकीकरण की प्रक्रिया को ध्यान में रखने तथा कवि की अनुभूति व साधारणीकरण की बात को अत्यन्त गारम्भिक समाधान मानने के कारण—इसे सामान्य नियम के रूप में ग्रहण न कर गये।

अभिव्यजनावात्

अभिव्यजनावात् का प्रवर्तन इटली के आलोचक बोचे ने किया। गुवन जी ने उनका मत का तीव्र प्रतिवाद अपने शरीरवात् भाषण में किया था। विरोध का मुख्य कारण यथा कि बोचे अतवादी थे और गुवन जी अतवादी। प्रायः कला को बोध

स्वरूप या भान-स्वरूप मानते थे। गुवल जा की दृष्टि में भावना द्वारा नहीं बुद्धि द्वारा ज्ञान की प्राप्ति सम्भव थी। श्लोक कला की निराकार अनभिध्ववन भानमी सत्ता की प्रधानता स्त थ। गुवल जी के लिए यह असह्य था। श्लोके अलकार और अलकाय में कोई अन्तर मानन का तयार नहीं थ, किंतु गुवल जी उस किता भी मूल्य पर बनाय रखन को कटिबद्ध थ। इम मदम में यह कहना उचित होता कि गुवल जी का अपना स्वतंत्र काय धारणा था और वे अपने मन को बलपूर्वक प्रस्तुत किया करते थ।

काव्य में प्रकृति चित्रण

गुवल जी न काय में प्रकृति चित्रण के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार व्यक्त किए हैं। उनका विचार स प्राकृतिक दृश्य दो रूपों में हमारे समक्ष उपस्थित होत हैं— (अ) आलम्बन रूप में (आ) उद्दीपन रूप में। आलम्बन-रूप ही काव्य में चित्ताकषक बनता है। कारण यह है कि जिन प्राकृतिक दृश्यों का श्लोक हमारे आदिम पूर्वज रच और अब भी मनुष्य-जाति का अधिकांश (जा नगरों में नहीं जा गया है) अपनी जायु व्यतीत करता है उनका प्रति प्रेम भाव पूर्व साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या दासना का रूप में हमारे अन्त करण में निहित है। उनका दृशन या काव्य आदि के प्रदशन में हमारा भीतरी प्रकृति का जा अनुरजन होता है वह अम्बीकृत नहीं किया जा सकता। इम अनुरजन का केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपना जडता का लिंगोरा पीटना है। इससे दो तथ्य प्रकट हाते हैं—(१) परम्परागत चित्र साहचर्य के कारण प्रकृति प्रेम हमारे भीतर संस्काररूप में निवास करता है। (२) इसलिये प्रकृति सम्बन्धा अनु रजन को केवल किसी भाव का आश्रित बनाना या किसी दूसरे भाव का उत्तेजक मानना अनुचित है। गुवन जी प्रकृति प्रेम को भी दृग प्रेम का ही अधिक स्वच्छ परिष्कृत जोर अनुरजन रूप मानते हैं। उनका अनुसार प्रकृति वणन में मनुष्य का निधाजा आर भाव नाशा का आरोप एक निश्चित मर्यादा के भीतर ही हो सकता है। वह कहते हैं इमी प्रकार अभि यक्ति की प्रकृत प्रतीति का भीतर प्रकृति का सच्ची व्यजना का आधार पर जो भाव, तथ्य व उपपत्ते निकाले जायेंगे वे सच्चे काव्य हांग। यह सब उांति स्वीकार किया अवश्य पर व इस प्रकार का वणन को कवि-कर्म का अत्यंत साधारण अंग ही मानते थ।

काय का वर्गीकरण

गुवल जी न काय का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया एक का तत्त्व-दृष्टि दूसरे की रूप-दृष्टि कह सकते हैं। पहली में रमणीयता का कोटिश्रम रस का आधार पर निधा रित किया गया है और दूसरी में काव्य रूप के बाह्य एक आन्तरिक विधान का ध्यान रखा गया है। जिस प्रकार वे रसात्मक अनुभूति का विभिन्न काटिया मानत है उया प्रकार इस अनुभूति के लिए विषय प्रस्तुत करनेवाले कविया और काव्या की भी ऊंची नीची कोटिया निर्धारित करत हैं। जो कवि लोक सामान्य आलम्बना के विधान का प्रयास करते हैं और उसमें सफल होते हैं उन्हें उन्होंने सञ्जे और ऊंचे कविया की श्रेणी में

रखा है किन्तु जो कवि भावों के लिए उपयुक्त विषय प्रस्तुत करने के बजाय केवल आलंकारिक चमत्कार पर ही अपना ध्यान केंद्रित कर देते हैं या कोरे उपमा के लिए छंद योजना का आश्रय लेते हैं वे सूक्तिकारा अथवा नीतिकारों की श्रेणी में डाले गए हैं। कविता और सूक्ति में उद्भेद स्पष्ट भेद स्थापित किया है। जब तक उक्ति की तटम रहनेवाला भाव बिलकुल ही आच्छन्न न हो जाये अर्थात् प्रस्तुत अर्थ का सोपान हो जाये तब तक उसे काव्य मानना समीचीन है। तुलसी 'सूर' आदि के साथ रहाम को 'गबल' जो ने कवियों की श्रेणी में माना और सूक्तिकारा की अलग श्रेणी बनाते हुए कहा कि 'रीतिवाल के भीतर बंद गिरिधर घाघ और बताल अच्छे सूक्तिवार हो गए हैं। जो अपने पद्यों में वस्तु या अर्थ का बोध कराने के लिए उपमा रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं पर समझाने के लिए ही करते हैं रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए नहीं ऐसे व्यक्तियों को वे केवल पद्यकार कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे काव्यकारा की उन्नत तीन कोटियाँ निर्धारित करते हैं और इसी प्रकार कविता की भी तीन कोटियाँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

रस-दृष्टि से उन्होंने जिस काव्य रूप का सबसे अधिक महत्त्व दिया वह है प्रबंध काव्य। इतिवृत्त का आधार लेकर ही प्रबंध काव्य का निर्माण होता है अतः सबसे प्रथम विचारणीय वस्तु वही है। वे कहते हैं कि 'प्रबंध काव्य में इतिवृत्त की गति इस ढंग से होनी चाहिए कि भाग में जीवन की ऐसी बहुत-सी दशाएँ पड़ जायें जिनमें मनुष्य के हृदय में भिन्न भावों का स्फुरण होता है और जिनका सामान्य अनुभव प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः कर सकता है। उन्होंने यह भी बताया है कि बात इतनी ही नहीं है कि इतिवृत्त के अंतर्गत रसात्मक प्रसंगा का सन्निवेश होना चाहिए बल्कि यह भी है कि रसात्मक प्रसंगा तक पहुँचने के लिए ही नीरस इतिवृत्त की योजना की जाती है। उन्होंने इतिवृत्त के सगठन में सबसे अनिवाय और महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना घटना या वृत्ता का सम्बंध निर्वाह। यूनानी आचार्य अरस्तू ने जिसे कार्यान्वय या unity of action कहा है उसका निर्वाह गुबल जी जितना नाटक के लिए उचित समझते हैं उतना ही प्रबंध काव्य के लिए भी।

मुक्तक काव्य के सम्बंध में गुबल जी का यह वाक्य अत्यंत प्रसिद्ध है कि 'यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्पति है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुनदस्ता है। इसीसे यह सभा-समाज के लिए अधिक उपयुक्त होता है। मुक्तक में रस की धारा नहीं रहती वरन् उसके छोटे ही उदक हैं जो हृद्गत चित्त को थोड़ा धर ५ लिए सिक्त कर देते हैं। अगर भाव की दशा का की दृष्टि से विचार करें तो मुक्तक में भाव दशा या शक्ति दशा ही मिलेगी जो एक समय पर एक आलम्बन के प्रति होती है स्थायी दशा या 'गीत दशा' नहीं। शक्ति दशा मुक्तक रचना का म दानी जाती है स्थायी दशा भूतनायक मन्त्र-वाक्य आदि प्रबंधों में और 'गीत दशा' पात्रों के चरित्र चित्रण में। भाव दशा का दृष्टि से मुक्तक और प्रबंध का उन्नत भेद निरूपण संवदा मौलिक और वज्ञानिक है। प्रबंध और मुक्तक के अतिरिक्त गीत-वाक्या की स्तत्र परम्परा पर भी गुबल जी ने विचार किया है और गीत-वाक्य का मूल स्रोत जनता के बीच धिक्काल से प्रचलित 'गोव'

गीता में दखा है ।

काव्य शिल्प

शुक्ल जी न काव्य शिल्प क तीना अर्गा—भाषा, अलंकार छ—क विषय में स्फुट विचार व्यक्त किए हैं । इन पर हम क्रमशः विचार करेंगे ।

(अ) भाषा—साहित्य के भीतर शुक्ल जी न दो अभिन्न परम्पराएँ मानी हैं—एक गण की और दूसरी अण की । उनका कहना है कि 'किसी देश की गद्य परम्परा अर्थात् भाषा कुछ बाल शव चलकर जा अण विधान करती है वही उस देश का साहित्य कहलाता है ।' 'कविता क्या है ?' शीघ्र लख में उन्होंने काव्य भाषा की चार मुख्य विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनमें सबसे पहला स्थान साक्षणिकता का मिला है । उनका कहना है कि कविता हमारे समक्ष सूक्ष्म पदार्थों और व्यापारों का भी गौचर रूप में रखती है । सूक्ष्म रूप में प्रत्यक्ष करती है और उसक लिए भाषा की लक्षणा शक्ति का आश्रय लेना आवश्यक होता है । दूसरी विशेषता उन्होंने यह लक्षित की कि काव्य भाषा में जाति सन्ततबाल गण की अण भाषा व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं । जिस प्रकार अनेक व्यापारों के वाचक में उपलक्षण-सदृश पर केवल कुछ का ही चुनाव करते कविगण सार व्यापारों का समर्थित चित्र खडा कर देने हैं उसी प्रकार गण-समूहों में वे केवल उनका चुनाव कर लेते हैं जो विषय विशेष रूपों और व्यापारों के सूचक हैं और पदार्थों या श्रियाओं का गौचर रूप हमारे समक्ष रख सकते हैं । काव्य भाषा की तीसरी विशेषता उन्होंने नाम-सौष्ठव में देखी है और यह कहा है कि (कविता) नाम-सौष्ठव कविगणों का मुख्य-सहारा लेती है । भारतीय काव्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा में ही वर्णों की कोमलता-कठोरता और विभिन्न वस्तुओं का विचार इस मूल तत्त्व का ध्यान में रखकर किया गया । विचार करते समय इस ध्यान पर बराबर ध्यान रहा कि भाव का अधिक तीव्रता और पुष्टता प्रदान करने के लिए, केवल चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नहीं, वर्णों का यह सूक्ष्म भेद अपनाया जाना चाहिए । काव्य भाषा की चौथी विशेषता उन्होंने व्यक्तित्व या स्थानों के रूप-गुण-बोधक गणों में देखी है । जस गिरिधर' दीनबन्धु आदि शब्दों का साभिप्राय प्रयोग । ध्यान में रखने पर पाता है कि यह विशेषता पहले से मानी जाती रही है और अलंकार श्रिया में विवक्षित है ।

(आ) अलंकार—काव्य में अलंकार का स्वरूप और उसकी प्रयोजनायता क्या है, इस प्रश्न के ऊपर शुक्ल जी न अपने विभिन्न निरन्तरों में बड़ा गम्भीरता से विचार किया है । उनकी दृष्टि में अलंकार अण प्रणाली-मात्र है उह काव्य रस के साधक अवयव के रूप में ही ग्रहण करना युक्तिसंगत है । काव्य के साध्य अथवा उद्देश्य के रूप में अलंकारों का निरूपण नहीं ही सक्ता । उन्होंने कहा कि 'भावों का उत्कृष्ट दिखान और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होनेवाली युक्ति का नाम अलंकार है । कभी कभी का साफ अर्थ यही है कि काव्य और अलंकार का गौचर सम्बन्ध उह माय नहीं । उनके अनुसार अलंकारों की कोई निर्दिष्ट सीमा

नहीं हाँ सनती। अपना इस मायना व अनुभव ही व अनकार और अनकार्य व अभवत्व का निराकरण करते हैं। इन दोनों के एक मान जाने का उन्होंने गडबटभाला कहा है जो बहुत पहले मिट चुका। ऐसा हान व कारण ही स्वभावोक्ति का अलंकारत्व सिद्ध है।

(२) छन्द विधान—शुक्ल जी की दृष्टि में छन्द वास्तव में बड़ी हुई लय व भिन्न भिन्न ढाँचा (patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का हाता है लय स्वर व उतार चढ़ाव के छोटे छोटे लोचों ही हैं जो किसी छन्द के चरण व भीतर यस्त रहते हैं। प्रकृत काय में इन लोचों का बना रहना वे आवश्यक समझते हैं उमक मवषा र्याग स ता उह अनुभूत नाद सौन्दर्य की प्रपणीयता (Communication of Sound Impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखायी पड़ता है। किन्तु वे कविता में केवल नय स पूरा पड़ता नहीं देखते व छन्द की आवश्यकता समझते हैं जो कविता में बल उतने ही नाद-मादय की जरूरत समझते हैं जितना बल लय के द्वारा सिद्ध हो जाता है उतना हमें कुछ बचना नहीं है। हम अधिन की जरूरत समझते हैं और वस्तु से योग गायद एमा हा समझते हैं। छन्दा के नय विधान भी शुक्ल जी को अमान्य नहीं। मात्राशा और गण समूहों के घटाने बढ़ाने से सन्नायित छन्दों में यदि नया संगीत उत्पन्न हो सके तो यह भी उह स्वीकार्य है। इसी प्रकार कविता का तुका त होना भा व अनिवाय नहीं समझते।

व्यावहारिक आलोचना

शुक्ल जी का व्यावहारिक आलोचना में उनकी साहित्यिक मान्यताओं का अत्यन्त सफ़्त विनियोग दिखाई पड़ता है। वास्तव में सिद्धांत-मीमांसा और व्यावहारिक समाक्षा को उन्होंने अतना धुला मिला दिया कि दोनों को अलग अलग करना प्रायः असम्भव है। सिद्धांत और प्रयोग का यह सामंजस्य ही उनके आलोचक विवेक की वास्तविक महत्ता प्रकट करता है। आचार्य व पास एक ऐसी रस दृष्टि है जो काय कारण शृंखला का अप ना नहीं रखती और सहज भाव से रचना के मूल तक जा पहुँचती है। तर्क का योजना तो बाद में हाती है और उसमें विचार व लिए गजाइंग होती है। किन्तु उक्त प्रकार का रस-दृष्टि तो अन्तर विवादात्तात हाती है। जहाँ तक उस रस-दृष्टि का प्रश्न है आचार्य शुक्ल की तर्कना में हिन्दी का अर्थ आलोचक नहीं ठहर सकता। इस दृष्टि व कारण उनकी आलोचना के सबसे मूल्यवान् आरंभिक प्रसंग व है जहाँ वे कविता की भाव सम्पत्ति का मूल्यांकन करते हैं। उनकी सारा व्यावहारिक आलोचनाओं को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—पहले वर्ग में वे समीक्षाएँ हैं जो तुलसी जायसी आदि कविता के ऊपर लिखी गयी हैं और दूसरे वर्ग में वे विवेचनाएँ हैं जो का प्रधारा—छायावादी आदि—का मीमांसा के रूप में हैं। यहाँ इन पर सक्षिप्त विचार किया जा रहा है।

तुलसी की आलोचना शुक्ल जी ने तुलसीदास का अपना समीक्षा में काय के अन्तर्ग और यहिरग का सम्यक निरूपण करने के लिए प्रारम्भ व ११३ पृष्ठों में

तुलसी का भक्ति पद्धति, प्रकृति और स्वभाव, लाव धम, धम और जातपयता का सम-
 वद, मगनागा, लाव-नाति और मयागवा शील, माधना आर भक्ति तथा जान का
 विवचन किया और बाव क गात अध्याया (तुलसी की वाक्य पद्धति उचित वचि-
 मापा पर अधिकार आदि) म तुलसी का कला पत्र का उदघाटन किया। दोना पत्रा म
 अलग अलग निदपित हा जान से तुलसी की आलाचना प्रवीण हो गयी। गुलजी का
 साहित्यतर मायताए अधिकतर एसा पुठन म स्पष्ट दृष्ट हैं। उहान तुलसी का लाव
 धम का मच्छा व्याख्याता माना है। जा प्रमग चित्त की द्रवित करवाल र उनका
 विवचन उहान पूग भावुकता और नमयता म विधा है। जहाँ बाव क मार्मिक प्रभाव
 को विवेचना का विषय बनान म व असफल र वहाँ प्रभाववाला समीभक का भानि
 कवन इतना हा क मव नि इग मनाइ क मामन ुडारा बकाला का मफाइ बुद्धि
 है। इन कममा क सामन लाछा काम कुछ नहा र। महाँ वह हृदय खोलकर गउ दिया
 गया है तिसका पवित्रता का दन का चा अपना हृदयनिभल कर ल। उन वित्तया म
 मितपण विनकुल नही र केवल मनवन का आवण ह लेकिन ऐमा पवित्रता की मरया
 बहुत अधिक नहा है।

सूरदास की आलोचना मूर साहित्य का गुलजी न लाव मगन का सिद्धा
 वस्या का निरूपक बनाया है इसीलिए मका मून प्ररक भाव कथा न हानर प्रेम म।
 जानर का निद्रानस्था का लकर चनवाव का या म उनक अनुसार नगा की धमक
 गजन तजन आर हुनार नहा विप्लव धम और हाहानार नहा वग और तन का
 विमिता नहा बकि दाखि माधुय और कामता का म्निग्य भूमि म नहलहात सरम
 प्रसार आर परिमन पतिन पुष्पहाम का बल-कण्ठ कूञ्ज धन ह म और उलास का
 मूल और तरगमया धारा का मानस-लाव म। मूर का वाक्य तपन इसा दाखि
 माधुय और कामलता के आगम स उद्भासित ह। मर बूधा क्ता जाता है कि मूर
 का आलाचना म गुलजी का अधिक उदार हुना चाहिए था। म जान मय म।
 मूरदास को यथावित सहानुभूति उनस नहा मिला। वास्तव म गुलजी उ पहले जाला
 चकी न तुलसी का निदा अथवा मूर का प्रसा म जा बुझ कहा था उग सब को
 प्रमान उनक उन श्रुतिको म निष्ठाधी पता र। गुलजी इन जापवा का निराकरण
 करन म हा अधिक कठार हो गए हैं।

जायसी की आलाचना जिनका त मयता तगन और निष्ठा क साव गुलजी उ
 न जायसा का आलाचना त्रिही उनका त मयता स और कविया का नहा। जायसा का
 अध्ययन अनर दिवात्रा म आग बरता चला गया है और उनका साधना पद्धति आर
 मूरी भावना का पवास्त विरूपण हा सुरा है किन्तु गुलजी की रमात्रिणिना दखि न
 पदपावत के वास्तविक सादय का निरूपण किया यर अब तन सभमाव ह। जायसी
 म दान आर सिद्धान्त क सम्बन्ध म हमारी जानकारी जात्र बहुत ब गयी है किन्तु
 वाक्य रस का आस्वादन करन म हम नमग उमा म्पर पर हैं जहाँ गुलजी हम छा
 गए व। उनक प्रभाववाला आलोचक-व्यक्तित्व का यह प्रबन प्रमाण है।

छायावा का विवचन छायावादी वाक्यधारा को आचार्य गुलजी न अपनी

सहानुभूति नहीं दी। ऐसा अनेक आलोचकों ने कहा है। वे उसके विरोधी थे यह भी सिद्ध किया जाता है। लेकिन इस बात पर बल नहीं दिया जाता कि उसके कुछ तत्वों की उन्होंने पर्याप्त हिमायत की है। छायावाणी कविता की कुछ धुनी हुई दृष्टियाँ का ही गुक्त जी विरोध करते रहे उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ के प्रति व असहिष्णु भी थे। आगे चलकर जब नूतन कायधारा का रूप निरंतर आया तब उन्होंने उसका साथ लगभग सम्भोजन-सा कर लिया। छायावाद का रूप रग बनाकर आजकल जो बहुत-सी कविताएँ निकली हैं उनमें कुछ तो बहुत ही सुंदर स्वाभाविक और सच्ची रहस्य भावना सज्ज चर्चा हैं कुछ वादग्रस्त और कृत्रिम हैं और अधिकांश कुछ भी नहीं हैं। गुद्ध काय-दृष्टि का प्रचार हो जान पर पूर्ण आगा है कि कूट-करवट के डर में सच्ची स्वाभाविक रहस्य भावना अपना माग अवश्य निवाल लेगी और हिन्दी काव्य क्षेत्र की यह गारा भी अपनी एक स्वतंत्र भारतीय विभूति का प्रकाश करेगा।

व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में गुवल जी की उपलब्धियाँ के सम्बन्ध में अतन्त यह कहना उचित होगा कि उन्होंने एक हितधी आचार्य की भाँति नयी पीढ़ी का पथ प्रदर्शन किया है। उनके सुझावों में ईमानदारी और सहानुभूति भी है। दूसरा आर एस उदाहरणों की कमी भी नहीं जिसमें नये कवियों की कठोर आलोचना की गई हो और किसी एक दृष्टि को लक्ष्य करके उन पर नूर व्यर्थ किया गए हैं। आचार्य के दोना प्रकार के व्यवहारों को देखकर ऐसा लगता है जैसे एक सज्ज पिता अपने पुत्र का सालन पानन तो करता हो किन्तु कोई गलती करने पर क्षमा करना न जानता हो। उसे तना दुनार भी न देता हो कि आगे चलकर लडवा किगड जाए। उनके साथ छायावाणी काय का सम्बन्ध बहुत कुछ इसी प्रकार का रहा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

१

काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था

तन्त्रनि तन्नत्रनि—ईशावास्योपनिषद्

आत्मवाप और जगत्वाप के बीच जानियान गहरी खाई खाण पर हृदय न कभी उसकी परब्राह्मण का भावना तानों को एक ही मानकर चलती रही। इस दण्य तान के बीच त्रिस आनन्द मंगल का विमूनि का सातान्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा नक्तों के हृदय म भगवान के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुद्। लोक में इमा स्वरूप के प्रकाश का किमा ने रामराय' कहा किमी न आसमान का बादगात्त'। यद्यपि मुसाइयों और उनके अनुगामा ईसायों की घम-मुस्तक म आदम गुण की प्रतिमूर्ति बताया गया पर लोक के बाच नर में नारायण की त्रिय कना का सम्यक तान और उसक प्रति हृदय का पूण निवेत्न भारताय नक्तिमाग में ही त्रिवाइ पडा।

सन चित्त और आनन्द—ब्रह्म के दून ताना स्वरूपा में स काव्य और नक्तिमाग आनन्द स्वरूप को लेकर चल। विचार करन पर लोक म इस आनन्द का अभिव्यक्ति का न अवम्पाए पायी तायेंगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र म ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता उसका आविभाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जपन में न तो सग और सबत्र लहताहाता बस त-विकास रहता है न मुल-समद्विपूर्ण हास विलास। गिगिर के आतक से सिमटा और भौके भ्रतती वनस्पती की गिल्लना जीर हीनता के बीच स ही प्रमग आनन्द की अरण आना घुघली घुघनी पूरती हुई न में वसन्त की पूण प्रफुल्लता और प्रचुरता के रूप म फल जाना है इसी प्रकार लोक का पीटा बाधा अणाय त्रयाचार के बीच तबी हुई आनन्द-ज्योति भीषण नक्ति में परिणत हाकर अपना माग निकालती है और फिर भाक-मंगल और लोक रजन के रूप में अपना प्रकाश करता है।

कुछ कवि और भवन तो जिस प्रकार आनन्द मगल के मिद्ध या जाविभूत स्वरूप को लेकर गुण सौन्दर्य माधुय सुपमा विभूति उल्लास प्रम व्यापार इत्यादि उपभोग पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं उसी प्रकार आनन्द मगल का साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर पीडा दाघा अथाथ जट्टाचार आदि के दमन म तत्पर गति व मचरण म भी—उत्साह रोध कर्णा भय घृणा इत्यादि की गतिविधि म भी—पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिम प्रकार प्रकाश को फना हुआ देखकर मुग्ध होत हैं उमा प्रकार फने के पूर्व उसका अधिकार को हटाना देखकर भा। य ही पूण कवि हैं कयाकि जावन की अनेक परिस्थितिया के भीतर य सौन्दर्य का मायात्वार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को ग्रहण करनवाने कुछ एस कवि भी होत हैं जिनका मन मिद्धावस्था या उपभोग पक्ष की ओर नहा जाता जस भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवन सिद्ध स्वरूप या उपभोग पक्ष म ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख सौन्दर्यमय माधुय प्राप्ति उल्लास प्रम-त्रीडा इत्यादि व प्राच्य ही की भावना म लगता है। इमा प्रकार की भावना या कल्पना उह कना-क्षय व भीतर समभ पडती है।

उपयक्त दृष्टि स हम काव्या के दो विभाग कर सकते हैं—

(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष का लेकर चलनवात।

(२) आनन्द का सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलनेवात।

डटन (Theodore Watts Dunton) ने जिसे गक्ति-काव्य (Poetry as energy) कहा है वह हमारे प्रथम प्रकार व अन्तगत जा जाता है जिसम लाव प्रवृत्ति का परिचालित करनेवाला प्रभाव होता है जो पाठका या श्रोताका के हृदय म भावा की स्थायी प्ररणा उत्पन्न कर सकता है। पर डटन ने गक्ति-काव्य स भिन्न को जो कना काव्य (Poetry as an art) कहा है वह कला का उद्देश्य केवन मनोरजन मानकर। वास्तव म कना की दृष्टि होना प्रवार के कायाम अपक्षित है। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलनवाले काव्य म भा यदि कना म चूक हुई है तो लाकगति को परिवर्तित करनेवाला स्थायी प्रभाव न उत्पन्न हो सकेगा। यहा तक नही व्यजित भावो के साथ पाठका की सहानुभूति या साधारणीकरण तक जो रस की पूण अनुभूति के लिए आवश्यक है न हो सकेगा। यदि कला का वही अर्थ होता है जो कामगास्त्र की चौसठ कलाका म है—अर्थात् मनोरजन या उपभोगमात्र का विधायक—तो काव्य के सम्बन्ध म दूर ही से इस गल का नमस्कार करना चाहिए।

आनन्द का साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलनवात काव्यो व उदाहरण हैं—रामायण महाभारत रघुवंश शिगुर्पोलवध किराताजुनीय। हिन्दा म रामचरित मानम पद्मावत (उत्तराख) हम्मीररासो, पृथ्वीराजरासो छत्रप्रकाश इत्यादि प्रबन्ध काव्य भूषण आदि कविया के वाररमात्मक मुक्कक तथा जल्हा आदि प्रचरित वीरगाथात्मक गीत उद्ग क वाररमात्मक मरसिये। यूरोपाय भाषाका व इलियड ओल्सी पराडाइज लास् रिवाल् भाग इस्लाम इत्यादि प्रबन्ध काव्य तथा पुराने बलड (Ballads)।

आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलनेवाले काव्या के उदाहरण हैं—आर्यासप्तगता गाथा सप्तगनी अमरकान्तक गीत गोविन्द तथा शृंगार रस के पु

बल पद्य। हिन्दी म सूरसागर कृष्ण मन्त्र कविया की पदायली, बिहारी-मतसई रीति काल के कवियों के फुल शृंगारी पद्य रासपचाध्यायी जैसे वणनात्मक काव्य, आजकल की अधिवास छायावादी कविताए, फ़ारसी-उर्दू के शेर और गज़लें अग्रजी की लीरिक् कविताए (Lyrics) तथा नयी प्रकार की वणनात्मक कविताए।

आनन्द की साधनावस्था

लोक म फली हुई दुख की छाया को हटाने म ब्रह्म की आनन्द-कला जो शक्ति मय रूप धारण करती है उसकी भीषणता म भी अद्भुत मनोहरता बटुता म भी अपूर्व मधुरता प्रचण्डता म भी गहरी आद्रता साय लगी रहती है। विरुद्धा का यही सामजस्य कमसेकम का सौन्दय है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता है। इस सामजस्य का और कई रूपा म भी बसान होता है। किसी कोट पतलून हैवाल को धाराप्रवाह सहृदय बोलते अथवा किसी पन्तित वैशधारी सज्जन का अग्रजी की प्रगल्भ वकनता दते मुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार-सा दिखाई पडता है उसकी तह मे भी सामजस्य का यही सौन्दर्य समभना चाहिए। भीषणता और सरसता कोमलता और बठोरता बटुता और मधुरता प्रचण्डता और मटुता का सामजस्य ही लोकक्षम का सौ वय है। आन्कवि वाल्मीकि की वाणी इसी सौन्दय के उदघाटन महोत्सव का दिव्य संगीत है। धम और मगल की यह ज्योति अधम और अमगल की घटा को पाडती हुई फूटती है। इससे कवि हमारे सामने असीन्दय अमगल अत्याचार मलेग इत्यान्ि भी रखता है। रोप हाहाकार और ध्वस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव सारे रूप और सारे व्यापार भीतर भीतर आनन्द-बला के विकास में ही योग देते पाये जाते हैं। यदि किसी ओर उमस ज्वलन्त रोप है तो उसवे और सब ओर वरुण दधि फली दिखाई पडती है। यदि किसी ओर ध्वस और हाहाकार है तो और सब ओर उसका सहगामी रदा और कल्याण है। यात ने भी अपने जय काय म अधम के परामय और धर्म की जय का सौन्दय प्रत्यदा किया पा।

वह व्यवस्था या वृत्ति जिससे लोक म मगल का बिधान होता है अम्युदय की मिट्टि होता है धर्म है। अत अधम-वृत्ति को हटाने म धम-वृत्ति की तत्परता—चाहे यह उग्र और प्रचण्ड हो चाहे कोमल और मधुर—भगवान की आनन्द-बला के विनास की ओर बढती हुई गति है। यह गति यदि मफल हुई तो धम की जय कहलाती है। इस गति म भी सन्तरता है और इसकी सपनता म भी। यह बात नहीं है कि जब यह गति सफल होती है तभी इसम सुदरता आती है। गति म सुदरता रहती है आगे चलकर चाहे यह सपन हो चाहे विफल। विषनता म भी गक निरावा ही विषण्ण सौन्दय होता है। तात्वय यह कि यह गति आन्ि से अन्त तक सुदर होती है—गन्त चाट सपनता के रूप म हो चाहे विषनता क। उपयुक्त दाना आप कविया ने पूणता के विचार से धम की गति का सौन्दय दिखाते हुए उसकी सफलता म व्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपनैग की मुट्टि से नहीं किया है धम की जय के बीच भगवान की मूर्ति के साधात्कार पर मुग्ध होकर किया है। यदि राम द्वारा रावण का धम तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरामध

और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी रामकृष्ण की गतिविधि में पूरा सौन्दर्य रहता पर उसमें भगवान की पूज्य कला का दर्शन न होता क्योंकि भगवान की गति अमोघ है।

आनन्द-कला के प्रकाश की ओर बढ़ती हुई गति की विफलता में भी सौन्दर्य का दर्शन करनेवाले अनेक कवि हुए हैं। अग्रज कवि शेली सत्तार में फने पाखंड अयाय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य मनुष्य के बीच सीध सरल प्रभाव के सार्वभौम सत्तार का स्वप्न देखनेवाले कवि थे उन्होंने इस्लाम का विप्लव (The Revolt of Islam) नामक द्वादशसर्ग-ब्रह्म महाकाव्य में मनुष्य जाति के उद्धार में रत नायक और नायिका (Laon and Gythna) में मगल गति के अपूर्व सचय की छटा दिखाकर तथा उनके द्वारा एक बार दुर्दान्त अत्याचार के पराभव के मनोरम आभास से अनुरजित करके अंत में उस शक्ति की विफलता की विपादमयी छाया से रोक कर फिर आवृत्त दिखाकर छोड़ दिया है।

जसा ऊपर कह आए हैं मगल-अमगल के द्वन्द्व में कवि लोग अन्त में मगल-गति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाच (didacticism) या अस्वाभाविकता की गंध समझकर नाक भौं सिकोडना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आएगी जब बीच का विधान ठीक न होगा अर्थात् जब प्रत्येक अवसर पर सत्पान सफल और दुष्ट पात्र विफल या ध्वस्त दिखाए जाएंगे। पर सच्चे कवि ऐसा कभी नहीं करते। इस जगत् में अधम प्राय दुदमनीय गति प्राप्त करता है जिसके सामने धम की शक्ति बार बार उठकर पथ होती रहती है। कवि जहाँ मगल-शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डारने के लिए धम-शासन की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कम करोगे तो फन पाओगे। कवि कम-सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्त प्रकृति में उत्पन्न करता है उसका उपदेश नहीं देता।

कवि सौन्दर्य से प्रभावित रहता है और दूसरों को भी प्रभावित करना चाहता है। किसी रहस्यमयी प्रेरणा में उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्यों का जो मेल आप से आप हो जाता है, उस पाठक के सामने भी वह प्राय रख देता है जिस पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा में क्या सत्तार में बराबर देखा जाता है? मगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशाली और धीर हैं वसा ही उनका रूप माधुर्य और उनका गीत भी लोकोत्तर है। लोक हृदय आकृति और गुण सौन्दर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में दर्शना चाहता है। इसी से यत्राकृतिरत्र गुणा वसन्ति सामुद्रिक की यह उक्ति लोकोक्ति के रूप में चल पड़ी। नवघ में नल हस से कहते हैं—

न तुलाविषये तवाकृतिन वचोवत्तमि ते सुशीलता।

त्वदुत्साहरणादृती गुणा इति सामुद्रिकसारमुत्था॥

भीतरा और बाहरी सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य और कम सौन्दर्य के मेल की यह अन्त पीरोन्त आन्ति भेन्न निरूपण से बहुत मिलता है और बिलकुल छूट भी नहीं सकती। यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्रेरणा है। उन्नी सवा गजानन कवि मैली—जो राज-शासन धम शासन समाज-शासन आदि सब प्रकार

की शासन-व्यवस्था के घोर विरोधी थे—इस प्ररणा से पीछा न छोड़ा मके । उन्होंने भी अपने प्रबन्ध काव्या म रूप-सौन्दर्य और कम-सौन्दर्य का ऐसा ही मेल किया है । उनके नायक (या नायिका) जिम प्रकार पीडा अत्याचार आदि मे मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिए अपना प्राण तक उत्सर्ग करनेवाले धार मे घोर कष्ट और यात्रणा स मङ्गल न मोडनेवाण पराक्रमी, दयालु और धीर हैं उसी प्रकार रूप माधुर्य सम्पन्न भी ।¹

आज भी किसी कवि से राम का शारीरिक सुन्दरता कुम्भकण को और कुम्भकण की कुरूपता राम को न दल बनगी । माइकल मधुसूदन दल ने मघनाट का अपने वाच्य का रूप गुण-मम्पन्न नायक बनाया पर लम्पण का वे कुरूप न कर सक । उन्होंने जो उन्नत पर किया वह कला या वाचानुभूति की किसी प्रकार की प्ररणा स नहीं बरिक् एक पुरानी धारणा लोडने की बहादुरी लियाने के लिए जिसका शोक किसी विदेशी नई शिक्षा के पहल पहन प्रचलित होने पर प्रायः मब देगा म कुट्ट लिन रहा बरता है । इसी प्रकार बगभाया के एक दूसरे कवि नवीनचन्द्र ने अपने कुम्भकण नामक काव्य म वृष्ण का आदर्श ही बतल दिया है । उसम वे ब्राह्मणो के अत्याचार से पीडित जनता क उद्धार के लिए उठ खडे हुए क्षत्रिय महात्मा के रूप म अंकित किए गए हैं । अपने ममय म उठी हु किसी छास हवा की भाव म प्राचीन आप-नाय्यो के वृणतया निदिष्ट स्वरूपवाले आदर्श पात्रा को एकत्र कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मन्दिर म यय गडबड मचाना है ।

गुड मर्मानुभूति द्वारा प्ररित युगल कवि भी प्राचीन आख्याना को बराबर नते आए हैं और अब भी लते हैं । वे उनके पात्रो म अपनी नवान उद्भावना का अपनी नयी कल्पित वाता का बराबर आरोप करते हैं पर वे बानें इन पात्रा ने चिर प्रतिष्ठित आदर्शों के मेल मे होती हैं । केवल अपने समय की परिस्थितिविशेष को लेकर जो भाव नाए उठनी हैं उनके आश्रय क लिए जबकि नय आख्याना और नय पात्रा की उद्भावना स्वच्छन्दतापूर्वक की जा सकती है तब पुराने आत्माओं को विकृत या खडित करने की क्या आवश्यकता है ?

कम-सौन्दर्य के जिस स्वदृप पर मुग्ध होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जिसका विपान कवि-परम्परा बराबर करती चनी आ रही है उसके प्रति उपेक्षा प्रकट

- 1 Certain it is that with Shelley goodness is ever near to sensuous beauty and passes easily into passion Hence his choice of heroic type rather than simple ones, of Laon and Gythna and Frometheus rather than Michale Mathew etc Laon and Gythna possess youth strength and beauty no less than courage and the instinct for self sacrifice and their passion for freedom A further admirable instance of this harmony of goodness and beauty is seen in the description of Lady Beneficent who tended the garden of The Sensitive Plant

करन और कम सौन्दर्य व एक दूसरे पर मे ही—वेवन प्रम और भ्रानभाव के प्रत्यन और आचरण म ही—राय का उत्पन्न मानने का जा एक नया फगन गाल्मटाव के समय स चना है व एन्पेगय है । दान और असहाय जनता को निरन्तर पाडा पहुँचाने जने जानेवान क्रर आत्मतापिया को उपत्न देन उनम दया की भिडा माँगन और प्रम जताने तथा उनकी सवा सुधपा करन मे ही कन्ध्य की सीमा नही माना ना मक्ती कम इन का एकमात्र सौदय न्ना कहा जा सकता । मनप्य के गरीर के जस दक्षिण और वाम दो पक्ष ह वम ही उसके हृदय व कोमल और कठोर मधुर और तीक्ष्ण दो पक्ष हैं और बगवर रहम । काय कला की पूरा रमणीयता दन दोनो पक्षा व समवय व बीध मगल या सौन्दर्य व विराम म ल्पिवाई प्रती है ।

भाजा की प्रक्रिया की समीक्षा मपता चलता है कि उन्म स अस्त तक भावमडन वा कुद्ध भाग तो आश्रय को चेतना क प्रकाश मे (conscious) रहता है और कुछ अन्त स्मना के क्षत्र (Sub conscious region) म छिपा रहता है । सचारी भावा के मचरण काल मे कभी कभी उनके स्थायी भाव कारण रूप में अतस्सणा के भीतर पड जाते ह । रतिभाव म मचारा हाकर जायी हुई असूया या ईर्ष्या ही को लीजिए ! जिस क्षण मयह अपनी चरम मीमा पर पहुची हुई होती है उस क्षण मे आश्रय को ही रति भाव को कोमल सत्ता का जान नहीं रहता उस क्षण म उमक भीतर ईर्ष्या की तीक्ष्ण प्रतीति रहती है और बाहर ईर्ष्या के ही लक्षण दिखाई देते हैं । जिम प्रकार किमा आश्रय म भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अतस्सणा उसके मचारी के रूप में आती हैं उमो प्रकार किसी प्रवच काय के प्रघान पान मे कोई मून प्ररक भाव या बीज भाव रहना है जिसकी प्ररणा से घटना चक्र चरता है और अनेक भावा व स्फुरण के लिए जगह निकलती चरती है । इस बीज भाव को साहित्यिक प्रया मे निरूपिा म्यायी भाव और अगी भाव दोना स भिन्न समझना चाहिए ।

बीज भाव गारा स्फुरित भावो म कोमल और मधुर—कठोर और तीक्ष्ण—दोना प्रकार व भाव रहते है । यदि बीज भाव की प्रकृति मगनविधायिनी होती है तो उसकी यापकता और निविगपता के अनुसार सारे प्ररित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुदर हात हैं । ऐस बीज भाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र म होती है उसक राव भावो क साथ पाठकों की सहानुभूति होती है अर्थात् पाठक या जोता भी रसरूप मे उही भावो का अनुभव करते हैं जिम भावा की वह व्यजना करता है । ऐस पात्र की गति म बाधा टारनेवाले पात्रो के उग्र या तीक्ष्ण भावो के साथ पाठका का वास्तव म तादात्म्य नहीं हागा चाहे उनकी व्यजना में रस की निष्पत्ति करनेवा न सीना अवयव वतमान हा । राम मन्त्रि रावण के प्रति क्रोध या घणा की व्यजना करेगे तो पात्र या जोता का हृदय भी उस क्रान या घणा की अनुभूति मे योग देगा । म क्रोध या घणा म भा काय का पूण सौन्दर्य होगा । पर रावण यदि राम के प्रति क्रोध या घणा की व्यजना करेगा तो रस के सीना अवयवों के कारण 'गास्त्र स्थिति सम्पान्'१ चाहे हो जाय पर उस व्यञ्जित भाव के

१ रस व्यञ्जितमेवैयथासंगाना सन्निवसानम ।

न तु कथयन्मा शस्त्र स्थिति-सम्पादने-टया ।।

साम पाठ्य केवल चरित्र द्रष्टामात्र रहेगा उसका केवल मनोरंजन होगा, भाव में सीन करनेवाली प्रथम कौटिल्य की रसानुभूति उसकी न होगी।

उपर कहा गया है कि किसी गुण बीज भाव की प्रेरणा से प्रवर्तित तीक्ष्ण और उग्र भावा की सुन्दरता की मात्रा उम बीज भाव की निविण्यता और व्यापकता के अनुसार होती है। जैसे यदि करुणा किसी व्यक्ति की विविण्यता पर अवलम्बित होगी—कि पीडित व्यक्ति हमारा कुटुम्बी मित्र आदि है—तो उम बढ़ाने के द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावा में उतनी सुन्दरता न होगी। पर बीजरूप में अन्तर्मत्सा में स्थित करुणा यदि इस तरह की होगी कि इतने पुरानी इतने देगवामी या इतने मनुष्य पीडा पा रह हैं तो उमके द्वारा प्रवर्तित तीक्ष्ण या उग्र भावा का मीदय उत्तरोत्तर अधिक हागा। यदि किसी काव्य में वर्णित दो पात्रा में से एक ता अपने भाई को अत्याचार और पीडा से बचाने के लिए अग्रसर हो रहा है और दूसरा किसी बड़ भारी जन-मसूह को तो गति में बाधा डालनवाला के प्रति दोना के प्रदर्शित क्रोध के सौम्य के परिणाम में बहुत अन्तर हागा।

भावा की ध्यानवीन करने पर मगल का विधान करनेवाल दो भाव रहने हैं—वदना और प्रेम। वरुणा की गति रसा की ओर होती है और प्रेम की रजन की ओर। लोक में प्रथम साध्य रसा है। रजन का अवसर उमके पीछे आता है। अत भावनावस्था या प्रयत्न पक्ष का लेकर चरनेवाले काव्यों का बीज भाव करुणा ही रहता है। इसी से नायक अपने दो नाटक में रामचरित को लेकर चलनेवाले महाकवि भवभूति ने वरुणा को ही एकमात्र रम कह दिया। रामायण का बीज भाव वरुणा है जिसका सकत त्रीच को मान्यवान निपाद के प्रति वा-माकिने मुह में निकल वचन द्वारा आरम्भ ही में मिलना है। उमके उपरांत भी बालका के पदह्वे संग में इसका आभाम दिया गया है जहाँ देव ताभा ने ब्रह्मा से रागण द्वारा पीडित लोक की दारुण दगा का निवदन किया है। उक्त आदिकाव्य के भीतर लोक मगल की शक्ति के उग्र का आभाम ताका और मारीचके दमन के प्रसंग में ही मिन जाता है। पचमटी में वह शक्ति और पडनी दिखाई देती है। मीता हरण होन पर उममें आत्मगीरव आर दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देन की बात यह है कि इस आभ गीरव और दाम्पत्य प्रेम की प्ररणा बीच से प्रकट होकर उम विराट मगलो-मुखी गति में समवित हो जाता है। यदि रामसरराज पर चलाई वरत का मूल कारण वचन आत्मगीरव या दाम्पत्य प्रेम होता तो राम के काताग्नि मद्ग्न त्रोध में काव्य का वह लाकोत्तर मीदय न हाता। लोक के प्रति वरुणा जब मफल हो जाता है लोक जब पीडा और विघ्न-बाधा से मुक्त हा जाता है तब रामराय में जाकर लोक के प्रति प्रेम प्रयत्न का प्रजा के रजन का उनक अधिकाधिक सुग के विधान का अवगा मिलता है।

जो कुछ उपर कहा गया है उमके यह स्पष्ट है कि काव्य का उत्कृष्ट केवल प्रम-भाव की बोमल व्यजना में ही नहीं माना जा सकता जसा कि टालसगाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहन हैं। त्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तट में करुण भाव अल्पवत रूप में स्थित हो, पूण मीदय का सामात्कार हाता है।

स्वतंत्रता के उभरते उपासक घोर परिवर्तनवादी गेली के महाकाव्य (The Revolt of Islam) के नायक नायिका अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देनेवाले गिडगिन्नेवाले अपनी साधुता सहनशीलता और गान्धर्व बलि का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करनेवाले नहीं हैं वे उत्साह की उमग में प्रचंड वेग में युद्ध क्षेत्र में बढ़नेवाले पागल रोसपीडा और जत्या चार देव पुनीत शोध के सांख्यिक तेज से तमतमोवाले भय या स्वायत्त आतनायिका की सेवा स्वीकार करनेवाले के प्रति उपेक्षा प्रकट करनेवाले हैं। गली न भी काय-बला का मूल तत्त्व प्रेम भाव ही माना था पर अपने को सुख-शौचमय माधव भाव तक ही बढ़ न रखकर प्रबंध-क्षेत्र में भा जच्छी तरह घुसकर भावा की अनेकरूपता का विघात किया था। स्थिर (static) सौंदर्य और गत्यात्मक (dynamic) शौच्य उपभोग पर और प्रयत्न पक्ष दोनों उनमें पाए जाते हैं।

टात्सटाय के मनुष्य मनुष्य में भ्रातृ प्रेम संचार को ही एकमात्र वाक्य-तत्त्व कहने का बहुत-बुद्ध कारण मात्प्रत्ययिक था। इसी प्रकार कलावाक्या का केवल कामन और मधुर की तीक पण्डना मनोरजनमात्र की हल्की रचि और दृष्टि की परिमिति के कारण समझना चाहिए। टात्सटाय के अनुयायी प्रयत्न-मम को तेन अवश्य है पर वेयन पीडिता की सेवा शुभूपा का दौधूप आततायिया पर प्रभाव डाने के लिए साधुता के लोकांतर प्रदर्शन त्याग कष्ट सहिष्णुता इत्यादि में ही उमका शौच्य स्वीकार करते हैं। साधुता की इन मधुन गति का वे आध्यात्मिक गति कहते हैं। पर भारताय दृष्टि से हम इस भी प्राकृतिक गति—मनुष्य की अत प्रकृति की सांख्यिक विभूति—मानते हैं। विदेशी अय में इस आध्यात्मिक गति का प्रयोग हमारी देशभाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। अध्यात्म गति की मेरी समझ में काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई उन्नत नहीं है।

पूण प्रभविष्णुता के लिए काय में हम भी सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं पर दाना रूपा में—दूसरे भावा की तह में अर्थात् अन्तस्सजा में स्थित अयक्त बीजरूप में भी और प्रकाशरूप में भी। हम पहचन कह आए हैं कि लोक में मगनविधान की ओर प्रवृत्त करनेवाले दो भाव हैं—कृष्ण और प्रम। यह भी दिखा आए हैं कि क्रोध युद्धो रसाह आदि पच और उग्र बलियों की तह में यदि इन दोनों में से कोई भाव बीजरूप में स्थित होगा तभी मत्ता साधारणीकरण और पूण शौच्य का प्रकाश होगा। उच दगा का प्रम और कृष्ण दोनों सत्त्वगुणप्रधान हैं। त्रिगुणा में सत्त्वगुण सबके ऊपर है। यहाँ तक कि उसकी ऊपरी सीमा नित्य पारमार्थिक सत्ता के पास तक—यवत और अयवन की सधि तक—जा पहुचता है। अभी से शायद यल्लभावाय जी ने सचिचानन्द के सत स्वरूप का प्रकाश करनेवाली शक्ति को सचिचिनी कहा है। यवहार में भी सत शक्त के दो अर्थ दिए जाते हैं— जो वास्तव में हो तथा अर्द्ध या गुम।

जबकि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के अयवन स्वरूप जगत् में आदि से अत तक सत्त्व रजस् और तमस तीनों गुण रहेंगे तब सगष्टिरूप में लोक के बीच मगल का विधान करनेवाली ब्रह्म की आनन्द-बला का प्रकाश की यही पद्धति ही सचिचिनी है कि तमोगुण और रजागुण दाना सत्त्वगुण का अधीन होकर उसके आगे पर काम करें। इस

दशा में किमा जाग अपनी प्रवृत्ति के अनुसार काम करने पर भी समष्टिरूप में और मंत्र और वसुदेवगुण के लक्षण की ही पूर्ति करेंगे। सत्त्वगुण के रूप में गायत्री मंत्र का उग्रता और प्रचंडता भी सात्त्विक तेज के रूप में भासित होगी। इसी से अवतार रूप में हमारा यहाँ भगवान की भूति एक ओर तो वज्रापि कठोर और दूरीय ओर कुमुदादि मनु रखा गई है—

कुलिसदु चाहि कठार अति कामल कुमुमदु चाहि ।

२

साधारणीकरण और व्यक्ति वचिन्त्यवाद

किमा काव्य का श्राना या पाठक जिन विषयों को मन में लाकर रति करणा क्रोध उमाह इत्यादि भावा तथा सौन्दर्य रहस्य-गाम्भीर्य आदि भावनाओं का अनुभव करता है वे अन्त उमा के हृदय में सम्बन्ध रखनवान नहा हात मनुष्यमात्र की भासात्मक मत्ता पर प्रभाव डालनवाते होने हैं। उमा से उक्त काव्य का एवमाय पढ़ने या सुननवान सह्या मनुष्य उन्हा भावा या भावनाओं का योग या वदुत अनुभव कर सकत हैं। जब तक किमी भाव का कोई विषय उस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्य स्वर उमी भाव का अवलम्बन हा मन् तब तक उमम रसो-बोधन की पूण शक्ति नना आनी। उमी रूप में लाया जाना हमार यहा साधारणीकरण कहलाता है। यह सिद्धान्त यह धापित करता है कि मुच्चा कवि वही है जिस लोक-हृदय का पहचान हो जो अनेक विवेचनाओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को पेश मन्। इसी लोक-हृदय में हृदय के तीन हान का दगा का नाम रस-दगा है।

किमी काव्य में वर्णित किमा पात्र का किमी रूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है पर उमा स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलम्बन नहा खडा हा सकता। अत एसा काव्य केवल भाव प्रत्याक हा होगा विभाव विधायक कभा नहा हो सकता। इसा प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण इस रूप में नहा कि वह मनुष्यमात्र के क्रोध का पात्र हो सक तब तक वह वर्णन भाव प्रत्याक मात्र रहगा उसका विभाव-पक्ष या ता गून्य अथवा अशक्त होगा। पर भाव और विभाव दोनों पक्षा के सामन्त्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हा नहा सकती। कवन भाव प्रत्याक काव्या में भी हाता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुमार आलम्बन का आराप किए रहता है।

काव्य का विषय मन् विवेक होता है 'सामान्य ननी वह 'यक्ति' सामन नाना है जानि नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षा के क्षेत्र में पूणतया स्थिर हा चुका है। अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा काइ वग या जाति ठहराना बहुत-नी धानो को लेकर काई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन करना यह सब तक और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मित बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में विन्ध

(images) या मूत भावना उपस्थित करना बुद्धि के सामने कोई विचार (concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामांय या जाति का नहीं।^१

इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामांय तथ्य-वचन या सिद्धांत के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और 'यापारों' का बिम्ब-ग्रहण कराने का प्रयत्न करती है। अर्थ-ग्रहणमात्र से उसका काम नहीं चलता। बिम्ब-ग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामांय या जाति का नहीं। जैसे यदि कहा जाये कि क्रोध में मनुष्य वाक्ता हो जाता है तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी श्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उमत् चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित कर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह 'यक्ति या वस्तुविशेष ही होगा। सामांय या जाति की तो मूत भावना ही ही नहीं सबती।^२

अब यह देतना चाहिए कि हमारे यहाँ विभावन 'यापार' में जो साधारणीकरण' कहा गया है उसके विरुद्ध तो यह सिद्धान्त नहा जाता। विचार करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों में कोई विरोध नहीं पडता। विभावनात्मिक साधारणतया प्रतीत

१ अभिव्यजनावाद (Expressionism) के प्रवक्तक क्रोचे (Benedetto Croce) ने कला के बोधपक्ष और तर्क के बोधपक्ष को इस प्रकार अलग अलग किया है—

(क) Intuitive Knowledge knowledge obtained through the imagination knowledge of the individual or individual things

(ख) Logical Knowledge knowledge obtained through the intellect knowledge of the universal knowledge of the relations between individual things —Aesthetic

२ साहित्यशास्त्र में न्यायिकों की बातें ज्यों की त्यों ले लेने से काव्य के स्वरूप नियम में जो बाधा पडी है, उसका एक उदाहरण 'शक्तिग्रह' का प्रसंग है। उसके अंतर्गत कहा गया है कि 'सकेतग्रह' व्यक्ति का नहीं होता है 'जाति' का होता है। तब में भाषा के सकेतपक्ष (symbolic aspect) से ही काम चलता है जिसमें अर्थग्रहण मात्र पर्याप्त होता है। अतः 'याप' में तो जाति का सकेतग्रह करना ठीक है पर काव्य में भाषा के प्रत्यक्षीकरण-पक्ष (presentative aspect) से काम लिया जाता है जिसमें शब्द द्वारा सूचित वस्तु का बिम्ब प्रण होता है—अर्थात् उसकी मूर्ति कल्पना में खडी हो जाती है। काव्य भीमासा के क्षेत्र में 'याप' का यह हाथ बढ़ाना 'डाक्टर सतीशच' शिष्याभूषण को भी खटक है। उन्होंने कहा है—

It is however to be regretted that during the last 500 years the Nyaya has been mixed up with Law Rhetoric etc and thereby has hampered the growth of those branches of knowledge upon which it has grown up as a sort of parasite

—The Nyaya Sutra's Introduction

हृत हैं इस कथन का अभिप्राय यह नुहा है कि रसानुभूति व समय श्रोता या पाठक व मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तु की मूल भावना व रूप में न आकर सामान्य व्यक्तिमात्र या वस्तुमात्र (जाति) व अणु-सकत व रूप में आते हैं। साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तु विशेष आती है वह उस का मन में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन हानी है वस ही सब महूदय पाठक या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्तिविशेष के प्रति किसी भाव का व्यञ्जना कवि या पात्र करता है पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्तिविशेष ही उपस्थित रहता है। हा, कभी कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनावृत्ति या सम्कार व कारण वर्णित व्यक्तिविशेष के स्थान पर कल्पना में उसा के समान धमवाली कोई मूर्तिविशेष आ जाता है। जस यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दर स प्रेम है तो शृंगार रस की पृथक् उन्नतियों सुनने के समय रह रहकर आलम्बनरूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आएगी। यदि किसी स प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आएगा। बहने की आवश्यकता नहा कि यह कल्पनिक मूर्ति भी विशेष ही होगी—व्यक्ति का हा हागी।

कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके जा उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए जिसकी व्यञ्जना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे निम्न हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धम का होता है। व्यक्ति ता विशेष ही रहना है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धम की रहती है जिसके सामात्कार स सब श्रोताओं या पाठकों व मन में एक ही भाव का उदय बोधा या बहृत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाला कुछ धमों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावा का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतात हाने हैं—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी दूर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना हृदय अलग नहीं रहता।

साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यञ्जना करनेवाला पात्र) व तात्पर्य की अवस्था का ही विचार किया है जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बनरूप किसी दूसरे पात्र व प्रति किसी भाव की व्यञ्जना करता है और श्रोता (या पाठक) उसी भाव का रस रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यञ्जना करनेवाला कोई श्रिया या व्यापार करनेवाला पात्र भा शील की दृष्टि स श्रोता (या पाठक) के किमा भाव—श्रद्धा भक्ति घणा राग आश्चय कौतूहल या अनुराग—का आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या पाठक का हृदय उस पात्र के हृदय स अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या पाठक उसी भाव का अनुभव नहीं करता जिसकी व्यञ्जना पात्र अपने आलम्बन के प्रति करता है बल्कि व्यञ्जना करनेवाला उस पात्र के प्रति किसी

और ही भाव का अनुभव करता है। यह दगा भी एक प्रकार की रस-रसा ही है — यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नष्ट रहता। जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दान पर क्रोध की प्रवृत्ति प्रयत्न कर रहा है तो श्रोता या दशक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा बल्कि क्रोध प्रदर्शित करनेवाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा घणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दगा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। परन्तु रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।

जहाँ पाठक या दशक किसी काव्य या नाटक में सनिविष्ट पात्र या आश्रय का शील-द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दशक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा बहुत अवश्य जगा रहता है अन्तर-तना ही पडता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दशक का आलम्बन नहीं होता बल्कि वह पात्र ही पाठक या दशक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दगा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस आश्रय भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप सगठित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में साना है उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है पाठक या दशक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे— हिमालय विध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दशक का तादात्म्य रहता है उसी का आलम्बन पाठक या दशक का आलम्बन हो जाता है।

आश्रय की जिस भाव प्रयत्न को श्रोता या पाठक का हृदय कुछ भी अपना न सकेगा उसका ग्रहण केवल शील-वचित्र के रूप में होगा और उसके द्वारा घृणा विरक्ति अश्रद्धा प्रायः आश्चर्य क्रुद्धहल इत्यादि में से ही कोई भाव उत्पन्न होकर अपरितुष्ट दगा में रह जायेगा। उस भाव की तुष्टि तभी हागी जब कोई दूसरा पात्र आकर उसकी व्यजना वाणी और चेष्टा द्वारा उस बेमेन या अनुपयुक्त भाव की व्यजना करनेवाले प्रथम पात्र के प्रति करेगा। इस दूसरे पात्र की भाव प्रयत्न के साथ श्रोता या दशक की पूरा सहानुभूति होगी। अपरितुष्ट भाव की आकुलता का अनुभव प्रबंध काव्यानाटक और उपन्यास के प्रत्येक पाठक को थोड़ा-बहुत होगा। जब कोई असामान्य दुष्ट अपनी मनोवृत्ति की व्यजना किसी स्थान पर करता है तब पाठक के मन में बराबर यही आता है कि उस दुष्ट के प्रति उसके मन में जो घणा या क्रोध है उसकी भरपूर व्यजना बचन या क्रिया द्वारा कोई पात्र आकर करता। क्रोधी परशुराम तथा अत्याचारी रावण की बठार बाना का जो उत्तर सम्मन और अंगद देते हैं उससे क्याश्राताओं की अप्रति तुष्टि होती है।

एन सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शीलविशेष के परिपान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दगा की अनुभूति (जिस

आचार्यों ने 'रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्राता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग समान रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षण के लिए विसर्जन कर आश्रय का भावात्मक सत्ता में मग्न जाता है। उन्मत्त बनिवाल आश्रय का भाव-व्यञ्जना में भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या श्राता तादात्म्य की दशा में पूरा समग्न रहगा उस समय भाव-व्यञ्जना करनेवाले आश्रय का अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दलचित्त न रहेगा। उस दशा के आग-पीछे हा वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता का अलग कर उसके 'गाल-भी-दय का भावना कर सक्ता। भाव व्यञ्जना करनेवाले किसी पात्र या आश्रय के 'गीत-भी-दय का भावना जिस समय रहगा उस समय वही श्राता या पाठक का आनन्दन रहगा और उससे प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्राप्ति टिका रहगा।

हमारे यहाँ के आचार्यों ने श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनों में रस का प्रधानता रखा है इससे दृश्यकाव्य में भी उनका लभ्य तादात्म्य और साधारणकरण का योग रहता है। पर यूरोप के दृश्यकाव्यों में गीत-व्यञ्जना या अन्तः प्रकृति-व्यञ्जना का अरह प्रधान उद्देश्य रहता है, जिसके साक्षात्कार से दर्शक का आश्चर्य या कुतूहलमात्र का अनुभूति होता है। अतः इस व्यञ्जना पर धारा विचार कर लेना चाहिए। व्यञ्जना के साक्षात्कार से बलवान् बानें हासकती हैं—(१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन (२) आश्चर्यपूर्ण अवसान या (३) कुतूहलमात्र।

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन 'गाल के चरम उत्कर्ष अथवा मात्त्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है। भरत का राम का पादुका चरम विरक्त रूप में बटना राजा दृष्टिचन्द्र का अपनी राना से आधा कफन माँगना, नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन का भ्रम गहन से अपना मांस गाने लिए अनुरोध करता इत्यादि 'गाल-व्यञ्जना के ऐसे दृश्य हैं जिनसे श्राता या दर्शक के हृदय में आश्चर्यमिश्रित श्रद्धा या भक्ति का मन्वार होता है। इस प्रकार के उन्मत्त शीतवाल पात्रों का भाव-व्यञ्जना का अपनाकर वह उसमें लीन भाँ हासकता है। एसे पात्रों का गान विचित्र होने पर भी भाव-व्यञ्जना के समय उनके साथ पाठक या श्राता का तादात्म्य हासकता है।

आश्चर्यपूर्ण अवसान 'गाल के अत्यन्त पतन अर्थात् तामसा धारता के साक्षात्कार से होता है। यदि किसी काव्य या नाटक में दृष्ट संभ्राट् मिहिरगुल पहाड की चागी पर से गिराए जाते हुए मनुष्य के लठपन विल्लाने आदि की भिन्न भिन्न चेष्टाओं पर भिन्न भिन्न दृश्य से अपने आह्लाद की व्यञ्जना करे, तो उसके आह्लाद में जिस श्राता या दर्शक का हृदय योग न दगा, बल्कि उसकी मनावृत्ति की विनम्रता और धारता पर स्तम्भित, श्लुभ या मुपित होगा। इस प्रकार दुःशीलता की ओर और विचित्रताओं के प्रति श्रोता की आश्चर्यमिश्रित विरक्ति घणा आदि जायेगी।

जिन मात्त्विक और तामसा प्रकृतियों का चरम सीमा का उल्लेख उपर हुआ है सामान्य प्रकृति से उनकी आश्चर्यजनक विभिन्नता बचने उनकी मात्रा में होता है। वे वग विनाश की सामान्य प्रकृति के भीतर समझी जासकती हैं जब भरत आदि की प्रकृति घानवाना की प्रकृति के भातर और मिहिरगुल के प्रकृति श्रुतों की प्रकृति के भातर माना

जा सकती है। पर बुद्ध लोग के अनुसार ऐसी अन्तिम प्रकृति भी हाता है जा वगवियेप की भी प्रकृति के भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन हागा न स्पष्ट अवसादन—एक प्रकार का मनोरजन या बुनूहल ही होगा। ऐसी अद्वितीय प्रकृति के चित्रण को डटन (Theodore Watts Dunton) न कवि की नाटकीय या निरपेक्ष दृष्टि (Dramatic or Absolute vision) का सूचक और काव्य कला का चरम उत्पन्न कहा है। उनका कहना है कि साधारणतः कवि या नाटककार भिन्न भिन्न पात्रों की उक्तिया की कल्पना अपने ही के उनकी परिस्थिति में अनुमान करके किया करते हैं। वे वास्तव में यह अनुमान करते हैं कि यदि हम उनकी दृष्टि में होते तो कस वचन महसूस निकालते। तात्पर्य यह कि उनकी दृष्टि सापेक्ष होती है वे अपनी ही प्रकृति के अनुसार चरित्र चित्रण करते हैं। पर निरपेक्ष दृष्टिवाले नाटककार एक नवीन नर प्रकृति की सृष्टि करते हैं। नूतन निर्माणवाली कल्पना उन्हा की होती है।

डटन ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम गति तो ठहराया पर उह ससारभर में दो-तान ही कवि उक्त दृष्टि से सम्पन्न भिन्न भिन्न मनुष्य शकसपियर है। पर गणसपियर के नाटका में बुद्ध विचित्र अन्त प्रकृति के पात्रों के हाते हुए भा अधिकांश ऐसे पात्र हैं जिनकी भाव व्यञ्जना के साथ पाठक या दृशक का पूरा तात्पर्य रहता है। जूलियस सीज़र नाटक में अटोनीयो के लम्बे भाषण से जो शोभ उमड पडता है उममें जिसका हृदय योग न देगा ? डटन के अनुसार गणसपियर की दृष्टि का निरपेक्षता के उदाहरणों में हम्पेट का चरित्र चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाए तो हम्पेट की मनोवृत्ति भा ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और अध्यात्म शील च्युति देख अद्विधिक्षिप्त सा हा गया है। परिस्थिति के साथ उमके वचना का अमान्यस्य उसकी बुद्धि की अवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी वग वियेप के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसका बहुत-से भाषणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है उदाहरण के लिए आत्मग्लानि और क्षाम से भर हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री जाति की भक्तना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन जो किसी दृष्टि में किसी की ही नहीं सकती केवल ऊपरी मन-बहाना के लिए खडा किया हुआ कृत्रिम तमागा ही होगा। पर डटन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण नूतन सृष्टि चारिणा कल्पना का सबसे उच्चतम उदाहरण होगा।

नूतन सृष्टि निर्माणवाली कल्पना का चचा जिस प्रकार यूरोप में चलता आ रही है उसी प्रकार भारतवर्ष में भी। पर हमारे यहाँ यह कथन अधवाद के रूप में—कवि और कवि-कर्म की स्तुति के रूप में—गृहीत हुआ गान्धीय सिद्धांत या विवेचन के रूप में नया। यूरोप में अतवत्ता यह एक सूत्र मा वाचक काव्य-समाज के क्षेत्र में भी जा घुसा है। अतः प्रचार का परिणाम बड़ा स्पष्ट हुआ कि कुछ रचनाएँ अतः उग की भी हा चना जिनमें कवि ऐसा अनुभूतिया की व्यञ्जना की नकल करता है जो न वास्तव में उसका हाता है जो न कविता का हा सकती है। इन नूतन सृष्टि निर्माण के अभिनय के बीच रंग-जगन के परिणाम की उठान स्पष्ट हुई। अतः के पीछे पागलपन की नकल करनेवाले बुद्धि-नरक हुए थे वे अपनी वाता वा एता रूप रंग बनाने के जा किसी और दुनिया

ना लाया कहा का न जान पढ ।^१

यह उम प्रवृत्ति का हृत् व बाह्य पहेँचा रूप ह जिसका आरम्भ यूरोप म एक प्रकार म पुनरुत्थान-काल (Renaissance) के साथ ही हुआ था । एसा कहा जाता ह कि उम काल के पढ़ने काय का रचना काल को अमृढ अनन्त और भेत्तीत मानकर तथा नाक की एक सामान्य सत्ता समझकर का जाना थी । रचना करनेवाल यह ध्यान रखकर नहा लिखत थ कि दस काल व जागे थानवाला काल कुछ और प्रकार का हागा अथवा दस वतमान काल का म्बरूप सबन एन ही नहा है—किमा जन-समूह व बीच पूण सम्म काल है किसी के बीच उसम बहुत कुछ वम किसी जन-समुदाय व बीच कुछ अमन्य काल है किमा व बाच उसम बहुत अविक्त । इसा प्रकार उहँ इम वान की जोर ध्यान दन का आवक्यकना नहा जाना थ कि नाञ्चिन्मिन्मिन् व्यक्तिवा म बना हागा है ना भिन्मिन् रचि आर प्रवृत्ति व हात हैं । पुनरुत्थान-काल स धीरे धार इस तय्य की आर ध्यान बढ़ता गया प्राचीना की मूल प्रकट हो गइ । अन्त म इगारे पर आख मूत्कर दौहनवान बढ बढे पढिता न पुनरुत्थान का कालधारा का मपकर व्यक्तिवाद रूपी नया रत्न निकाला । फिर क्या था ? गिगित समाज म व्यक्तिगत विद्यपताएँ देखन दिखान की चाह बनने लगी ।

काव्य-क्षेत्र मे किमा वाद' का प्रचार धारे धार उमकी सारसत्ता को ही चर जाता है । कुछ दिना म लोग कविता न लिखकर वाद' लिखने लगते हैं । कला या काव्य के क्षेत्र म 'नोक' और 'यक्ति की उपयुक्त धारणा वहाँ तर्क सगत है, इस पर थोडा विचार कर बना चाहिए । साक व बीच जहाँ बहुत-सी भिन्नताएँ देखन म आता हैं वहाँ कुछ अभिन्नताएँ भी पाया जाती हैं । एक मनुष्य की आकृति मे दूसर मनुष्य का आकृति नहीं मिलती, पर सब मनुष्या की आकृतिया का साथ लें तो एक ऐसा सामान्य आकृति भावना

- 1 (a) After Shelley's music began to captivate the world certain poets set work upon the theory that between themselves and the other portion of the human race there is a wide gulf fixed Their theory was that they were to sing as far as possible like birds of another world It might also be said that the poetic atmosphere became that of the supreme palace of wonder

—Bedlam

- (b) Bailey Dobell and Smith were not Bedlamites but men of commonsense They only affected madness The country from which the followers of Shelley sing to our lower World was named Nowhere

—Poetry and the Renaissance of Wonder Theodore Watts Dunton

भी बधता है जिसने कारण हम सबको मनुष्य कहते हैं। इसी प्रकार सबकी रचि और प्रकृति में भिन्नता होने पर भा कुछ एसी अन्तभूमियाँ हैं जहाँ पहुचने पर अभिन्नता मिलती है। ये अन्तर्भूमियाँ 'र समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यह सामान्य अन्तभूमि परस्पर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। वह सामान्य अन्तभूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। काव्य रचना की रूढ़ि या परम्परा सम्भ्यता के 'सूनाधिष्ठित' विकास जीवन-यापार व बदलनेवाले बाहरी रूप रण इत्यादि पर यह स्थित नहीं है। इसकी नींव गहरी है। इसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूल देश से है उसका सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।

जिस व्यक्तिवाद का ऊपर उल्लेख हुआ है उसमें स्वच्छन्दता व आन्दोलन (Romantic Movement) के उत्तर-काल से बड़ा ही विकृत रूप धारण किया। यह 'व्यक्तिवाद' यदि पूरा रूप से स्वीकार किया जाये तो कविता लिखना व्यय ही समझिए। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सबको-हजारों कथा लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करें। जब एक व हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं तब एक के भावा को दूसरा क्या और कैसे ग्रहण करेगा? ऐसी अवस्था में तो यही सम्भव है कि हृदय द्वारा मार्मिक या भीतरी ग्रहण की बात ही छोड़ दी जाय व्यक्तिगत विनो पता के विचित्र्य द्वारा ऊपरी कुतूहलमात्र उत्पन्न कर देना ही बहुत सम्भवा जाये। हुआ भी यही और हृदय से अपने हृदय की भिन्नता और विचित्रता दिखाने के लिए बहुत-से लोग एक एक कार्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्य-क्षेत्र नकला हृदय का एक कारखाना हो गया।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे जान पड़गा कि भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न भिन्न विनोया के भीतर से सामान्य के उदघाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विनोय हमारे यहाँ के काव्या में आते रहे हैं। पर यूरोपीय काव्य दृष्टि इधर बहुत दिना से विरल विशेष के विधान की ओर रही है। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झुंकार सुनाने में ही सन्तुष्ट रहे जो मनुष्यमात्र के हृदय के भीतर से होना हुआ गया है। पर उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत-से विलायती कवि ऐसे हृदय के प्रदग्गन में लग जाते हैं और न हो सकते हैं। साराण यह कि हमारी वाणी भाव क्षेत्र के बाँच भेदा में अभेद को ऊपर करती रही और उनकी वाणी झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करने सागा को चमत्कृत करने में लगी।

'कल्पना' और 'व्यक्तित्व' की पारचात्य समीक्षा-क्षेत्र में इतनी अधिक मुनादी हुई कि काव्य व और सब पक्षा से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर आ जमी। 'कल्पना' काव्य का बोधपक्ष है। कल्पना में आई हुई रूप-व्यापार-योजना का कवि या श्रोता को अन्त सामात्कार या बोध हाता है। पर 'स बोधपक्ष के अतिरिक्त काव्य का भावपक्ष भी है। कल्पना को रूप-योजना के लिए प्रेरित करनेवाले और कल्पना में आई हुई वस्तुओं में घोटा या पाठक को रमानवाले रति करणा क्रोध उत्साह आश्चर्य इत्यादि भाव या मनास्विकार हात हैं। इससे भारतीय दृष्टि ने भावपक्ष का प्रधानता दी और रस के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। पर पश्चिम में कल्पना 'कल्पना' की पुकार के सामने

धीरे धीरे समीक्षका का ध्यान भावपक्ष सह गया और बाधपक्ष ही पर भिड़ गया । काव्य की रमणीयता उस हल्के आनन्द के रूप में मानी जाने लगी, जिस आनन्द के लिए हम नयी नयी सुन्दर, भदकीली और विलक्षण वस्तुओं का देखने जाते हैं । इस प्रकार कवि तमाशा दिखानेवाले के रूप में और श्रोता या पाठक तटस्थ तमाशावीन के रूप में समझे जाने लगे । केवल देखने का आनन्द कुछ विनक्षण को देखने का कुतूहलमात्र होता है ।

‘व्यक्तित्व ही को ले उड़ने में जो परिणाम हुआ है उसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है । कल्पना और ‘व्यक्तित्व पर एकत्र शीघ्र दृष्टि रखकर पश्चिम में कई प्रसिद्ध वादा की इमारतें खड़ी हुई । इटली निवासी क्राचे ने अभिव्यक्तिवाद के निरूपण में बड़ कठोर आग्रह के साथ कला की अनुभूति का ज्ञान या बोध-स्वरूप ही माना है । उन्होंने उसे स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) — अत्यक्ष ज्ञान बुद्धि व्यवसाय सिद्ध या विचार प्रसूत ज्ञान — में भिन्न केवल कल्पना में आई हुई वस्तु व्यापार-योजना का ज्ञानमान माना है । वे इस ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार प्रसूत ज्ञान दोनों से सव्य निरपेक्ष स्वतंत्र और स्वतः पूरा मानकर चले हैं । वे इस निरपेक्षता को बहुत दूर तक घसीट ल गए हैं । भावों या मनाविकारों तक को उठाने काय की उक्ति का विधायक अवयव नही माना है । पर न चाहने पर भी अभिव्यक्ति या उक्ति के अभिव्यक्ति पूर्व रूप में भावों की सत्ता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी है । उसमें अपना पीछा ब छोड़ा नहीं सक है ।^१

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति की ऐसी दीवार खड़ी हुई विशेष के स्थान पर सामान्य या विचार सिद्ध ज्ञान के आ धुसने का इतना डर समझा कि कहीं कहीं आलोचना भी काय रचना के ही रूप में होनी लगी । कला की कृति की परीक्षा के लिए विवेचन-पद्धति का त्याग-सा होना लगा । हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं में ममानोचना के नाम पर आजकल जा जड़मत और रमणीय शब्द योजनामात्र कभी कभी दखन में आया करती है वह इसी पश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है । पर यह भी समझ रखना चाहिए कि यूरोप में साहित्य सम्बन्धी आन्दोलनों का आयु बहुत थोड़ी होती है । कोई आन्दोलन दस बारह वर्ष से ज्यादा नहीं चलता । ऐसे आन्दोलनों के कारण यहाँ हम बीसवीं शताब्दी में आकर काव्य क्षेत्र के बीच बड़ा गहरी गड़बड़ी और अव्यवस्था पला । काव्य की स्वाभाविक उमर के स्थान पर नवीनता के लिए आकुलतामात्र रह गई । कविता चाहे हो चाहे न हो, कोई नवीन रूप या रंग अवश्य छाटा हो । पर कौरी नवीनता केवल मरे हुए आन्दोलन का इतिहास छाड़ जाये ता छोड़ जाये कविता नहीं खड़ी कर सकती । केवल नवीनता और मौलिकता की बड़ी-चन्नी सनक में सच्ची कविता की ओर ध्यान वहाँ तक रह सकता है ? कुछ लोग तो नये रंग रंग की उच्छलता यत्रता असम्पन्नता, अनगलना इत्यादि का ही प्रदर्शन करने में लगे । थोड़े-से ही सच्ची भावनावादी कवि प्रकृत माग पर चलते

1 Matter is emotivity not aesthetically elaborated ; the impression form is elaboration and expression sentiments of impressions pass by means of words from the obscure region of the soul into the clarity of contemplative spirit .
—Aesthetic

निराश्र पडन लग । समालोचना भी अधिकतर हवाई ढग की होने लगी ।^१

यूरोप में इधर पचास वर्षों के भीतर रहस्यवाद कलावाद व्यक्तिवाद इत्यादि जा अनैक वाद चलाये गये अब वहाँ मरे हुए आन्दोलन समझे जाते हैं ।^२ इन नाना वादों से ऊबकर लोग अब फिर साफ हवा में जाना चाहते हैं । किसी कविता के सम्बन्ध में किसी वाद का नाम लेना अब पुराने के खिलाफ माना जाने लगा । अब कोई कविता समझ जाने में कवि अपना मान नहीं समझते ।

३

रसात्मक बोध के विविध रूप

संसार-सागर का रूप-तरंगों से ही मनुष्य का कल्पना का निर्माण और कर्मों की रूप गति से उसने भीतर विविध भावा या मनोविकारा का विधान हुआ है । सौन्दर्य माधुर्य विचित्रता भीषणता क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूपों और व्यापारों में ही निष्पन्न हुई हैं । हमारे प्रेम भय आश्चर्य श्राव्य करुणा इत्यादि भावा की प्रतिष्ठा करनेवाले मूत्र जाग्जन बाहर ही के हैं—इसी चारा ओर फले हुए रूपात्मक जगत का ही है । जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं । जब हमारी वृत्ति अतृप्त होती है तब रूप हमारे भीतर लिखाई पड़ते हैं । बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही । सुन्दर मधुर भीषण या क्रूर लगनेवाले रूप या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य माधुर्य भाषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं । सौन्दर्य की भावना जगना सुन्दर सुन्दर वस्तुआ या व्यापारों का मन में आना ही है । इस प्रकार मनोवृत्तियाँ या भावा की सुन्दरता भीषणता आदि की भावना भी रूप होकर मन में उठती है । किसी का दयाशीलता या क्रूरता की भावना करते समय दया या क्रूरता के किसी विशेष व्यापार या दृश्य का मानसिक चित्र ही मन में रहता है जिसके अनुसार भावना तीव्र या मन्द होती है ।

1 Wherever attempts at sheer newness in poetry were made they merely ended in dead movements. Criticism became more dogmatic and unreal, poetry more eccentric and chastic.

—A Survey of Modernist Poetry by Laura Riding and Robert Graves (1927)

The Modernist poet does not have to issue a programme declaring his intentions toward the reader or to call himself an individualist (as the Imagist poet did) or a mystic (as the poet of the Anglo-Irish dead movement did) or a naturalist (as the poet of the Georgian movement did).

—A Survey of Modernist Poetry by Laura Riding and Robert Graves (1927)

तात्पर्य यह है कि मानसिक रूप विधान का नाम ही सम्भावना या कल्पना है ।

मन के भीतर यह रूप विधान दो तरह का होता है । या तो यह कभी प्रत्यक्ष तब ही
हृद् वस्तुओं का ज्या का त्या प्रतिबिम्ब होता है अथवा प्रत्यक्ष रूप हुए पदार्थों के रूप रंग
गति आदि के आधार पर खड़ा किया हुआ नया वस्तु-वापार विधान । प्रथम प्रकार की
जाम्बन्त रूप प्रतीति स्मृति कहलाता है और त्रितीय प्रकार की रूप याज्ञानाया मति विधान
को कल्पना कहते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रकार के भीतर ही रूप
विधान के मूल हैं प्रत्यक्ष अनुभव किए हुए बाहरी रूप विधान । अतः रूप विधान तीन
प्रकार के हुए—१ प्रत्यक्ष रूप विधान २ स्मृति रूप विधान और ३ कल्पित रूप
विधान ।

इन तीनों प्रकार के रूप विधानों में भावा की इन रूप में जागरित करने की शक्ति
जाना है कि वे रस कोटि में जा सकें यही हम यहां दिखाना चाहते हैं । कल्पित रूप विधान
द्वारा जागरित मार्मिक अनुभूति तो सवत्र रसानुभूति मानी जाती है । प्रत्यक्ष या स्मरण
द्वारा जागरित वास्तविक अनुभूति भी विशेष रसात्मा मरसानुभूति का कोटि में जा सकता
है इस बात की जा र ध्यान रखना हमें अब का उद्देश्य है ।

प्रत्यक्ष रूप विधान

भावुकता की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आधार या उपादान यही हैं । इन प्रथम त
रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होती है व उतनी ही रसानुभूति के
उपयुक्त होते हैं । जो किसी मृग के लावण्य, वनस्थली की सुगन्धि या गलन की
रमणीयता कुसुम विक्रम की प्रफुल्लता ग्राम-रस्य की मरुत माधुरा दग्ग सुग्ग नहा
होता, जो किसी प्राणी के कष्ट-व्यजक रूप और चेष्टा पर करणा नहीं होता जा
किसी पर निष्ठुर अत्याचार होते देख काय में नहा तिलमिलाना उमम काय या मच्चा
प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता कभी नहा हो सकती । जिगक लिए य सब कुछ नहा है
उसके लिए मन्वी कविता की अच्छी म अच्छी उक्ति भी बुद्ध नहा है । वह यदि किसी
कविता पर बाह बाह करे तो समझना चाहिए कि या तो वह भावुकता या महत्त्वता की
नकल कर रहा है अथवा उस रचना के किसी एक अवयव की आर र्तचित्त है जा स्वत
वाच्य नही है । भावुकता की उक्त करनेवाले श्रोता या पाठक ही नहीं कवि भी हुआ
करते हैं । वे सने भावुक कविता की वाणी का अनुसरण बड़ी सफाई में करते हैं और
अच्छे कवि कहलाते हैं । पर मूर्ख और मार्मिक दष्टि उनका रचना में हृदय की निश्चे
ष्टता का पता लगा नहीं है । किसी कान में जो मच्चा कवि प्रसिद्ध होते हैं उनमें मच्चे
कवि—एने कवि जिनकी तीव्र अनुभूति ही वास्तव में कल्पना को अनुकूल रूप विधान
में तत्पर करती है—दम पाँच ही जान हैं ।

प्रत्यक्ष रूप विधान का हमारा अभिप्राय केवल चाक्षुष ज्ञान में नहा है । रूप रंग के भीतर
रंग गन्ध रस और स्पर्श भी समझ लेना चाहिए । वस्तु व्यापार वात के जन्तर्गत में
विषय भा रहा करत है । फूला और पत्तिया के मन्वेर आकार जा र रंग । हा र्गन
विधान करत उनका गन्ध कोमलता और मधुर स्वर जा । म रररर र्गन

करते हैं। जिन लेखकों या कवियों की घ्राण-गन्ध-विशेषता ही वे ऐसे स्थलों की गंधात्मक विशेषता का वर्णन कर जाते हैं जहाँ की गंधविशेषता का थोड़ा-बहुत अनुभव तो बहुत से लोग करते हैं पर उसकी ओर स्पष्ट ध्यान नहीं देते। गलिहाना और रसवे स्टेगना पर जान से भिन भिन प्रकार की गंध का अनुभव होता है। पुराने कवियों ने तुरन्त ही जोता हुई भूमि से उठी हुई साधी महक का हिरना के द्वारा चरी हुई दूब की ताजी गमक का उल्लेख किया है। फ्रांसीसी उपन्यासकार जोना की गंधानुभूति बड़ी सूक्ष्म थी। उसने यूरोप के कई नगरों और स्थानों के गंध की पहचान बताई है। इसी प्रकार बहुत से देशों का अनुभव भी बहुत सूक्ष्म होता है। रात्रि में विशेषतः वर्षों की रात्रि में भागुरा और झिल्लियाँ के झकारमिश्रित चीरकार का बंधा तार सुनकर ढडकपन में ही यही समझता था कि रात बोन रही है। कत्रियाँ न कलियों के चटकने तक वे गन्ध का उल्लेख किया है।

ऊपर गिनाए हुए तीन प्रकार के रूप विधानों में से अंतिम (कल्पित) ही काय-समीक्षा और साहित्य-मीमांसकों के विचार क्षेत्र के भीतर लिए गए हैं और लिए जाते हैं। बात यह है कि काय-गन्ध-व्यापार है। वह गन्ध-संवेता के द्वारा ही अन्तः में वस्तुओं और व्यापारों का मूर्ति-विधान करने का प्रयत्न करता है। अतः जहाँ तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है वहाँ तक रूप और व्यापार-कल्पित ही होते हैं। कवि जिन वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन करने बैठता है वे उस समय उसके सामने नहीं होते कल्पना में ही होते हैं। पाठक या श्रोता भी अपनी कल्पना द्वारा ही उसका मानस-साक्षात्कार करके उनके आलम्बन से अनेक प्रकार के रसानुभव करता है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि कवि-कर्म का निरूपण करनेवाला का ध्यान-रूप-विधान के कल्याण-पक्ष पर ही रहे। रूपा और व्यापारों के प्रत्यक्ष बोध और उससे सम्बद्ध वास्तविक-भावा-नुभूति की बात अलग ही रखी जाय।

उदाहरण के रूप में ऊपर लिखी बात या कही जा सकती है एक स्थान पर हमने किसी अत्यन्त रूपवती स्त्री का स्मित-आनन और चंचल-भ्रूविन्यास देखा और मुख-हृष्ट अथवा किसी पक्ष के अचल-की सरस-सुपमा-दल-उत्तम-लीन-हुए। उसने उपरांत किसी प्रतिमालय और चित्रालय में पहुँचे और रमणी की बसी ही मधुर-मूर्ति अथवा उसी प्रकार के पत्रताचन का चित्र-देख-सुख-हुए। फिर एक-तीगरे-स्थान पर जाकर कविता का कोई पुस्तक-उठाई और उसमें बसी ही नायिका अथवा वस्त्र ही दृश्य का सरस-वर्णन-पत्र-रमण-हुए। पिछले दो स्थानों की अनभूतियाँ को ही कर्तागत या कायगत-मान-प्रथम-प्रकार की (प्रत्यक्ष या वास्तविक) अनुभूति का विचार-एकदम-विन्तारे-रखा गया। यहाँ तक कि प्रथम-गण-दो-का-कुछ-सम्बन्ध-हो-न-समझा-जाने-पगा। कोरे-गन्ध-व्यव-तापी-काव्य-म-जी-का-कर्म-और-चन्-को-प्रत्य-उल्लेख-में-कुछ-भी-आनन्द-नहीं-आता-या-कवन-का-या-म-उपमा-उत्प्रेक्षा-आदि-के-अंतर्गत-उनका-वर्णन-या-उल्लेख-ही-भाता-या—

दक्ष-मुख-भाव-अन्तःशेई-कर्म-चद-
तात-मुख-मुख-सती ! कर्म-नी-न-चन्-री ।

इतने पर भी उनके कवि होने में कोई सन्देह नहीं किया गया ।

यही बात यूरोप में भी बढ़ती बढ़ती बुरी हद को पहुँची । कलागत अनुभूति को वास्तविक या प्रत्यक्ष अनुभूति से एकदम पथक और स्वतंत्र निरूपित करके वहाँ कवि का एक अनग काल्पनिक जगत कहा जाने लगा । कला-समीक्षकों की ओर से यह धारणा उत्पन्न का जाने लगी कि जिस प्रकार कवि के काल्पनिक जगत के रूप-व्यापारों की सगति प्रत्यक्ष या वास्तविक जगत के रूप-व्यापारों से मिलाने की आवश्यकता नहीं उसी प्रकार उसके भीतर 'यजित अनुभूतियों का सामंजस्य जीवन की वास्तविक अनुभूतियों में दूना आवश्यक नहीं है । इस दृष्टि से काव्य का हृदय पर उतना ही और वसा ही प्रभाव स्वीकार किया गया जितना और जसा किमी परदे के डेलवूटे मकान की नक्काशी सरकस के तमाशे तथा भाड़ा की लफफाजी, उछल कूद या रोने घोने का पडता है । इस धारणा के प्रचार से जान में या अनजान में, कविता का लक्ष्य बहुत नीचा कर दिया गया । कही कहा तो वह अमीरा के शौक की चीज समझी जाने लगी । रसिक और गुण ग्राहक बनने के लिए जिस प्रकार वे तरह तरह की नयी-पुरानी मली-बुरी तसवीरें झकड़ी करते, कलावन्तों का माना-बजाना सुनते उसी प्रकार कविता की पुस्तक भी अपने यहाँ सजाकर रखते और कवियों की चर्चा भी दस आदमियों के बीच बठकर करते । साराण यह कि 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मनवहनाव । यह कला गलत आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य चर्चा में बहुत खरूरी-मा हो रहा है । इससे न जाने कब पीड़ा छूटेगा ? हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काय को चौसठ कलाजा में गिनना ठीक नहीं समझा था ।

अब यहाँ पर रसात्मक अनुभूति की उस विनोयता का विचार करना चाहिए जो उसे प्रत्यक्ष विषयों की वास्तविक अनुभूति में पथक करती प्रतीत हुई है । इस विनोयता का निरूपण हमारे यहाँ साधारणोकरण के अंतर्गत किया गया है । साधारणोकरण का अभिप्राय यह है कि किसी काय में वर्णित आनन्दन केवल भाव को व्यक्त करनेवाले पात्र (आश्रय) का ही आलम्बन नहीं रहता बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी—आलम्बन हो जाता है । अतः उस आनन्दन के प्रति व्यजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है । तात्पर्य यह है कि रस दान में अपनी पथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काय में प्रस्तुत विषय जो हम अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में नहीं देखते अपनी योग-श्रेय वासा की उपाधि से प्रस्तुत हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते बल्कि निर्विणोय शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं । इसी को पारचात्य समीक्षा पद्धति में वह वा विसर्जना और निःसगता (Impersonality and detachment) कहते हैं । इसी को चाहे रस का 'नोन्सोस्वत्व' या 'श्रद्धानन्द सहोत्स्वत्व' कहिए चाहे विभावन व्यापार का अलौकिकत्व । अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से सम्बद्ध रखनेवाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं । इस प्रकार के कवल भाव-व्यञ्जक (तथ्य बोधक नहीं) और स्तुतिपरक शब्दों को समीक्षा के क्षेत्र में घसीटकर परिचय में इधर अनेक प्रकार के अर्थपूर्ण वागाडम्बर खड़े किये गए थे । कला कला के लिए नाटक चित्रण

के प्रसिद्ध व्याख्याकार डा० प्रडले बोले काय आत्मा है। डा० मवेन माह्व ने फरमाया काय एक अखंड तत्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है।^१ बगभाषा के प्रसाद से हिन्दी में भी इस प्रकार के अनेक मधुर प्रलाप सुनाई पडा करते हैं।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं। हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार काय में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है उसी प्रकार हमारे भावा के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ—या कम से कम सहृदयों के साथ—हमारा नादात्म्य रहता है। ऐसी विषयों के आलम्बनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत स उपस्थित मनुष्यों का रहता है। वे हमारे जोर लोक के सामान्य आलम्बन रहते हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से काय ध्रुवण के समय व्यक्तित्व का जसा परिहार हो जाता है वसा ही प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति के समय भी कुछ दगाआ में होता है। अतः हम प्रकार की प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूतियों को रसानुभूति के अतगत मानन में कोई बाधा नहीं। मनुष्य जाति के सामान्य आलम्बनों के आँखों के सामने उपस्थित होने पर यदि हम उनके प्रति अपना भाव व्यक्त करेंगे तो दूसरों के हृदय भी उस भाव की अनुभूति में योग देंगे और यदि दूसरे लोग भाव व्यक्त करेंगे तो हमारा हृदय याग देगा। इसका लिए आवश्यक इतना ही है कि हमारी आँखों के सामने जो विषय उपस्थित हो व मनुष्य मात्र सहृदयमात्र के भावात्मक सत्त्व पर प्रभाव पानेवाले हो। हम में पूणतया मग्न करने के लिए काय में भी यह आवश्यक होता है। जब तब किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं जाना जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक हम में पूणतया गीन करने की शक्ति उसमें नहीं होती। किमी काव्य में वर्णित किसी पात्र का किमी अत्यन्त कुरूप और दुःशील स्त्री पर प्रेम हो सकता है पर उम स्त्री के वर्णन द्वारा शृंगार रस का आलम्बन नहीं सडा हो सकता। अतः वह काव्य भाव व्यक्तमात्र होगा विभाव का प्रतिष्ठापन कभी नहीं होगा। उसमें विभावन व्यापार ही न सकेगा। इसी प्रकार रौद्र रस के वर्णन में जब तक आलम्बन का चित्रण हम रूप में न होगा कि वह मनुष्यमात्र के श्रेष्ठ का पात्र हो सके तब तक वह वर्णन भाव-व्यक्तमात्र रहेगा उमका विभावपन या तो शून्य होगा अथवा अशक्त। पर भाव और विभाव दोनों पन्ना के सामग्रस्य के बिना रस में पूण मग्नता हो नहा सकती। अतः केवल भाव व्यक्त काव्या में होता यह है कि पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी कल्पना जोर शक्ति अनुसार आलम्बन का आरोप या आशय किए रहता है।

जसा कि ऊपर कह आए हैं रसात्मक अनुभूति के दो दक्षण टट्टराए गए हैं—

1 (a) Poetry is a spirit

—Bradley

(b) Poetry is a continuous substance or energy whose progress is immortal

—Mackail

१ अनुभूति-ज्ञान में अपने 'व्यक्तित्व' के सम्बन्ध की भावना का परिहार और २ किसी भाव के आनन्दन का महदयभात्र के साथ साधारणीकरण अर्थात् उस आनन्दन के प्रति मारे सहृदयों के हृदयों में उसी भाव का उत्पन्न। यदि हम 'मन' दोना वाता वा प्रत्यक्ष उपस्थित आन्दोलना के प्रति जगनेवाले भावा का अनुभूतिया पर घटाकर देखते हैं, तो पता चलता है कि कुछ भावा में दो बातें कुछ ही आया म या कुछ अग्रा तक पणित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।

रति भाव को लीजिए। गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य 'मनाक' में 'गी' पहुँचा रहता है। उस अपने तन-बन्धन की मुच नहीं रहती वह सब कुछ भूल सभी फूटा फूटा फिरता है सभी विन पडा रहता है। ह्य विपाद स्मृति इत्यादि अनेक सचरिया का अनुभव वह बीच बीच में अपना व्यक्तित्व भुलाकर करता है। पर अभिनाय और मुक्य आदि का कुछ आया म अपने व्यक्तित्व का सम्बन्ध जिनना ही अधिक और पतिष्ठ होकर अत करण में म्पुन रहेगा, प्रेमानुभूति उतना ही रसवादि के बाहर रहेगी। अभिनाय' में जहा अपने व्यक्तित्व का सम्बन्ध अत्यन्त अप या मूम रहना है—जम रूप प्रवलोकनमात्र की अभिलाष प्रिय जहाँ रहे मुख स रहे इस बात का अभिनाय—वहा वास्तविक अनुभूति रस के विनार तक पहुँची हुई होती है। आनन्दन के साधारणीकरण के सम्बन्ध में ममक रखना चाहिए कि रति भाव की पूण पुष्टि के लिए कुछ बाल अपाति होता है। पर अत्यन्त मात्रक आलम्बन की सामन पाकर कुछ क्षणा के लिए ता प्रेम के प्रथम अवयव^१ का उत्पन्न एवसाय बहुता के हृदय में लगेगा। वह अवयव है—
अच्छा या रमणीय लगना।

हम में यकी बात हाता है कि जहाँ उमका पात्र मामन आया कि मनुष्य अपना मारा मुख-मुख भूल एक विन रण आद्वान या अनुभव करता है जिसमें बहुत में लोण एफमान बोध रहे ह।

अपने निम्न 'अभवा'ने विवट कम की ओर जो उल्हाह होगा वह तो रसात्मक न हागा पर जिस विवट कर्म को हम 'त्रोक' कल्याणकारी समझेंगे उसका प्रति हमारे उल्हाह की गति हमारा व्यक्तित्व परिचयति ने सञ्चित मडन से बच न रहकर बहुत व्यापक होगी। स्वयं प्रेम के गीत गात हुए नवयुवकों के लल जिस साहसभरी उमर के माथ कोई कविन या दुःखर वाय करने के निण निकलने हैं वह वीरत्व की रसात्मक अनुभूति है।^२

१ देखिए 'चित्तमणि' प्रथम भाग 'रोम और प्रीति शोषक निबन्ध पृष्ठ ६६-६६

२ आनन्दन के बहुत गम्भीर अग्रज समालोचक रिचर्ड्स (I A Richards) को भी कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आगास सा हुआ है, जसा कि इन पत्रियों से प्रकट होता है—

'There is no such gulf between poetry and life as over literary persons sometimes suppose. There is no gap between our everyday emotional life and the material of poetry. The verbal

शोध भय जुगुप्सा और कर्षणा के सम्बन्ध में साहित्य प्रमिया को सायन्तु कुछ अडचन दिखाई पड़ सकता है। इनकी वास्तविक अनुभूति दुःखदायक है। रसास्वादात्मक आनन्दस्वरूप कहा गया है अतः दुःखरूप अनुभूति रस के अन्तर्गत कैसे ली जा सकती है यह प्रश्न कुछ गड़बड़ आनन्द दिखाई पड़गा। पर आनन्द का व्यक्तिगत सुख भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिवत्त्व दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ। इस दशा की प्राप्ति के लिए समय समय पर प्रवृत्ति होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। कर्षण रसप्रधान नाटक के दशा के आसुआ के सम्बन्ध में यह कहना कि आनन्द में भी तो आसू जाते हैं केवल बात टालना है। दशक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।

अब शोध आदि को अलग अलग देखिये। यदि हमारे मन में किसी ऐसे के प्रति शोध है जिसमें हमें या हमारे किसी सम्बन्धी को पीड़ा पहुँचाई है तो उस शोध में रसात्मकता न होगी। पर किसी लोक पीडक या क्रूरकामा अत्याचारी को देख-सुनकर जिस शोध का संचार हम में होगा वह रसकोटि का होगा जिसमें प्रायः सब लोग योग देंगे। इसी प्रकार यदि किसी भाँड़ी से शर निकलता देखें हम भय से कापने लगें तो यह भय हमारे व्यक्तिवत्त्व से इतना अधिक सम्बद्ध रहेगा कि आत्मबन्धन के पूरा स्वरूप-ग्रहण का अवकाश न होगा और हमारा ध्यान अपनी ही मृत्यु पीड़ा आदि परिणामों की ओर रहेगा। पर जब हम किसी वस्तु की भयकरता को अपना ध्यान छोड़ लोकर सम्बद्ध देखेंगे तब हम रसभूमि की सीमा के भीतर पहुँचे रहेंगे। इसी प्रकार किसी सड़ी गली दुर्गन्धयुक्त वस्तु के प्रत्यक्ष सामने आने पर हमारी सनेहना या जो क्षोभपूर्ण सकोच होगा वह तो स्थूल होगा पर किसी ऐसे घणित आचरणवाले के प्रति जिसे देखते ही लोक रुचि के विघात या आकुलता की भावना हमारे मन में होगी हमारी जुगुप्सा रसमयी होगी।

गोच को लेकर विचार करने पर हमारा पक्ष बहुत स्पष्ट हो जाता है अपनी इष्ट-हानि या अनिष्ट प्राप्ति में जो गोच नामक वास्तविक दुःख होता है वह तो रसकोटि में नहीं आता पर दूसरा की पीड़ा वेदना देव जो कर्षणा जगती है उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति नहीं जा सकती है। दूसरा स तात्पर्य ऐसे प्राणियों से है जिनसे हमारा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। गार्क अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है और कर्षणा दूसरा की दुर्गति या पीड़ा पर हानी है। यही दोना में अन्तर है। इसी अन्तर को

expression of this life at its finest is forced to use the technique of poetry. If we do not live in consonance with good poetry, we must live in consonance with bad poetry. I do not see how we can avoid the conclusion that a general insensitivity to poetry does witness a low level of general imaginativeness of life.

—Practical Criticism (Summary)

लाभ्य करने काव्यगत पात्र (आश्रय) की शोकपूर्ण व्यञ्जना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने शोक रस न कहकर 'कण्ठा रस' कहा है। कण्ठा हा एव' ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपा में और सब दशाया म रसात्मक होती है। इसी से भवभूति न करण रस को ही रसानुभूति का मूल माना और अग्रज कवि नेनी ने कहा कि 'समम मधुर या रसमयी वाग्धारा वही है जो कण्ठा प्रसंग लेकर घने।'

अब प्रकृति के नाना रूपा पर आइए। अनेक प्रकार क प्राकृतिक दृश्या को सामन प्रत्यक्ष देख, हम जिस मधुर भावना का अनुभव करते हैं क्या उसे रसात्मक न मानना चाहिए? जिस समय दूर तक फने हरे भरे टीला के बीच में घूम घूमकर बन्त हुए स्वच्छन्द नाला इधर उधर उमरी हुई वेढीन चटटाना और रगविरण फूना से गुथी हुई भाडिया की रमणीयता में हमारा मन रमा रहता है उस समय स्वाधमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन किन्तनी दूर रहता है। यह रसदशा नहीं तो और क्या है? उस समय हम विश्व-काव्य के एक पृष्ठ के पाठक क रूप में रहन हैं। इस अनन्त दायकाव्य के हम सदा कठपुतली की तरह काम करनेवाले अभिनेता ही नहीं बन रहते कभी कभी सहृदय दायक की हैसियत को भी पहुँच जाते हैं। जो इस दशा को नहीं पहुँचते, उनका हृत्प यद्गत सबुचिन्त या निष्प कोटि का होता है। कविता उनसे बहुत दूर की वस्तु होती है कवि के मने ही समझ जाते हा। शब्द-काव्य की मिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।

उपमुक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सबया पुष्यक कोई अतव त्ति नहीं है बल्कि उसा का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने स्पष्ट सूचित कर दिया है कि शामनारूप में स्थित भाव ही रसरूप में जगा करते हैं। यह बासना या मस्कार वशानुक्रम में चली आती हुई शीघ्र भाव-परम्परा का मनुष्य जाति की अत प्रकृति में निहित सचय है।

स्मृति रूप विधान

जिस प्रकार हमारी आँखों के सामन आण हुए कुछ रूप-व्यापार हमें रसात्मक भावा में मान करत हैं उसी प्रकार भूतकान में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी कभी रसात्मक होता है। जब हम जन्ममूमि या स्वदेग का बाल मयाआ या कुमार अवस्था के अतीत दृश्या और परिचित स्थानों आदि का स्मरण करते हैं तब हमारी मतीवृत्ति स्वाध या शरीर-यात्रा के सम्ये विधाना में हटकर शुद्ध भाव-क्षेत्र में स्थित हो जाती है। नीतिकुणाल लोग साह्य कहा करे कि बीती ताहि विस्तारि द, गडे मुँ उलाढने म क्या लाभ पर मन नही मानता अतीत क मधुस्रोत म कभी कभी अवगाहन किया ही करता है। ऐसा स्मरण वास्तविक होने पर भी रसात्मक होता है। हम मचमुच स्मरण करते हैं और रसमय हात हैं।

स्मृति दो प्रकार की होती है—(क) विगुद्ध स्मृति, और (ख) प्रत्यक्षायित स्मृति या प्रत्यभिगान।

(क) विशुद्ध स्मृति

या तो नित्य न जाने कितनी बातों का हम स्मरण किया करते हैं पर इनमें कुछ बातों का स्मरण ऐसा होता है जो हमारी मनावृत्ति का परार यात्रा के विधानों की उनमें से जन्म करके शुद्ध मुक्त भाव भूमि में ले जाता है। प्रिय का स्मरण बाल्यकाल या यौवनकाल के अतीत जीवन का स्मरण प्रवास में स्वप्न के स्थानों का स्मरण एसा ही होता है। स्मरण सचारी भावों में माना गया है जिसका तात्पर्य यह है कि स्मरण रस कोटि में सभी जा सकता है जबकि उसका लगाव किसी स्थायी भाव से हो। किसी को कोई बात भूल गई हो और फिर याद आ जाये या कोई वस्तु वही रखी है यह ध्यान में आ जाय तो एसा स्मरण रस शत्रु के भीतर न हागा। अब रहा यह कि वास्तविक स्मरण—किसी काय में वर्णित स्मरण नहीं—कैसे स्थायी भावों के साथ सम्बद्ध होने पर रसात्मक होता है? यदि हम और वर्णा से सम्बद्ध स्मरण ही अधिकतर रसात्मक काटि में आता है।

राग और प्रीति नामक निबन्ध में हमने रूप गुण जादि से स्वतंत्र साहचर्य को भा प्रेम का एक सत्र कारण बताया है। इस साहचर्य का प्रभाव सबमें प्रबल रूप में स्मरण-काल के भीतर देखा जाता है। जिन व्यक्तियों की जोर हम कभी विगण रूप से जाकर्षित नहा हूँ थे यन्त तक कि जिनसे हम चिन्ने या उडते भगवन्ने थे एग या काल का लम्बा यवमान पड जाने पर हम उनका स्मरण प्रेम के साथ करते हैं। इसी प्रकार जिन वस्तुओं पर आत जाने केवन हमारी नजर पडा कर्नी था जिनको सामने पाकर हम किसी विगण भाव का अनुभव नहीं करते थे व भी हमारा स्मृति में मधु में लिपटी हुई आती हैं। इस माय्य का रहस्य क्या है? जो हो हम तो एसा लिखाई पडना ह कि हमारी यह वाच यात्रा जिन जावन कर्ने हैं जिन जिन रूपा के बीच से होनी चर्नी आती है हमारा हृदय उन गरजा पान समरकर अपनी रागात्मक मना के जन्तभूत करने का प्रयत्न करता है। यन्त न वहा तक वह एक भावमना की प्रतिष्ठा चाहता है। पान प्रसार के माय माय रागात्मक वक्ति का यन् प्रसार एकीकरण या समन्वित की एक प्रक्रिया है। पान हमारा जात्मा के नरम्य स्वरूप का सकत है रागात्मक हृदय उसके व्यापक स्वरूप का। पान ब्रह्म है तो हृदय इश्वर है। किसी वक्ति का वस्तु को जानना ही वह शक्ति नहा है जो उस व्यक्ति या वस्तु का हमारी अतम्मता में सम्मिलित कर दे। वह शक्ति है राग या प्रेम।

जसा वह आए हैं रति हम जोरकरणा से सम्बद्ध स्मरण अधिकतर रस शत्रु में प्रवेश करता है। प्रिय का स्मरण वाचसत्याओं का स्मरण अतीत जीवन के दया का स्मरण ए रतिभाव से सम्बद्ध स्मरण हाता है। किसी दान दुःखा या पीडित व्यक्ति के उसकी विगण आहृति चर्णा आदि के स्मरण का लगाव वर्णा से हाता है। दूगरे भावों के जालम्बना का स्मरण भी कभी रसितन हाता है पर वना जहाँ हम सहृदय रसात्मक रूप में कर्ने हैं अथवा जहाँ आत्मन केवल हमारा ही व्यक्तिगत भावमना से सम्बद्ध नहा रसात्मक नर वाचन की भावमना में सम्बद्ध नहा है।

(ख) प्रत्यभिज्ञान

अब हम उस प्रत्यक्ष मिश्रित स्मरण का लत हूँ जिस प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान में थोड़ा-सा अंग प्रत्यक्ष होता है और बहुत-सा अंग उसी के सम्बन्ध से स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। किसी व्यक्ति का हमने कहीं देखा और देखने के साथ ही स्मरण किया कि यह वही है जो अमुक स्थान पर उस दिन बहुत-से लोगों के साथ भगवा कर रहा था। वह व्यक्ति हमारे सामने प्रत्यक्ष है। उसके सहारे से हमारे मन में भगवत् का वह सारा दृश्य उपस्थित हो गया जिसका वह एक अंग था। यह वही है इन्हीं अंगों में प्रत्यभिज्ञान की व्यञ्जना होती है।

स्मृति के नामा प्रत्यभिज्ञान में भी रज-मन्त्र का बड़ी गहरी शक्ति होता है। बाल्य या कामार जावन के किसी साधक बहुत दिना पाछे सामने आन पर कितने पुराने दृश्य हमारे मन के भातर उमड़ पड़ते हैं और हमारी बलि उनके माधुय में किस प्रकार मग्न हो जाती है। किसी पुराने पेठ को देखकर हम कहने लगते हैं कि यह वही पेठ है जिसके नीचे हम अपने अमुक अमुक साधिया के साथ बठा करते थे। किसी घर या चबूतर के देखकर भी अतीत दृश्य इसी प्रकार हमारे मन में आ जाते हैं और हमारा मन बुद्ध और हो जाता है। कृष्ण के गोकुल से चन जान पर विमोहिनी गाधिया जब जब यमुना तट पर जाती हैं तब तब उनके भीतर यही भावना उठना है कि यह वही यमुना तट है और उनका मन बालक का परदा फाड़ अतीत के उस दृश्य-क्षेत्र में जा पहुँचता है जहाँ श्रीकृष्ण गाधिया के साथ उस तट पर विचरते थे मन हूँ जात अर्जों वही का जमुना के तीर।

प्राचीन कविया न भी प्रत्यभिज्ञान के रसात्मक स्वरूप का बराबर विधान किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में ही रमा रहता है अपने व्यक्तित्व को पाछे डाले रहता है।

दशा की विपरीतता की भावना लिए हुए जिस प्रत्यभिज्ञान का उन्मत्त हाना है उसमें करण बलि के संचालन की बड़ी गहरी शक्ति होती है। कवि और कला बराबर उसका उपयोग करत हैं। जब हम किसी ऐसी बस्ती ग्राम या घर के खडहर को देखते हैं जिसमें किसी समय हमने बहुत चहल-पहल या सुख-समृद्धि देखी थी तब यह वही है की भावना हमारे हृदय को अनिवचनीय करण स्रोत में मग्न करती है। अग्रजी के परम भावुक कवि गोल्डस्मिथ ने एक अत्यन्त मार्मिक स्वरूप दिखाने के लिए 'ऊजड ग्राम' की रचना की थी।

स्मृत्याभास कल्पना

अब तक हमने रसात्मक स्मरण और रसात्मक प्रत्यभिज्ञान को विमुक्त रूप में देखा है अर्थात् ऐसी बातों के स्मरण का स्विकार किया है जो पहले कभी हमारे सामने हो चुकी हैं। अब हम उस कल्पना को लेते हैं जो स्मृति या प्रत्यभिज्ञान में पहले देखी हुई वस्तुओं या बातों के स्थान पर या तो पहले सुनी या पढ़ी हुई बातें हूँ या करती हैं अथवा

अनुमान द्वारा पूणतया निश्चित । बुद्धि और वाणी के प्रसार द्वारा मनुष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष बोध तक ही परिमित नहीं रहता वतमान के जागे-पीछ भी जाना है । आग आने वाली बाता से महा प्रयोजन नहीं प्रयोजन है अतीत से । अतीत की कल्पना भावुका म स्मृति की-सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी कभी अतीत का कोई वचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का-सा रूप ग्रहण करती है । ऐसी कल्पना के विनोप मार्मिक प्रभाव का कारण यह है कि यह सत्य का आधार लेकर खड़ी होती है । इसका आधार या तो 'आप्त शास्त्र' (इतिहास) होता है अथवा 'गुद्ध अनुमान' ।

पहले हम स्मृत्याभास कल्पना के उस स्वरूप को लेते हैं जिसका आधार 'आप्त शास्त्र' या इतिहास होता है । जैसे अपने व्यक्तिगत अतीत जीवन की मधुर स्मृति मनुष्य में होती है वैसे ही समष्टिरूप में अतीत नर जीवन की भी एक प्रकार की स्मृत्याभास कल्पना होती है जो इतिहास के मनेत पर जगता है । इसकी मार्मिकता भी निज के अतीत जीवन की स्मृति की मार्मिकता के ही समान होती है । मानव-जीवन की चिरकाल स चली आती हुई अखड परम्परा के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के 'गुद्ध स्वरूप' की निरव्यता अखडता और 'यापकता का आभास देती है । यह स्मृतिस्वरूप कल्पना कभी कभी प्रत्यभिज्ञान का भी रूप धारण करती है । प्रसंग उठने पर जैसे इतिहास द्वारा ज्ञात किसी घटना या दृश्य के 'योरो को वही बठे बठे हम मन में लाया करते हैं और कभी कभी उनमें लीन हो जाते हैं वैसे ही किसी इतिहासप्रसिद्ध स्थल पर पहुचने पर हमारी कल्पना चट उस स्थल पर घटित किसी मार्मिक पुरानी घटना अथवा उससे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के बीच हम पहुचा देती है जहाँ से हम फिर वतमान की ओर लौटकर कहने लगते हैं कि 'यह वही स्थल है जो कभी सजावट से जगमगाता था जहाँ अमुक सम्राट सम्राज्ञी के बीच सिंहासन पर विराजते थे यह वही फाटक है जिस पर य वीर अद्भुत पराक्रम के साथ लड थे इत्यादि । इस प्रकार हम उस काल से लेकर इस काल तक अपनी सत्ता के प्रसार का आराप या अनुभव करते हैं ।

सूक्ष्म ऐतिहासिक अध्ययन के साथ साथ जिसमें जितनी ही गहरी भावुकता होगी जितनी तत्पर कल्पना-शक्ति होगी उसके मन में उतने ही अधिक व्योरे आएंगे और पूण चित्र खडा होगा । इतिहास का कोई भावक और कल्पना सम्पन्न पाठक यदि पुरानी इतिहास की बन्नीज घानेसर चित्तौड उज्जयिनी विन्दिगा इत्यादि के खडहरा पर पहुच पहले भी जा खडा होता है तो उसके मन में वे सब बातें आ जाती हैं जिन्हें उसने इतिहास में पढ़ा था या लोग से सुना था । यदि उसकी कल्पना तीव्र और प्रचुर हुई तो बड बड तोरणा से युक्त उनत प्रासादा की उत्तरीय और उष्णीपधारी नागरिका की बलवत रजित चरणा में पण्डित नूपुरा की मकार की कटि के नीचे लटकती हुई बाची की लडिया की धूप-वासित बस-बलाप और पत्रभग-मडित गडस्थल की भावना उसके मन में चित्र-नी आ खडी होगी । उक्त नगरा का यह रूप उसने कभी देखा नहीं है पर पुस्तका के पण्डित-पाठन मध्य रूप की कल्पना उसके भीतर सत्कार के रूप में जम गई है जो उन नगरों के स्वभावसेय के प्रत्यक्ष दृशन से जग जाती है ।

एक बात कह देना आवश्यक है कि आप्त वज्रन या इतिहास के मन्त्र पर चलन वाली कल्पना या मूत भावना अनुमान का ही सहारा लेती है। किसी घटना का वर्णन करने में इतिहास उस घटना के समय की रीति, वेशभूषा, सभ्यता आदि का ध्यौरा नहीं देता चलता। अतः किसी ऐतिहासिक काल का कोई चित्र मन में लाते समय ऐसे 'ध्यौरा' के लिए अपनी जानकारी के अनुसार हमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है।

यह तो हुई आप्त शब्द या इतिहास पर आश्रित स्मतिरूपा या प्रत्यभिमानरूपा कल्पना। एव प्रकार की प्रत्यभिमानरूपा कल्पना और होती है जा बिलकुल अनुमान के ही सहारे पर खड़ी होती और चलती है। यदि हम एकाएक किसी अपरिचित स्थान के खडहरा में पहुँच जाते हैं—जिम्हें सम्बन्ध में हमने कहीं कुछ सुनाया पड़ा नहीं है—तो भी गिरे पडे मकाना, दीवारा, देवालया आदि को सामने पाकर हम कभी कभी कह बैठते हैं कि 'यह वही स्थान है जहाँ कभी मित्रा की मडली जमती थी' रमणिया का हास विलास होता था, बानकों का झीड़ा ख सुनाइ पडता था इत्यादि। कुछ चिह्न पाकर केवल अनुमान के सन्त पर ही कल्पना इन रूपा और व्यापारा की योजना में तत्पर हो गई। ये रूप और व्यापार हमारे जिस मार्मिक रागात्मक भाव के आलम्बन होते हैं उसका हमारे व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई सम्बन्ध नहीं अतः उसकी रसात्मकता स्पष्ट है।

अतीत की स्मृति में मनुष्य के लिए स्वाभाविक आकषण है। अथपरायण लाख कहा करें कि 'गडे मुँदे उखाडन से क्या फायदा, पर हृदय नहीं मानता, बार बार अतीत की ओर आया करता है' अपनी यह कुरी आप्त नहीं छोड़ता। इसमें कुछ रहस्य अवश्य है। हृदय के लिए अतीत एक मुक्ति-शोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बंधना से छूटा रहता है और अपने गुड रूप में विचरता है। वतमान हम अंधा बनाए रहता है अतीत बीच बीच में हमारी आँखें खोलना रहता है। मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखलानेवाला दण्ड मनुष्य के पीछे रहता है, आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद्य परदा रहता है। बीती विसारनेवाले आगे की सुध रखने का दावा किया करें परिणाम अगान्नि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वतमान को समालने और आगे की सुध रखने का डका पीटनेवाले समार में जितने ही अधिक होते जाते हैं सध-शक्ति के प्रभाव से जावन की उलमन्न उतनी ही बढ़ती जाती है। बीती विसारने का अभिप्राय है जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसजन सहृदयता और भावुकता का भग—केवल अथ की निष्कुर झीडा।

हमारी समझ में अतीत की आर मुड मुडकर देखने की प्रवृत्ति मुड-मुड की भावना से परे है। स्मृतियाँ हम केवल सुखपूर्ण दिना की भीकियाँ नहीं समझ पडतीं। वे हम लीन करती हैं हमारा मन स्पग करती हैं बस इतना ही हम कह सकते हैं। महा बात स्मृत्याभास कल्पना के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। इतिहास द्वारा ज्ञात बाता की मूत भावना कितनी मार्मिक, कितनी लीन करनेवाली होती है, न सहृदयता से धिपा है, न धिपाते बनता है। मनुष्य की अन्त प्रकृति पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। जसा कि कहा जा चुका है इससे स्मृति की सी सजीवता होती है। इस मार्मिक प्रभाव और सजीवता

उनमें नयेपन की गुंजायंग नही पर आश्रय व वचना की नेवरूपता की सीमा नहीं। इन वचना की भी कवि द्वारा कल्पना ही की जाती है। वचना द्वारा भाव-व्यंजना के क्षेत्र में कल्पना को पूरी स्वच्छन्दता रहती है। भाव की ऊर्चा गहराई की कोई सीमा नहीं। उसका प्रसार लोक का अतिश्रमण कर सकता है उसकी सम्यक व्यंजना के लिए प्रकृति के वास्तविक विधान व भी पर्याप्त नहीं जान पड़ते। मन की गति का वेग अबाध होता है। प्रेम के वेग में प्रेमी प्रिय को अपनी आँखा में बसा हुआ कहता है उसका पाँव रखने के लिए पलकों के पाँव बिछाता है उसका जभाव में दिन के प्रकाश में भी चारा ओर धूँय या अंधकार देखता है अपने शरीर की भस्म उड़ाकर उसके पास तक पहुँचाना चाहता है। इसी प्रकार क्रोध के वेग में मनुष्य शत्रु को पीसकर चटनी बना डालने के लिए खड़ा होता है उसके घर को खोकर तालाब बना डालने की प्रतिज्ञा करता है। उस्ताद या वीरता की उमंग में वह समुद्र पाट दन, पहाड़ा को उखाड़ फेंकने का हौसला प्रकट करता है।

ऐसे लोकोत्तर विधान करनेवाली कल्पना में भी यह देखा जाता है कि जहाँ काय वारण विवेचनपूर्वक वस्तु-व्यंजना का टेढ़ा रास्ता पकड़ा जाता है वहाँ वचन्य रह जाता है मार्मिकता देव जाती है। जिस यत्नि को कहें कि कृष्ण के वियोग में राधा का तिन पत राना सुनकर लोग घर घर में नाचें बनवा रहे हैं ता यह कथन मार्मिकता की हृद के बाहर जान पड़गा।

विभाव पक्ष के ही अन्तगत हम उन सब प्रस्तुत वस्तुओं और व्यापारों का भी लने हैं जो हमारे मन में मीन्द्य माधुर्य दीप्ति वान्ति प्रताप ऐश्वर्य विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं। ऐसी वस्तुओं और व्यापारों की योजना करनेवाली प्रतिभा को भा विभाव विधायिनी ही समझना चाहिए। कवि कभी कभी सौंदर्य माधुर्य दीप्ति श्लाघादि की अनूठी सृष्टि सृष्टि करन के लिए चारों ओर से सामग्री एकत्र करके पराकाष्ठा का पहुँची हुई लोकोत्तर योजना करते हैं। यह भी कवि-रस के अन्तगत है पर सबसे अपेक्षित उसकी कोई नित्य प्रक्रिया नहीं। मन के भीतर नोनातर उत्पन्न की भाँकियाँ तयार करना भी कल्पना का एक काम है। इस काम में कविता उम प्राय लगया करती है। कुछ लोग तो कल्पना और कविता का यही काम बताते हैं—छासकर वे लोग जो काव्य के स्वप्न का सगा भाई मानते हैं। जिस स्वप्न को वे अतस्मना में निहित अतप्त वासनाओं की अन्तव्यंजना कहते हैं वस ही काव्य को भी सतार में जितना अद्भुत, सुन्दर मधुर दीप्त हमारे सामने आता है जितना सुख पमद्वि सदवति सद्भाव प्रेम आनन्द हम निश्चाई पढ़ता है उतने से तप्त न होने के कारण अधिक की इच्छाएँ हमारी अतस्मना में दबी पडी रहती है। इसी प्रकार शक्ति उप्रता प्रचंडता उषल-मुषल ध्वंस इत्यादि को हम जितने बढ़-चढ़ रूप में देखना चाहते हैं उतने बढ़ चने रूपा में वहीं न देते हमारी इच्छा चतना या सजा के नीचे अज्ञान दगा में दबी पडी रहती है। वे ही इच्छाएँ तन्नि के लिए कविता के रूप में व्यक्त होती हैं और श्रोताओं को भी तृप्त करती हैं।

इस सम्बन्ध में हम यहाँ इतना ही कहना चाहते हैं कि काव्य सबथा स्वप्न के रूप की वस्तु नहीं है। स्वप्न के साथ यदि उसका कुछ मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी

हमारी वाह्य इन्द्रिया के सामने नहीं रहना और वाच्य-वस्तु भी । दाना व आविर्भाव का स्थान ही एक है स्वरूप में भेद है । कल्पना में आया हुई वस्तुओं की प्रतीति में स्वप्न में दिमाई पहनवाली वस्तुओं का प्रतीति भिन्न प्रकार का होती है । स्वप्न काल की प्रतीति प्रायः प्रत्यक्ष ही के समान होती है । दूसरा बात यह है कि काव्य में गीत के भी प्रसंग रहते हैं । गीत की वासना की तन्नि गायद ही नाई प्राणी चाहना हो ।

उपयुक्त सिद्धान्त का ही एक अग काम-वासना का सिद्धांत है जिसके अनुसार वाच्य का सम्बन्ध और कलाओं के समान काम-वासना का तन्नि स है । यहाँ पर इतना ही समझ रखना आवश्यक है कि यह मत वाच्य को सन्नि कलाओं में गिनने का परिणाम है । कलाओं व सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य केवल मौ-दय की अनुभूति उत्पन्न करना है यह मत कुछ ठाव कहा जा सकता है । इन्हीं से चौंसठ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ काम-शास्त्र व भीतर हुआ है । पर वाच्य को गिनती कलाओं में नहीं की गई है ।

अब तक जो कुछ कहा गया है वह प्रस्तुत के सम्बन्ध में है । पर वाच्य में प्रस्तुत व अतिरिक्त अप्रस्तुत में बहुत अधिक अर्थात् होता है क्योंकि साम्य भावना वाच्य का बड़ा शक्तिगानी अस्त्र है । कहने की आवश्यकता नहीं कि अप्रस्तुत की योजना भी कल्पना ही द्वारा होता है । आधुनिक पाश्चात्य समाशा-स्त्र में तो कल्पना गद्य में अधिकतर अप्रस्तुतविधायिनी कल्पना ही समझी जाती है । अप्रस्तुत की योजना व सम्बन्ध में भी वही बात समझनी चाहिए जो प्रस्तुत के सम्बन्ध में हम कह आये हैं अर्थात् उसकी योजना भी यदि भाव के सकेत पर होगी सौन्दर्य माधुर्य भीषणता काचित दीप्ति इत्यादि की भावना में वृद्धि करनेवाली होगी तब तो वह वाच्य व प्रयोजन की हागी यन्नि केवल रंग आवृत्ति छाटाई आदि का ही हिसाब किताब बटाकर की जायगी तो निष्फल ही नहीं बापक भी होगी । भाव का प्रेरणा में जो अप्रस्तुत पाये जाते हैं उनका प्रभविष्णुता पर कवि की दृष्टि रहती है इस बात पर रहती है कि इनके द्वारा भी वसा हा भावना जगे जसी प्रस्तुत के सम्बन्ध में है । यह देखकर सन्तोष होता है कि हिन्दी की वर्तमान कविताओं में प्रभाव-साम्य पर ही विशेष दृष्टि रहती है ।

भाषा गली को अग्निक व्यञ्जक मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है । कल्पना की सहायता यहाँ पर भाषा की सक्षणा और व्यञ्जना नाम की शक्तियाँ करती हैं । भाषा के महारे ही कवि ऐसी भाषा का प्रयोग वेधक कर जाते हैं जसा सामान्य व्यवहार में नहीं सुनाई पड़ती । ब्रजभाषा के कवियों में घनानन्द इस प्रसंग में सबसे अधिक उल्लेख-योग्य हैं । भाषा का वे इतनी क्रावतिनी समझने में कि अपनी भाषा के प्रवाह के साथ उसे जिधर चाहते थे उधर बधक मोड़ते थे ।

आजकल हमारी वर्तमान काव्य धारा की प्रवृत्ति इसा प्रकार की सामाजिक चक्रा की ओर विगप है । यह अच्छा लक्षण है । इसके द्वारा हमारी भाषा की अधिव्यञ्जना शक्ति के प्रसार की बहुत-कुछ आशा है । इन नये प्रयोगों का आधार या तो किसी न किसी प्रकार की साम्य भावना है अथवा किसी वस्तु का उपनमन या प्रतीक व रूप में ग्रहण । दोनों बातें कल्पना ही व द्वारा हाती हैं । उपनमनों या प्रतीकों का चुनाव मृत्ति मत्ता मार्मिकता या आतिगम्य आदि की दृष्टि से होता है—जस शोक या विषाद के

स्थान पर अथु ह्य और जानद के स्थान पर पर हास प्रिय प्रमी क लिए मुकुल मधुप यौवन काल या सयोग-काल के लिए मधुमास शुभ्र के स्थान पर रजत या हस दीप्ति के स्थान पर स्वण इत्यादि । यह सारा 'यवसाय कल्पना ही का है ।

काव्य की पूण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों क लिए अनिवार्य है । काव्य की कोई उक्ति कान म पडते समय जब काव्य वस्तु के साथ साथ वक्ता या बोद्ध य पात्र की कोई भूत भावना भी खडी रहती है तभी पूरी तमयता प्राप्त होती है ।

४

जायसी का विरह वणन

जायसी का विरह-वणन कही कही अयुक्तिपूण हाने पर भी मञ्जाक की हृत् तक नहीं पहुचने पाया है उसमे गाम्भीय बना हुआ है । इनका अत्युक्तिया बात की कराभात नहीं जान पडती हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना क ग-सकेत प्रतीत होती हैं । उनके अतगत जिन पदार्या का उल्लेख होता है वह हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देनेवाले होने हैं बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापनेवाले मानदण्डमात्र नहीं । जाडे के दिना म नी पढोसियो तक पहुच उह बेचन करनेवाले शरीर पर रखे हुए कमल के पत्तो को भूनकर पापड बना डानेवाले बोतल का गुलाबजल सुखा डालनेवाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होने उसके वेदनात्मक और दश्य अश पर जितनी दष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी नाप-जोख पर नहीं जो प्राय ऊहात्मक हुआ करती है । नाप जोखवाली उहात्मक पद्धति का जायसी ने कुछ ही स्थानो पर प्रयोग किया है । जैसे राजा की प्रम पत्रिका क इस वणन मे

आखर जराहि न काहू छुआ । तब दुख दखि चला नेइ सूआ ॥

अथवा नागमती के विरह-ताप की इस व्यजना मे—

जेहि पत्नी के नियर होइ कहै विरह क बात ।

सोई पखी जाइ जरि तरिवर होहि निपात ॥

इस ऊहात्मक पद्धति का दो-चार जगह 'यवहार चाहे जायसी न किया हो पर अधिकतर विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशद व्यजना ही जायसी की विशेषता है । इन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर वह अधिकाश सवेदना के स्वरूप मे है परिमाण निरेश के रूप म नहीं है । सवेदना का यह स्वरूप उत्प्रेक्षा अलकार द्वारा यवत किया गया है । अत्युक्ति या अतिगयोक्ति और उत्प्रेक्षा मे सिद्ध और साध्य का भेद होता है । उत्प्रेक्षा म अध्यवमान माध्य (सभावना या सवेदना के रूप म) होता है । और अत्युक्ति या अतिगयोक्ति म सिद्ध । धूप ऐसी है कि रखते रखते पानी खोल जाता है यह वाक्य मात्रा का आधिक्यमान सूचित करता है । मात्रा के आधिक्य का निरूपण ऊहाद्वारा कुछ चक्कर के साथ भी हो सकता है जसा कि विहारी ने प्राय किया है । पर यह पद्धति

काव्य के लिए सबत्र उपयुक्त नहीं। लाक्षणिक प्रयोगों को लेकर कुछ कविया ने ऊहा का जो विस्तार किया है वह अस्वाभाविक, नीरस और भद्दा हो गया है। वह कुल का दीपक है इस बात को लेकर कोई कह कि उसके घर तेल के खच की बिलकुल बचत होती है ता इस उक्ति में कवित्व की कुछ भी सरसता न पाई जायेगी। विहारी का 'पत्रा ही तिथि पाइए वाला दोहा इसी प्रकार का है। अस्तु, 'धूप ऐसी है कि रखते रखते पानी खीन जाता है यह कथन ऊहा द्वारा मात्रा निरूपण के रूप में हुआ। यही बात यदि इस प्रकार कही जाये कि धूप क्या है मानो चारा ओर आग बरस रही है तो यह सवेदना के रूप में कहा जाना होगा। पहले कथन में ताप की मात्रा का आधिक्य व्यंग्य है दूसरे में उम ताप से उत्पन्न हृदय की वेदना। एक में वस्तु व्यंग्य है दूसरे में सवेदना पहला वाक्य वास्तव वस्तु का व्यञ्जक है और दूसरा आभ्यन्तर अनुभूति का। मतलब यह कि जायसी ने यह कर्म कहा है कि विरह-ताप इतनी मात्रा का है यह अधिक कहा है कि ताप हृदय में ऐसा जान पड़ता है जैसे—

(क) जानहुँ अग्नि के उठहि पहारा । औ सब लागहि अंग अंगारा ॥

(ख) जरत वजागिनिकरु पिठ छाहां । आइ बुभाउ अगारन्ह माहां ॥

नागिउ जर जर जस मारु । फिरि फिरि भूजसि तजिउ न वारु ॥

फिरि फिरि भजसि तजिउ न वारु माठ की तपती बालू के बीच पड़ा हुआ अनाज का दाना जैसे बार बार भूने जान पर भी उछल उछल पड़ता है पर उस बालू से बाहर नहा जाता उसी प्रकार उस प्रेमजय सताप के अतिरेक से मेरा जी हट हटकर भी उस सताप के सहने की बुरी लत के कारण उसी की ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रिय का ध्यान आत ही चित्त ताप से विद्धन हो जाता है फिर भी वह बार बार उसी का ध्यान करना रहता है। प्रेम-दग्गा चाहे धोर यत्रणामय हा जाय पर हृदय उस दग्गा से अलग होना नहीं चाहता। यहा इसा विलक्षण स्थिति का चित्रण है। यहा हम कवि को वेदना के स्वरूप विलेपण में प्रवृत्त पाते हैं ताप का मात्रा नापने में नहीं। मात्रा की नाप तो बाहर बाहर से भी हो सकता है पर प्रेम वेदना के आभ्यन्तर स्वरूप की पहचान प्रमवेदनापूर्ण हृदय में ही हो सकती है। जायसी का ऐसा ही हृदय था। विरह ताप का वर्णन कवि ने अधिकतर सादृश्य-सम्बन्धमूलक गौणी लक्षणा द्वारा किया है।

आधिक्य या यूनता सूचित करने के लिए ऊहात्मक या वस्तु-योजनात्मक गली का विधान कविया में तीन प्रकार का देखा जाता है—

१ ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि प्रौढोक्ति सिद्ध है।

२ ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वतःसम्बन्धी है और किसी प्रकार की कल्पना नहीं की गई है।

३ ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य है पर उसके हेतु की कल्पना की गई है।

इनमें से प्रथम प्रकार के उदाहरण वे हैं जो विहारी ने विरह-ताप के वर्णन में किए हैं—जस पढोसियों को जाडे की रात में भी बेचन करनवाला, या बानल में भर गुनाबजल को मुखा डालनेवाला ताप। दूसरे प्रकार का उदाहरण एक स्थान पर जायसी

बहुन अच्छा निया है पर वह विरह-ताप के वणन म नहीं है वात की दीघता के वणन म है। आठ वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घरे रहा। इम बात को एक बार तो कवि ने साधारण इतिवत्त के रूप मे कहा पर उससे वह गोचर प्रत्यक्षीकरण न हो सका जिसका प्रयत्न काय करता है। आठ वर्ष के दीघत्व के अनुमान के लिए फिर उसन य दृश्य आधार सामने रखा—

आइ माह अमराव जो लाए। फरे फरे प गढ़ नहि पाए ॥

सच पूछिए तो वस्तु यजनात्मक या ऊहात्मक पद्धति का सही रूप म अवलबन सबसे अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इसम अनमान का आधार सत्य या स्वत सभवी है। जायसी अनुमान या ऊहा के आधार के लिए ऐसी वस्तु सामने लाए हैं जिसका स्वरूप प्राकृतिक है और जिसमे सामान्यत सब लोग परिचित होते हैं। इसी प्रकार एक गीत म एक वियोगिनी नायिका कहती है कि मेरा प्रिय दरवाज पर जो नीम का पड़ लगा गया था वह बन्द कर अब फूल रहा है पर प्रिय न लौटा। आधार के सत्य और प्राकृतिक स्वरूप के कारण इस उक्ति म कितना भोलापन बरस रहा है।

विरह-ताप की मात्रा का अधिक्य सूचित करने के लिए जहाँ कही जायसी न ऊहात्मक या वस्तु यजनात्मक गली का अवलबन क्रिया है, वहाँ अधिकतर तीसरे प्रकार का विधान ही देखने में आता है जिसमे ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य और स्वत सभवी होता है पर उसके हेतु की कुछ और भी कल्पना की जाती है। इस प्रकार का विधान भी प्रथम प्रकार के विधान से अधिक उपयुक्त होता है। इसमे हेतुप्रक्षा का सहारा लिया जाता है जिसमें अप्रस्तुत वस्तुआ का गहीत दृश्य वास्तविक होता है केवल उमका हेतु कल्पित होना है। हेतु परोक्ष हुआ करता है इससे उसकी अनध्यता सामने आकर प्रतीति म बाधा डालती नहीं जान पड़ती। इस युक्ति से कवि विरह-ताप क प्रभाव की व्यापकता का बताना बढ़ाता सृष्टि भर मे दिखा देता है। एक उदाहरण काफी हागा—

अम परजरा विरह कर गठा। मध मास भए धूम जो उठा ॥

दाग राहू कतु गा दाघा। सूख जरा चान जरि आघा ॥

जो मज नखन तराफ जरही। टूटहि लूक धरति मह परही ॥

जर मा बरनी ठाबहि ठाऊ। दृक् पनास जर तहि दाऊ ॥

एन चौपाइया म मधा का न्याम होना राहू कतु का काल (मनमा-सा) होना मूय का तपना चन्मा की कला का छडित होना पलास के फूलो का लान (दहकते अगारे-सा) हाना प्राप्ति साथ हैं। वे विरह-ताप के कारण ऐसे कवन यह बात कल्पित है।

ताप क अनिश्चित विरह क और और अगा का भी बियास जायसी न इसी दृष्टिकारिणा और व्यापकत्व विधायिनी पद्धति पर बाह्य प्रकृति को मून आभ्यतर जगन का प्रतिबिम्ब-सा न्यायन हाए किया है। काम हेतु प्रक्षा म लिया गया है। प्रम योगी रत्नगन क विरह-व्यथित मय का भाव हम मूय चन् कन क पड पनी प-धर चन्गन मय म न्यन चनत हैं—

रोव रोव ब बान जो पूरे । सूतहि सूत रहिर मुख छूटे ॥
 ननहि चली रक्त क घारा । क्या भीजि भएउ रतनारा ॥
 मूरुज बूडि उठा होइ ताता । औ मजीठ टसू बन राता ॥
 भा बसत राती बनसपती । औ रात सब जोगी जती ।
 भूमि जो भीजि भएउ सब गेरु । औ राते तह पखि पसेरु ॥
 राती सती अगनि सब बाया । गगन मेघ राते तेहि छाया ॥
 श्शुर भा पहार जो भीजा । प तुम्हार नहि रोव पसोजा ॥
 इसी प्रकार नागमती के आंसुआ से सारी सप्टि भीगी हुई जान पडती है—
 कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई । रक्त-आंसु घुषची बन बोई ॥
 जह तह छडि होइ बनवामी । तह तह होइ घुषचि ब रासी ॥
 बूद बूद मह जानहु जीऊ । गुजा गूजि बर, पिठ पीऊ ॥
 तेहि दुख भए परास निपाते । लोहू बूडि उठ हाइ राते ॥

नागमती का विरह वणन हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उप
 धनो के पेशा के नीचे रात रात भर रोती फिरती है। इस दगा में पशु पक्षी पेढ पल्लव
 जो कुछ सामने आता है, उस वह अपना दुखडा सुनाती है। वह पुण्य दगा धन्य है जिसमें
 य सब अपने सगे अपने समत हैं और यह जान पडने लगता है कि इन्हें दु ख सुनाने से भी
 जो हलका होगा। सब जीवा का गिरामणि मनुष्य और मनुष्या का अधीश्वर राजा।
 उसकी पटरानी जो कभी बढ बढ राजाआ और सरदारो की बाता की ओर भी ध्यान न
 देती थी वह पक्षिया से अपने हृदय की वेदना कह रही है उनके सामने अपना हृदय खोल
 रही है। हृदय की इस उदार और यापक दशा का कविया न केवल प्रेम-दशा के भीतर
 ही वणन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है। मारने के लिए शत्रु का पीछा करता
 हुआ श्रोघातुर मनुष्य पेढो जोर पक्षिया स यह पूछता हुआ कहीं नहीं कहा गया है कि
 भाई ! किधर गया ? वाल्मीकि, कालिदास आदि से लेकर जायसी सूर तुलसी आदि
 भाषा कविया तक सब ने इस दगा का सन्निवेश विप्रलभ (या वही वही करुण) में ही
 किया है। वाल्मीकि के राम सीता-हरण होने पर वन वन पछने फिरते हैं—

हे मदक ! तुम्हारे फूला स अधिक प्राति रतनवाली मरा प्रिया को यदि जानते
 हो तो बताओ। हे बिल्ब वक्ष ! यदि तुमने उस पीत वस्त्रधारिणी को देखा हो तो
 बताओ। हे मग ! उस मगनयनी को तुम जानते हा ? इसी प्रकार तुलसी के राम भी वन
 व पशु पक्षियों से पूछते हैं—

हे लग मृग ह मधुकर श्रनी । तम देखी सीता मगननी ?

कालिदास का यस भी चेतनाचेतन भेद इसी प्रम-दगा के ही भीतर भूता है। इससे
 यह सिद्ध है कि कवि-परंपरा के बीच यह एक माय परिपाटी है कि इस प्रकार की दगा
 का वणन प्रम-दगा के भीतर ही हो।

इस सबध में भामूली तौर पर तो इतना ही कहना काफी समझा जाता है कि
 उन्माद की व्यजना के लिए प्रम प्रकार का आचरण दिखाया जाता है। उन्माद हा
 मही पर एक सास डरे पा है। इसका आविर्भाव प्रम ताप में पिघलकर फन हुए हृदय

म ही होता है। सबध का मूल प्रेम है अतः प्रेम-दशा क भीतर ही मनुष्य का हृदय उस सबध का आभाम पाता है जो पशु पक्षी दुम लता आदि के साथ अनानि काल से चला आ रहा है।

नागमता उपवना म रोनी फिरता है। उमके विलाप से घोमलाम बठहुए पशिया की नीद हगाम हो गई है—

फिरि फिरि राव कोइ नहि डोला । आधी रात बिहगम बोला ॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पाषी । केहि दुख रैन न लावसि आँसी ॥

और कवियो न पशु पक्षियो को सधोषन भर करने का उल्लेख करके बात और आगे नही बढाई है जिसम ऊपर से देखनेवालो का ध्यान उमाद की दशा ही तक रह जाना है। पर जायसी न जिस प्रकार मनुष्य के हृदय मे पशु पक्षियो से सहानुभूति प्राप्त करने की सभावना की है उसी प्रकार पक्षियो के हृदय मे सहानुभूति के सचार की भी। उन्हाने सामान्य हृदय-तत्त्व की सट्टि व्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु-पक्षी सबको एक जीवन-सूत्र म बद्ध देखा है। राम के प्रश्न का खग मृग और मधुकर कुछ जबाब नहीं देते। राजा पुरुरवा कोविल हम इत्यादि को पुकारता ही फिरता है पर कोई सहानुभूति प्रकट करता नहीं दिखाई पडता (विन्नभोवनी अंक ४)। पर नागमती की दशा पर एक पक्षी को दया आती है। वह उसके दुख का कारण पूछता है। नागमती उस पक्षी से कहती है—

चारिउ चक्र उजार भाग कोई न सदेगा टेक ।

वहीं बिरह-दुख आपन बठि मुनहु दड एक ॥

इस पर वह पक्षी सदेशा से जाने को तयार हो जाता है।

पथावती स वहने के लिए नागमती ने जो सदेशा कहा है वह अत्यन्त ममस्पर्शी है। उसमे मान गव आदि से रहित सुख भोग की लालसा से अलग अत्यन्त नम्र शीतल और विगुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है—

पदमावनि सौं बहेहु बिहगम । कत लोभाइ रही करि सगम ॥

तोहि चन मुख मिल सरीरा । मो कह हिए दुद दुख पूरा ॥

हमहु दिआही सग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ जानु पर जीऊ ॥

मोहि भोग सौं काज न बारी । सौंह दिस्टि क चाहनहारी ॥

मनुष्य के आश्रित, मनुष्य के पाने हुए पैठ-पौधे किस प्रकार मनुष्य के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी सिखाइ देते हैं यह दण्ड बट कौशल और बढी सहृदयता से जायना न सिखाया है। नागमता की बिरह दशा म उसने बाग-वगीचो मे उगसी बरस रही थी। पैठ-पौधे सब मुरभाए पड ये। उनकी सुध कौन सेता है ? पर राजा रत्नसन के विसौर तीरते ही—

पलुटी नागमती क बारी । मानेपूल फूलि फूलवारी ।

जावा पवि रहे सब दह । मब पवि बोये गहगहे ॥

जब पड-पौध मूर रह द तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे। इस प्रकार नागमता की वियोग-दशा का विस्तार बचन मनुष्य जानि तक ही नही पशु

पत्निया और पेड़-पौधा तक दिखाई पड़ता था। कालिदास न पाले हुए मृग और पौधा के प्रति शकुंतला का स्नेह दिखाकर इन्हीं व्यापक और विगद भाव की व्यंजना की है।

विप्रलम्भ शृंगार ही पद्मावत में प्रधान है। विरह-दशा के वर्णन में जहाँ कवि न भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ काई अद्वैतकारक बीमत्स दृश्य नहीं आया है। कृताता ताप, वेदना आदि के वर्णन में भी उन्हीं शृंगार के उपयुक्त वस्तु सामने रखी है केवल उसके स्वरूप में कुछ अंतर लिखा गया है। जो पत्नी स्वभावतः पत्नी के समान विकसित रहना करती थी, वह मूलकर मुरमाई हुई लगती है—

कवल मूल, पखुरी बेहूषनी । गलि गलि क मिति छार हेरानी ॥

इस रूप में प्रकृत व्यक्ति के प्रति-महानुभूति और दया का पूरा अवसर रहता है। पाठक उसकी दशा व्यजित करनेवाणी वस्तु का ओर कुछ दूर दृष्टि गढ़ाकर देख सकता है। मुरमाया फूल भी फूल ही है। अतीत सी-दम के स्मरण से भाव और उद्दीप्त होता है। पर उसके स्थान पर यदि बीरकर हृदय का खून नमों और हडिडियाँ आदि लिखाई जायें तो दया होत हुए भी इन वस्तुओं की ओर दृष्टि जमाते न बनगा।

विरह-दशा के भीतर 'निरवलबता' की अनुभूति रह रहकर विरही को होती है। देखिए, कसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रखकर कवि ने इस 'निरवलबता' का गोचर प्रयत्नीकरण किया है—

आवा पवन बिछोह कर पात परा देकरार ।

तरिवर तजा जो चूरि क लाग केहि के डार ॥

लाग केहि के डार' मुहावरा भी बहुत अच्छा आया है।

पद्मावत में यद्यपि हिन्दू-जीवन के परिचायक भावा की ही प्रधानता है पर बीच-बीच में फारसी साहित्य द्वारा पोषित भावा के भी छींटे कहीं कहीं मिलते हैं। विदेशीय प्रभाव के कारण वियोग दशा के वर्णन में कहीं कहीं बीमत्स चित्र सामने आ जाते हैं जैसे बबावे सीख' वाला यह भाव—

विरह-सरागहि भूज माँसू । गिरि गिरि पर रक्त क आँसू ।

कटि कटि माँसु सराग पिरावा । रक्त क आँसु माँसु सब रोवा ।

खिन एक बार माँसुअस भूजा । खिनहि चवाइ सिध अस गूजा ।

वियोग में इस प्रकार के बीमत्स दृश्य का समावेश जायसी ने जो किया है वह तो किया ही है, वियोग के प्रसंग में भी व एक स्थान पर ऐसा ही बीमत्स चित्र सामने लाए हैं। बादल जब अपनी नवगतता वधु की ओर से दृष्टि फेर लेता है तब वह सोचती है कि क्या मेरे कटाप तो उसके हृदय को बेघर पीठ की ओर नहीं जा निकले हैं? यदि ऐसा है तो तबी लगाकर मैं उस खीच न और जब वह पीठा से चोंककर मुझे पकड़े तो गन्दर रस में उस धो डालू।

मनु पिठ निलि समानउ मालू । हुनसा पीठि कडावों सालू ।

कुच-तूबी अब पाठि गढोवों । गहै जो हुकि, गाड रस घोवों ॥

कटाश या नूत्रा का अनिपार नुकीले त्रक-वह देना तो ठीक है पर उहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक पद्धति पर इस कल्पना को और आगे बढ़ाकर शरीर पर सचमुच

घाव जादि दिखाने लगना काव्य की सीमा के बाहर जाना है ।

विरहजय कृताता के वणन म भी जायसीने कवि प्रयानुसार पूरी अत्युक्ति की है पर उस अत्युक्ति म भी गभीरता बनी हुई है वह खिन्नाड या मज्जाक नहा होने गई है ।

जायसी का यह वणन मुन हृदय द्रवीभूत होता है हसी नहीं आती—

(क) दहि कोइना भई कत-सनेहा । तोला मांसु रही नहि देहा ॥

रक्त न रहा बिरह तन जरा । रती रती हाइ ननन्हू ढरा ॥

(ख) हाड भए सब किंगरी नस भइ सब तांति ।

रोव रोव तें घुनि उठ कही बिथा केहि भांति ॥

इसी नागमनी के विरह-वणन के अतगत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमे वेदना का अत्यन्त निमल और कोमल स्वरूप हिंदू दाम्पत्य जीवन का अत्यन्त मम र्पशी माधुर्य अपन चारो ओर की प्राकृतिक वस्तुओ और व्यापारो के साथ विन्दु भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषय के अनुसार भाषा का अत्यन्त स्निग्ध सरल मटुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है । पर इन कुछ विशेषताओ की ओर ध्यान जाने पर भी इसके सौंदर्य का बहुल-बुद्ध हेतु अनिवचनीय रह जाता है । इस बारहमासे म वष के बारह महीना का वणन विप्रलभ शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से है जिसम आनन्दप्रद वस्तुआ का दुःखप्रद होना दिखाया जाता है ।

प्रम म सुख और दुःख दोना की अनुभूति की मात्रा जिस प्रकार बढ जाती है उसी प्रकार अनभूति के विषयो का विस्तार भी । मयोग की अवस्था म जो प्रम सृष्टि की सब वस्तुआ म आनन्द का सप्रह करता है वही वियोग की दशा म सब वस्तुआ से दुःख का सप्रह करने लगता है । इसी दुःखद रूप म प्रत्येक मास की उन सामान्य प्राकृतिक वस्तुआ और व्यापारो का वणन जायसी ने किया है जिनके साहचर्य का अनुभव मनुष्य मात्र—राजा से लेकर रक तक—करते हैं । अत इस बारहमासे म मुख्यत दो बातें देखने की हैं—

१ प्राकृतिक वस्तुओ और व्यापारो का चित्रण ।

२ दुःख के नाना रूपा और कारणो की उन्भावना ।

प्रथम क सम्बन्ध म यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन ससृष्ट कवियो का-सा सन्नियुक्त विगद चित्रण उद्दीपन की दृष्टि से किए हुए ऋतु वणन मे नहीं हुआ करता बल्कि वस्तुआ और व्यापारो की अनग अलग भन्व भर दिखाकर प्रमी के हृदय की अवस्था का व्यञ्जना हुआ करती है । परिचित प्राकृतिक दशाओ को साहचर्य द्वारा और कविया की वाणी द्वारा जो ममस्पर्शी प्रभाव प्राप्त है उसका अनुभव उनकी ओर संकेत करने मात्र से भी सहृदयो को हा जाना है । इस प्रकार बहुत ही सार संकेत—बहुत ही मनोहर भन्व म बारहमास में हम पाते हैं । कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) चना असाड गगन घन गाजा । साजा बिरह दद दन बाजा ॥

धूम माम धीरे घन पाए । सेन धजा बग पांनि दगाए ॥

धूम बाजु धमक च ओरा । बुन बान-बेरिगि चहु ओरा ॥

(ग) वाट अमूक अयाह गभीरी । जिउ वाउर भा फिर भभीरी ॥
जग जल बूढ नहा लागि ताकी । मोरि नाव खेवक बिनु थाकी ॥
जेठ जर अग चल लुवारा । उठहि बबडर पररहि अगारा ॥
उठ आगि ओ आव आधी । नन न मूक मरौ दुख बांधा ॥

अपनी भावुकता का बड़ा भारी परिचय जायमी न इस बात में दिया है कि राना नागमती विरह-दशा में अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती है और अपने को केवल माधारण स्त्री के रूप में देखती है। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसका विरह वाच्य छान्टे-बड़े सबक हृदय को ममान रूप में स्पष्ट करते हैं। यदि कनक-पयक, मुखमली सेज रत्नजटित अलंकार सगमरमर के महल, नमखाने इत्यादि की बातें होना तो व जनता का एक बड़े भाग के अनभव में कुछ दूर की होना। जायमी ने स्त्री जाति की या कम से कम हिंदू गण्णी मात्र को सामान्य स्थिति के भीतर विप्रना शृंगार के अत्यंत समुच्चल रूप का विकास दिखाया है। लखिए चौमासे में स्वामी के न रहने से घर की जो दशा होनी है वह किस प्रकार गृहिणी के विरह का जटीपन करती है—

‘पुष्य नक्षत्र सिर ऊपर आवा । हौं बिनु नाह मदिर को छावा ।

इसा प्रकार शरीर का रूपक दवर बरसात आने पर साधारण गृहस्थी की चिन्ता और आयाजना की भलक दिखाई गई है—

तप लागि अब जठ अमाने । मोहि पित बिनु छाजनि भइ गाढी ॥
तन तिनउर भा भूरीं सरी । भ बरखा टुख आगरि जरी ॥
बध नाहि ओ कथ न कोई । बात न आव कहीं का राई ॥
साठि-नाठि जग वात को पूछा ? विन जिउ फिर मूज-तनु छूछा ॥
भई दुहेली टेक बिहनी । थाभ नाहि उठि सकन थुनी ॥
बरस मह चुवहि ननाहा । छपर छपर हाइ रहि बिनु नाहा ॥
कोरी कहां ठा नव साजा । तुम बिनु कत न छाजनि छाजा ॥

यह आंगिक मानुका का निवज्ज प्रलाप नहीं है यह हिन्दू-गृहिणी का विरह-वाणा है। इसका सांत्विक मयात्मापूण माध्य परा मनोहर है।

यद्यपि इस बारहमासे में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की रुद्धि के अनुसार अलग अलग भन्क भर दिखाई गई है, उनका सरिलिप्ट चित्रण नहीं है पर एक-आध जगह कवि का अपना निरीक्षण भी बहुत सूक्ष्म और सुन्दर है।

अब दुख के नाना रूपा और कारणों की उदभावना लीजिए। जायमी के विरहोत्तार अत्यंत समस्पर्शी हैं। जायमी को हम विप्रलम्ब शृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं। जो वेदना जो कोमलता, जो सरलता और जो गम्भीरता इनके वचन में है वह अमम दुलभ है। नागमती सब जीव-जतुओं पशु-पक्षियों में सहानुभूति की भावना करती हुई कहती है—

पिउ सा कहहु सदेसडा ह भौरा । ह काग ।

मो धनि बिरहै जरि मुई तेहि क धुवां हम्ह लाग ॥

इस सहानुभूति की समावना रानी के हृदय में होनी कैसे है ? यह समझकर

होती है कि भौरा और कौवा दोनों उमी विरहाग्नि के धुएँ से काले हो गए हैं जिसमें मैं जल रही हूँ। समदुःख भोगिणी में परस्पर सहानुभूति का उच्च अत्यन्त स्वाभाविक है। सदेवशास्त्र में स्वार्थे 'डा' का प्रयोग भी बहुत ही उपयुक्त है। ऐसा गद्य उस दशा में मह से निकलता है जब हृदय प्रेम, माधुर्य अल्पता, तुच्छता आदि में से कोई भाव लिए हुए होता है। हे भौरा ! हे काग ! से एक एक को अलग अलग संबोधन करना सूचित होता है। आवेग की दशा में यही उचित है। हे भौरा औ काग कहने में यह बात न होती।

दुःख और आह्लाद की दशा में एक बड़ा भारी भेद है। जब हृदय दुःख में मग्न रहता है तब सुखद और दुःखद दोनों प्रकार की वस्तुओं से दुःख का सग्रह करता है। पर आह्लाद की दशा का पोषण केवल सामान्य या आनन्ददायक वस्तुओं से ही होता है दुःखप्रद वस्तुओं से नहीं। विरह दशा दुःख दशा है। इसमें कष्टदायक वस्तुएँ तो और भी कष्टदायक हो ही जाती हैं जैसे—

(क) काप हिया जनाव सीऊ । तोप जाइ होइ सग पीऊ ॥

पहल पहल तन रुई भाँप । हहरि हहरि अधिकी हिय का ॥

(ख) चारिहु पवन झकोर आया । लका दाहि पलका लामि ॥

उठ जागि औ आव थाँधी । मन न सूक्त मरौ दुल-बाधी ॥

सुखदायक वस्तुएँ भी दुःख को बढ़ाती हैं जैसे—

कानिब सरद चद उजियारी । जग सीतल हौं विरहै जारी ॥

चौन्ह करा घाद परमासा । जाहु जर सब धरति अकासा ॥

तन मन सेज कर अगिदाहु । सब कह चद भयउ मोहि राहु ॥

कही संयोग-सुख या आनन्दोत्सव देखकर अपने पक्ष में उसके अभाव की भावना में विरह की आग और भी भड़कती है—

(क) अबहू निठर आउ एहि वारा । परब देवारी होइ ससारा ॥

सखि भूमक गाव अग मोरी । हौं झुराव विछरी मोरि जोरी ॥

(ख) बरहि वासपति हिय हुलामू । मो कल भा जग दून उदासू ॥

पागु बरहि सब चाँवरि जोरी । मोहि तन लाइ दीन्हि जस होरी ॥

नागमती देखती है कि बटुता का विछुड हुए प्रिय मित्र आ रहे हैं पर मेरे प्रिय नहीं आ रहे हैं। इस वषण्य की भावना उसे और भी व्याकुल करती है। किसी वस्तु का अभाव से दुःखी मनुष्य के हृदय की यह एक अत्यन्त स्वाभाविक वृत्ति है। पपीटे का प्रिय पयाधर आ गया सीप के मह में स्वानि की बत् पड़ गई पर नागमती का प्रिय न आया—

बिना मित्र मीन कर आवा । पपिहा पीउ पुकारत पावा ॥

स्वानि-बत् चानक मुग पर । समुत् सीप मोची सब भरे ॥

भरकर सवरि हस चलि आए । सारस बुर नहि खजन देवाए ॥

विरह का दुःख ऐसा नहीं कि चारों ओर जो वस्तुएँ पाई पड़ती हैं उनसे कुछ या बहान। उनमें तो और भी अपनी दशा का जोर विरही का ध्यान जाता है और भी

उस दशा का दुःसह स्वरूप स्पष्ट होता है—चाहे वे उनकी दुःख दशा से भिन्न दशा में दिखाई पड़े, चाहे कुछ सादृश्य लिए हुए । भिन्न भाव में दिखाई पड़नवाली वस्तुओं के नमूने तो ऊपर के उदाहरणों में आ गए हैं । अब भिन्न भिन्न ऋतुओं की नाना वस्तुओं और व्यापारों को विरही लोग किस प्रकार सादृश्य भावना द्वारा अपनी दशा की व्यजना का सुलभ साधन बनाया करते हैं यह भी देखिए—

(ब) बरस मघा भक्वोरी भक्वोरी । मोर दुइ नन चुव जस ओरी ॥

पुरवा लाग, भूमि जल पूरी । आक जवास भई तम भूरी ।

(म) सखिहरचा पिठ सग हिंडोला । हरियर भूमि कुसभी चोला ॥

हिय हिंडोल अस डोल मोरा । विरह भुलाइ देइ भक्वोरा ॥

(ग) तन जस पियर पात भा मोरा । तेहि पर विरह देइ भक्वोरा ॥

विरहिणी की इस सादृश्य भावना का वर्णन कवि परम्परा सिद्ध है । सूरदास का 'निसि दिन बरमत नन हमारे यह पद प्रसिद्ध है । और कवियां न भी ऋतु सुलभ वस्तुओं और व्यापारों के साथ विरहिणी के तन और मन की दशा का सादृश्य वर्णन किया है । यह सादृश्य-वर्णन अत्यंत स्वाभाविक होता है क्योंकि इसमें उपमान उहा द्वारा सोचकर निकाला हुआ नहीं होता बल्कि सामने प्रस्तुत रहता है और प्रसन्न रहकर उपमेय की ओर ध्यान ले जाता है । वनाए में विरहिणी एक ओर सूखते ताला की दरारों को देखती है दूसरी ओर विदीण होते हुए अपने हृदय को । बरसात में वह एक ओर तो टपकती हुई ओलती देखती है दूसरी ओर अपने आँसुओं की धारा । एक ओर सूखे हुए 'आक जवास' को देखती है, दूसरी ओर अपने शरीर को । शिशिर में एक ओर सूखकर झड़े हुए पीले पत्तों को देखती है, दूसरी ओर अपनी पीली पड़ी देह को । अतः उक्त उपमाएँ दूर की सूझ नहीं हैं । उनमें सादृश्य बहुत सोचा विचारा हुआ नहीं है उसका उदय विरह विह्वल अतः कारण में बिना प्रयास हुआ है ।

इस बारहमासे में हृदय के वेग की व्यजना अत्यन्त स्वाभाविक रीति से होने पर भी भाव अत्यन्त उत्कण्ठ-दशा को पहुँचे हुए दिखाए गए हैं । देखिए, अभिलाषा का मही कक्षा उत्कण्ठ है—

राति दिवस बस यह जिउ मोरे । लगौं निहोर कत अब तोरे ॥

यह तन जारो छार क बहौ कि पवन-उठा ।

मबु तेहि मारग उठि पर कत घरै जह पाव ॥

वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति

भगवतस्वरूप मिथ

वाग्ध की धाराएँ और समीक्षा पद्धतियाँ समानांतर हातों हुए भा एक-दूसरे से आत्मान प्रदान करती हैं एक दूसरे को प्रभावित करता हैं। इस प्रकार उनका विकास होता रहता है और कभी कभी दाना मिलकर एक नवीन तामरी धारा में परिणत हो जाता है। हिंदी-समीक्षा का इतिहास भी यही है। द्विवेदी जी मित्रवधुआदि की प्रणालियाँ का उपयोग गुकल जी ने किया तथा एक नवीन प्रौढ और ग्रास्त्रीय प्रणाली को जन्म दिया। पहले भाषा सम्बन्ध निष्पत्तात्मक तत्त्वनात्मक तथा नीतिवादी आदि पद्धतियाँ एक-दूसरे से कुछ समानांतर चली लेकिन गुकल जी में इन सबने मिलकर एक नवान पद्धति का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार प्रसाद जा आदि में जिस स्वच्छतावादी विचारधारा का विकास हुआ था उसने गुकल जी की समीक्षा पद्धति से आत्मान प्रदान किया भारतीय रस-पद्धति को स्वीकार किया। इससे कलाकार और कला-कृति में सम्बन्ध स्थापित करनेवाली बिलपणात्मक भावना नवीन समीक्षा पद्धति का रूप में विकसित हो गई। इस प्रकार इस पद्धति में गुकल जी की पद्धति का पूरा उपयोग किया गया उनका गिनिया को अपन अनु रूप बनाकर अपना लिया। वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति में इस सामजस्य की अवस्था के ज्ञान होत हैं। उन्होंने शुक्ल जी की विशेषणात्मक पद्धति को कुछ आगे बढ़ाकर पूणत निगमनात्मक कर लिया है। उन्होंने उनका बण व्यवस्थावान नीतिवादी दृष्टिकोण को मानकर कल्याण और लोकमगन में बदल दिया साहित्य का धर्मनिरपेक्ष चारित्रिक निमाण का सुकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर सांस्कृतिक चयना प्रदान करनेवाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया और भारतीय रस सिद्धान्त का पान्चात्य सवन्नायता से सामजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक मय का रूप में स्वाकार कर लिया। रस का यह ध्यापकता प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित था। वाजपेयी जी का उपनता तो उसका ग्रहण करने में ही है। वाजपेयी जी गुकल जी का अमूल्य निधि का सवर जिस पर उनका पूरा अधिकार है आगे बढ़ते हैं जागे सिद्धांसाहित्य में नवान अध्याय प्रारम्भ करते हैं। रस अध्याय का उपक्रम प्रसाद का मकुछ पत्र ही हा चुका था। पत्र जा निराना जा कलाचर्च जोगी गान्तिप्रिय

द्विवेदी गणाप्रमाद पाण्डेय आदि अनेक ध्वनितया न इसके विक्रम म महत्त्वपूर्ण सहयोग लिया है । पर इसका पूरा विक्रम वाजपेयी जा म ही मिलता है । आज फिर हिंदी-साहित्य म समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रबल हो रहा है । ऐतिहासिक प्रगतिवादी फायडवादा स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी आदि सभा गलिया कुछ दूर तक सामान्यतः पयक और स्वतंत्र रूप में विकसित होकर मिन रही हैं । इस प्रकार एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है जिस मन्वयवादा नाम लिया जा सकता है । यही प्रगति का लक्षण है । अय पद्धतिमा की तरह शुक्ल-सम्प्रदाय और स्वच्छन्दतावादा समीक्षा पद्धति का भी मम्मिनन और विक्रम हुआ है इस मन्वय का बहुत अधिक म वाजपेयी जी को ही है । इस प्रकार वाजपेयी जी की आलाचना समय की दृष्टि म समकालान होत हुए भी प्रगति का दृष्टि स विकास म आगे की अवस्था मानी जा सकती है ।

वाजपेयी जी न काव्यशास्त्र क सिद्धांत का विवेचन बहुत कम किया है । प्रयागात्मक आलाचना म प्रासंगिक रूप स जितने विवेचन का आवश्यकता हुई है उनमें वे आधार पर ही उनका काव्य सिद्धांत सम्बंधी मापताओं का परीक्षण करना पड़ता है । उन्हें भारतीय रसवाद का सिद्धांत माना है । पर पाश्चात्य समाशा सिद्धांत का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण उन्होंने उनकी माख्या शास्त्र के शास्त्र म नही की है । वस्तुतः वे काव्य म हृदयस्पर्शिता और आह्ला को ही प्रधान मानते हैं । रस का काव्य की मूलभूत वस्तु मानत हुए भी वे उसके ब्रह्मानन्दमहोत्सव अथवा अलौकिकता स सह मत नही प्रतीत होने । उन्होंने कहा है कि रसानुभूति सम्बंधी अलौकिकता क पाण्ड म काव्य का अनिष्ट ही हुआ है ।^१ उससे व्यक्तिकता की बढि हुई और सांस्कृतिक ह्रास हुआ है । उनकी यह भी मापन है कि रस सिद्धान्त का इतना विनाश और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारी साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सके । इसके लिए उसम पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त और प्रणालिया क आकलन क अत्यधिक आवश्यकता है । इस प्रकार से वह साहित्यमात्र की समीक्षा का मानदण्ड हो सकता है । इस सबका तात्पर्य केवल रस को वैधता-र-सस्पन्नपूयत्व और ब्रह्मानन्दमहोत्सव आदि विशेषणा द्वारा प्राप्त सामित म से युक्त करके उसे केवल आह्लादकता का मूक मान कर भाव, रसाभास भावाभास, अलंकार ध्वनि वस्तु ध्वनि आदि मन्वय आनंद का प्रतीक मानना और कलामात्र क आनंद की 'रस नाम स अभिहित करना है । इस क अलौकिकता की बाध म बहुत स असांस्कृतिक चित्र उपस्थित किय गए हैं तथा रस की परिधि का इन विशेषणा से सन्वित करने बहुत-सा साहित्य भी उपेक्षित हुआ है । इसलिए रस के सम्बंध म एक व्यापक दृष्टिवाण अपनाव की नितांत आवश्यकता है । रस के सम्बंध म वाजपेयी जी का यही दृष्टिवाण है । वाजपेयी जी के रस सम्बंधी दृष्टिकोण स स्पष्ट है कि वे अभिव्यजनावादी नही हैं । वे काव्य म अनुभूति की तात्रता को ही प्रधान मानते हैं, अभिव्यजना का निम्न स्तर की वस्तु मानत हैं । काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यजना का ही सौंदर्य नही है । अभिव्यजना काव्य

वाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति

भगवतम्भारत मंत्र

वाजपेयी की धारणा और समीक्षा पद्धतियाँ समाजांतर हान हूण भा एव-दूगर म आगान प्रदान करता हैं एक दूगर को प्रभावित करता । । इस प्रकार उता विनाग हाता रहता है और कभा कभी दाता मिसकर एक तथा तागरी धारा म परिणत हा जाती हैं । हिन्ता-समागा का इतिहास भी यही है । द्वितीय जा मिस-पुआर्ति की प्रणालियों का उपयोग शुक्ल जी ने किया तथा एक नवीन प्रौढ़ और ग्रास्त्रीय प्रयासी को जन्म दिया । पहले भाषा सम्बन्धी निष्पत्तयस्तुतानामर तथा नीतिवाणी आर्ति पद्धतियाँ एक दूगर व कुछ समानांतर तथा सन्नि गन्त जी म एन गन्त मिसकर एक नवीन पद्धति का रूप धारण कर लिया । एमी प्रकार प्रसात जा आर्ति म जिस स्वच्छ-दतावाणी विचारधारा का विकास हा रहा था उसन गुक्ता जी का समी ता पद्धति स आगान प्रदान किया भारतीय रम-पद्धति को स्वीकार किया । इससे कलाकार और कला-कृति मे सम्बन्ध स्थापित करनेवाणी विलपणात्मक भावना नवीन गमी ता पद्धति के रूप म विकसित हो गई । एत प्रकार इस पद्धति म गुक्ता जी की पद्धति का पूरा उपयोग किया उनकी धारणा को अपने अनुरूप बनाकर अपना लिया । वाजपेयी जी की समी ता पद्धति म इस सामजस्य की जवस्था के दान होत है । उता शुक्ल जी की विश्लेषणात्मक पद्धति को कुछ आगे बढ़ाकर पूणत निगमनात्मक कर दिया है । उहाने उनक वण-यवस्थावाणे नीतिवादी दृष्टिकोण को मानकर मह्याण और लोकमगत म बदल दिया साहित्य को धर्मवित्तक चारित्रिक निर्माण व सकुचित क्षम स ऊपर उठाकर सासृत्तिक चेतना प्रदान करनेवाता मानकर एक विस्तीण और व्यापक क्षम म प्रतिष्ठित कर दिया और भारताय रम सिद्धांत का पारचात्य सबदनीयता स सामजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक मत्य व रूप मे स्वीकार कर दिया । रस का यह व्यापकता प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित थी । वाजपेयी जी की उपज्ञता तो उसके ग्रहण करने म ही है । वाजपेयी जी शुक्ल जी का अमूल्य निधि का नकर जिस पर उनका पूरा अधिकार है आगे बढ़ते हैं और हि दी साहित्य म नवीन अध्याय प्रारम्भ करत हैं । एत अध्याय का उपक्रम प्रसाद जी मकुछ पहले ही हो चुका था । परंतु जी निराला जी इनाचन्द्र जोगी शांतिप्रिय

निवृत्ती गंगाप्रनाद पाण्डेय आदि अनक व्यक्ति या न इसके विक्राम म महस्वपूण सहयाग
 गिया है । पर इसका पूण विक्राम वाजपेयी जी म ही मिनता है । आज फिर हिन्दी-साहित्य
 म समन्वयवाणी प्रवृत्ति प्रबल हो रही है । ऐतिहासिक प्रगतिवाणी फायदवादा
 स्वच्छन्दतावाणी, प्रभाववादी आदि ममा शलिया कुछ दूर तक सामान्यत पथक आर
 स्वतन्त्र रूप में विकसित होकर भिन्न रही हैं । इस प्रकार एक नवीन पद्धति विकसित हो
 रही है जिस समन्वयवाणी नाम गिया जा सकता है । यही प्रगति का लक्षण है । अय
 पद्धतिया की तरह गुक्ल-सम्प्रदाय जीर स्वच्छन्दतावादा समीक्षा-पद्धति का भी सम्मिलन
 और विक्राम हुआ है म समन्वय का बहुत अधिक अम वाजपेयी जी का ही है । इस प्रकार
 वाजपेयी जी की आलोचना समय की दृष्टि स समकालान हात हुए भा प्रगति का दृष्टि स
 विक्राम व जागे की अवस्था मानी जा सकती है ।

वाजपेयी जी न काव्यशास्त्र व सिद्धांत का विवेचन बहुत कम किया है ।
 प्रयोगात्मक आलोचना म प्रासंगिक रूप स जितने विवेचन का आवश्यकता हुई है उतन
 व आधार पर ही उनका काव्य सिद्धांत सम्बन्धी मायताओं का परीक्षण करना पड़ता
 है । उन्हें भारतीय रमवाद का सिद्धांत माय है । पर पाश्चात्य समाणी सिद्धांत का
 पर्याप्त प्रभाव होने के कारण उन्होंने उसका वाक्या शास्त्र के गन्दा म नहा की है ।
 वस्तुतः वे काव्य म हृदयस्पर्शिता और आह्ला का ही प्रधान मानते हैं । रम का काव्य
 की मूलभूत वस्तु मानत हुए भी व उसके ब्रह्मानन्दसहोत्पत्त अथवा अलौकिकता स सह
 मत नहीं प्रतीत हात । उन्होंने कहा है कि रसानुभूति सम्बन्धी अलौकिकता व पाखण्ड स
 काव्य का अनिष्ट हा हुआ है । उस वयक्तिकता का वृद्धि हुई और सांस्कृतिक हास
 हुआ है । उनकी यह भी मायता है कि रस सिद्धान्त का इतना विगद और व्यापक रूप प्रदान
 किया जा सकता है कि बहुसारी साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सक । इसके लिए
 उसम पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त और प्रणालिया क आकलन व अत्यधिक आवश्यकता
 है । इस प्रकार से वह माहित्यमान की समीक्षा का मानण्ड हा सकता है । इस
 सबका तात्पर्य कवल रम को वैधातर-मस्पर्शगूयत्व और ब्रह्मानन्दसहोत्पत्त आदि
 विशेषणा गारा प्राप्त सामित अथ से मुक्त करके उस कवल आह्लादकता का सूचक मान
 कर भाव रसाभास भावाभास अलकार, ध्वनि वस्तु ध्वनि आदि मयक आनंद का
 प्रतीक मानना और क्लामात्र व आनन्द को रस नाम से अभिहित करना है । रम की
 अलौकिकता की बाध म बहुत-म असांस्कृतिक चित्र उपस्थित किया गए हैं तथा रस की
 परिधि को इन विशेषणा स संकचित करने बहुत-सा सत्माहित्य भी उपेक्षित हुआ है ।
 इसलिए रस के सम्बन्ध म एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की नितांत आवश्यकता है ।
 रम के सम्बन्ध म वाजपेयी जी का यही दृष्टिकोण है । वाजपेयी जी व रम सम्बन्धा
 दृष्टिकोण स स्पष्ट है कि वे अभिव्यजनावादी नहा हैं । व काव्य म अनुभूति की तात्रता
 को ही प्रधान मानते हैं अभिव्यजनाया का निम्न स्तर की वल मानते हैं काव्य
 अथवा कला का सम्पूण सौंदर्य अभिव्यजना का ही सौन्दर्य नहा है । अभिव्यजना काव्य

नहीं है। काव्य अभिव्यक्ति से उच्चतर तथा है। उगता गीषा सम्बन्ध मानव जगत् और मानव-वृत्तियों से है जब कि अभिव्यक्ति का सम्बन्ध बस गीष्पयुग प्रकाश से है।^१ इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यक्ति के अनात्मक महत्त्व का ही विचार करते हैं आधुनिक की तीव्रता और हृदयगतता से सम्बन्ध रखनेवाली अभिव्यक्ति उन्हें भाव है। उसी यह मानना उनके अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वे अलंकारों को रस गिद्धि का साधन मानते हैं। उनका यह मत भारतीय और सार्वभौमिक है। अलंकार रस से उनका तात्पर्य उगता बंध हुआ प्रकार का ही प्रतीत होता है रस की भंगिमा से नहीं जो काव्य की भाषा का अनिवार्य तत्त्व है। वाजपेयी जी का कथन है कि कविता अपने उच्चतम स्तर का पटुकरण अलंकार विहीन हो जाती है। कविता जिस स्तर पर पटुकरण अलंकारविहीन हो जाती है वहाँ यह वेगवता नहीं की भाँति राहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देता है। उगता समय उसका प्रवाह से अलंकार ध्वनि बन्धित शक्ति से जान नहीं बह जाते और गारे सम्प्रदाय से जाने कसे मटियामट हो जाते हैं।^२ वाजपेयी जी तो यहाँ तक कहते हैं कि इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता से अलंकार वही काय करते हैं जो दूध से पानी।^३ अलंकार शास्त्र ने काव्य-तत्त्व और कवि-कर्म की जो बंधी हुई प्रणाली बनाई है उगता सम्बन्ध से यह धारणा सवया समीचीन है। पर अभिनवगुप्त आदि ने उत्कृष्ट जिग व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है वहाँ इनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। वहाँ अलंकार कवि प्रदान सापेक्ष न होकर अभिव्यक्ति के स्वाभाविक और सहज अंग हो जाते हैं। आपाचक भी इनमें आह्लाद की वृद्धि की क्षमता ही देवता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण पूर्णतः सौष्टववादी है जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामञ्जस्य मात्र है। उनके अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण का अभिनवगुप्त आदि के मतों से पूर्ण सामञ्जस्य है।

वाजपेयी जी की काव्य की स्थूल उपयोगिता भाव नहीं है। वे काव्य में जीवन की प्रेरणा सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता मानते हैं। काव्य से नीति का बहिष्कार करना तो उनको अभिप्रेत नहीं है पर वे काव्य पर नतिक सिद्धांत का नियंत्रण परोक्ष ही मानते हैं। उच्च आदर्शों की दुहाई और प्रगतिशील विचारधारा का साहित्य की उत्कृष्टता से नित्य और अनिवाय सम्बन्ध उन्हें बिलकुल भाव नहीं है। फिर भी वे काव्य के सम्बन्ध में उठाये गए श्लेष अश्लील के प्रश्न की निदान्त अब हेलना नहीं करते। उनकी निश्चित धारणा है कि उत्कृष्ट काव्य कभी अश्लील नहीं हो सकता। पर उनकी श्लेष और अश्लील सम्बन्धी धारणाएँ रूढ़ नहीं हैं। वे उच्च मानवता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं धर्मशास्त्र की सीमित परिभाषाओं के आधार पर नहीं मरी समझ में इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप में यदा-बदा श्लेषता-अश्लीलता सम्बन्धी

१ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ५६

२ देखिए हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ६८

३ देखिए हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी पृष्ठ ६६

रूढ़ आदर्शों का व्यतिर्भ्रम भले ही हो और त्रान्ति-काल में ऐसा हो भी जाता है। पर वास्तविक अस्वीलता, अमर्यादा या मानसिक स्वतन्त्रता उसमें नहीं हो सकती। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।^१ जसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वाजपेयी जी साहित्य की निष्पक्षता के समयक नहीं हैं। वे विकास-मुख्य जीवन का प्रेरक हाना साहित्यकार की श्रृष्टि का प्रमाण मानते हैं। साहित्य में निबल भावना का चित्रण केवल अक्षरों के लिए ग्रहण करना चाहिए। उसी को आदर्श मान सना साहित्य ने उच्च और महान् उद्देश्य से च्युत हो जाना है। वाजपेयी जी उपदेश वृत्ति को भी साहित्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में जीवन-संदेश के साथ ही उदात्त भाव और सन्तित कल्पनाएँ भी साहित्य के आवश्यक तत्त्व हैं।^२ काव्यशास्त्र के तत्त्वा से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है।^३ उसमें तो भावना का उद्वेग, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य मापदण्ड होंगे।^४

सौष्ठववादी समालोचक भावा के उदात्त सावजनिक स्वरूप और उनकी साहित्यिक मार्मिकता के दान कर लेता है। इस प्रकार का चित्रण उसकी प्रौढ क्षमता और भाव पारदर्शिता का परिचायक है। जब आलोचक कवि के भाव-सौन्दर्य की वास्तविकता और उदात्त मार्मिकता का उद्घाटन करता है तब वह स्वयं तो असीम अनिवचनीय आह्लाद का अनुभव करता है। साथ ही पाठक को भी अपने साथ उस भाव भूमि में ले जाता है। यही आलोचक की पूर्ण सफलता है। हिन्दी-साहित्य में इतनी गहराई तक बहुत कम समालोचक ज्ञान का प्रयत्न करते हैं। कवि के भाव-सौन्दर्य के मार्मिक उद्घाटन में कवि का अतिरिक्त भाव उद्घाटित हो जाता है। साथ ही भावा की मार्मिकता की अनुभूति और चित्रण में आलोचक का विचित्र तल्लीनता और आह्लाद का अनुभव होता है। उसी का घोड़ा आभास नीचे की पंक्तिना से मिलता है। तबक की इन पंक्तियों में पाठक के हृदय में अनुभूति जाग्रत करने की क्षमता है। पाठक को भी उस भाव-सौष्ठव का अनुभव कराने का सफल प्रयास है—

'रास की वणना में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊंचाई पर पहुँच गया है। केवल श्रीमद्भागवत की परम्परागत अनुकृति कवि ने नहीं की है वरन् भारतवर्ष में अनुभव आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठ हैं। उ होने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है जिस प्रशान्त और समुन्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है पुनः राम की जा सज्जा गोपिया का जसा संगठन और वृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण कराया है और रास की वणना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मुच्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रकृति और दृश्य के घटकीनेशन के साथ भावना की तन्मयता के जा प्रभाव उत्पन्न किये गए हैं व कवि की

१ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, भूमिका भाग पृष्ठ २३

२ दक्षिण जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २४-२५

३ दक्षिण हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी' पृष्ठ ७४

४ जयशंकर प्रसाद पृष्ठ ११-१२

कसा हुआसता और गहन अन्तर्दृष्टि के योग्य है ।

वाजपेयी जी में हिन्दी-समीक्षा की गीत-बानी धारा की पूरा प्रतिष्ठा हुई है । उनकी आलोचना पूर्णतः विगमनात्मक और इगित्त सौमी की बड़ी जा सकती है । उन्होंने भारतीय अलङ्कारशास्त्र से तथा पाठशास्त्र समीक्षाशास्त्र से बहुत-बहुत प्रयोग किया है उन दोनों के सम्मिश्रित तथा समावयव रूप को आत्मसात् कर लिया है । हिन्दी की शौष्ठववादी आलोचना पद्धति भी रस गिदालन के आधार और विगमन-स्वरूप को अपना कर बसी है । इसलिए वह पश्चिम के स्वच्छन्दवादी (रोमांटिक) की तरह पूर्ण स्वच्छन्दतावादी नहीं बनी जा सकती । उसका अविश्वस अनुकरण तो किसी प्रकार भी नहीं करा जा सकता । इसलिए मैंने इसे शौष्ठववादी बड़ा अधिक समीचीन समझा है । रस की जो प्रतिष्ठा अभिनवगुप्त पण्डितराज आदि द्वारा हुई है वह जो उनका समीक्षा की ही समर्थक है यह हम पहले कह चुके हैं । वाजपेयी जी में इसी के प्रयोगात्मक रूप के दान होते हैं । इस पद्धति का हिन्दी में पूरा विकास हो गया है यह नहीं माना जा सकता । वाजपेयी जी में इसके विकसित और प्रोढ़ रूप के दान अवश्य होते हैं । उनमें ही विकास हुआ है । वे पहले कलाकार के व्यक्तित्व के परिष्कारक थे और धीरे धीरे काव्य शौष्ठव के परीक्षक बन गए । अभी इस समय में विकास की क्षमता है । वाजपेयी जी में इससे तत्त्व विद्यमान हैं । इस समीक्षा पद्धति के सभी आलोचक जीवित हैं । इसलिए अभी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका इत्यभूत रूप यही है । अभी यह विकास शील है स्थिर नहीं हुई है । वाजपेयी जी की आलोचना का एक विशेष व्यक्तित्व तो बन गया है पर अभी वह विकासशील है । प्रगतिवादी और मनोविरलेपशास्त्र आलोचना का आरंभ भी उनका ध्यान गया है पर उन दालिया में उनका सत्य का आर्गिक रूप ही दिखाई पड़ता है । इनमें काव्य के सावजनिक और सावजालिक भाव सवेदन की दृष्टि से आलोचना का अभाव है । इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाजपेयी जी प्रगति का साव्य भावा की सावजनिकता तथा जीवन्-सादेन की सव्यवस्था से सेते हैं । पर उनका यह रूप अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है ।



समन्वयशील आलोचक वाजपेयी जी

रामचन्द्र तिवारी

सूर' और प्रसाद' की प्रसिद्ध समीक्षाओं के अतिरिक्त 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी तथा 'आधुनिक साहित्य' वाजपेयी जी की प्रौढ़ आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। वाजपेयी जी ने समीक्षा सिद्धान्त का कोई पृथक ग्रन्थ नहीं लिखा है फिर भी इन कृतियों के आधार पर उनके सिद्धान्तों का स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी की भूमिका में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए आपने आलोचना सम्बन्धी अपनी सात चोटियों की ओर सकेत किया है। कवि की अन्तवृत्तियाँ का अध्ययन कलात्मक मौल्य का अध्ययन टेक्नीक (शैली) का अध्ययन समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन कवि की जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन और काव्य के जीवन सम्बन्धी सामाजिक और सन्देश का अध्ययन। विशेष बात यह है कि इन चोटियों में ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है। इस प्रकार वाजपेयी जी मुन्न' कवि की अन्तवृत्तियों और कलात्मक शैलियों पर बल देते हैं।

वाजपेयी जी का दृष्टिकोण समझने के लिए 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका भी द्रष्टव्य है। इसमें आप पश्चिम के अस्तान्तरवादी मूल्य प्रकाशित चार प्रमुख समीक्षा पद्धतियों से बचने की बात कहते हैं

१. वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित (फ्रायड युग और एडलर से प्रभावित),
२. समाजवादी समीक्षा (मार्क्सवादी)
३. कलाविज्ञानवादी पुरातन परम्परा, तथा
४. उपयोगितावादी या नीतिवादी (आई० ए० रिचर्ड्स द्वारा उद्घाटित)

इस ग्रन्थ में आपका एक और महत्वपूर्ण वाक्य है, जिसका हमें ध्यान रखना होगा। आपने विष्णुपूर्वक कहा है कि 'पिछले पचास वर्षों से हिन्दी-साहित्य की जो मर्यादा बन गई है उस हम किसी भी स्थिति में टूटो न देंगे।' वाजपेयी जी को भार

तोय साहित्यशास्त्र का पूरा ज्ञान ही नहीं सम्भव बोध भी है। यह उनके भारतीय वाग्दृष्टि का नवनिर्माण धीमे-धीमे तथा भ्रम्य प्रयोगात्मक समीक्षाओं में सुस्पष्ट है। रस की भाँति भारतीय वाग्दृष्टि का आभार उतर मानते हैं। आकाश का गीत का उद्घाटन तथा वक्रोक्ति रीति और ध्वनि की वाग्दृष्टि के अन्वयप्रदानात्मक में सम्बन्ध मानते हैं। भारतीय वाग्दृष्टि के नवनिर्माण के लिए आभार उन प्राचीन मायाशास्त्रों की व्यापक श्रम में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। गायत्री वाग्दृष्टि के आधुनिक इतिहासकारों द्वारा प्रमुक्त दो प्रकार की गायत्री का आभार अनुचित उपयोग करना चाहते हैं—एक तो युग विंगत की प्रमुख सामाजिक और सांस्कृतिक धाराओं का विवरण और दूसरे 'मुख्य विषय' का साथ बसा और गायत्री के क्षेत्र में होनेवाले सामाजिक सूत्र-कार्यों का परिचय।

उपयुक्त समस्त विवेचन का आभार पर कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी परिचय के अतिवादा से बचते हुए भारतीय साहित्यशास्त्र की मायाशास्त्रों की समुन्नत एवं व्यापक अर्थ में प्रतिष्ठित करके उक्त आभार पर कवि का अन्वयप्रदान का सामाजिक भूमि पर विस्तार करना चाहते हैं।

समोक्षात्मक दृष्टिकोण वाजपेयी जी का समाशास्त्रिक दृष्टिकोण समझने के लिए उनकी गूर और प्रसाद की प्रयोगात्मक समीक्षाएँ भी ध्यान देना योग्य है। गूर का आलोचना में आप लिखते हैं स्थितिविंगत का पूरा निष्पन्न भी कर कलात्मक का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत वाग्दृष्टि का रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण भवन भी दिखाते जायें यह विवेचन हमें कवि गूर का गूर का ही मिश्री है। गोचारण अथवा गायत्री धारण के प्रसंग कथारत्न है किन्तु उन कथाओं को भी सजा कर सुन्दर भाव गीता में परिणत कर लिया गया है। हम आत्मानी गूर का नडा समझ पाते कि कथानक में भीतर रूप सौन्दर्य अथवा मनोगतियाँ कवि का रूप है अथवा मनो गतियों और रूप की वणना के भीतर कथा का विकास का रस है। स्पष्ट है कि वाजपेयी जी सौन्दर्य-बोध पर अधिक बल देते हैं। घटनाक्रम तथा स्थितिविंगत को आप पृष्ठ भूमि में उपस्थित करना अधिक गमानीन मानते हैं। वाग्दृष्टि का ही कारण आपने कविता में प्रसाद आपको सबप्रिय है। घटनाओं की विंगतता उनमें नहीं है। वाजपेयी जी रूप का स्पष्ट चित्रण भी नहीं चाहते चतन चलाया का भलक रूपना चाहते हैं। कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि आजाय गवन का वाग्दृष्टि सिद्धांत तुलसी के आधार पर निर्मित हुए हैं तो वाजपेयी जी का मायाशास्त्र प्रसाद में प्रभावित है। प्रसाद की रसवादी (आनन्दवादी) कथाकार का वाजपेयी जी रसवादी समीक्षक किन्तु प्रसाद जी का 'रसवाद' नतिवृत्ता या स्थूल उपयोगिता का आधार लेकर नहीं चला है। वाजपेयी जी की नतिवृत्ता का बचन स्वीकार नहीं करते। सौन्दर्य स्वतः शिव है ऐसा आपका विश्वास है। इसीलिए आप कहते हैं मेरी समझ में इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कमी अश्लील नहीं हो सकती। और सौन्दर्य असत्य तो हो ही नहीं सकता। वह तो चेतना की भलक है। नतिवृत्ता और स्थूल उपयोगिता के आधार पर वाजपेयी जी को एक खतरा दिखलाई पड़ता है। वह कहते हैं कि इसमें

साहित्य और समाज की विविध ऐतिहासिक स्थितियाँ आर कविता का रूचि और परिस्थिति में बननवाले काय-व्यक्तियों का आकलन नहीं किया जा सकता ?” अपनी इसी मायता के कारण आपने आई० ए० रिचर्डस तथा उनके समयक आचार्य मुकुल दोर्ना से अपना पथ अलग कर लिया ।

वाजपेयी जी के विषय में कहा गया है कि ‘यह बतलाना कि उनका अमुक दृष्टिकोण पर आप्रह है कठिन है क्योंकि उनका स्वयं का दृष्टिकोण परिवर्तित होना रहा है ।’ वस्तुतः ऐसी बात नहीं है । कलाकार के विषय में उनका प्राणागत अवश्य बदली है किन्तु उनकी आलोचना का मान्यता नहीं बदला है । उमम महंगा आ गई है । वे ठाने भावक हैं । सौन्दर्य के प्रति उनका आप्रह पहले भी था और आज भी है । प्रेमवाद की आलोचना में उन्होंने कहा है ‘इस गिव’ गद को हम व्यय मममकर निवाल दना चाहत हैं । मर्य और ‘सुन्दर’ पर्याप्त है ।’ वाजपेयी जी न तो प्रभाव वाणी आलोचका का मीति हूय की सणिक प्रतिक्रिया की आलोचना मानत हैं और न वादपस्त प्रचारा को । उनका विश्वास है कि सुन्दरतम साहित्यिक रचनाओं में सावजनिकता होनी है मुग का प्रतिवध या वाद का वितडा नहीं होता । यह असत्य नहीं कि कवि भी मनुष्य है और अपने युग की स्थितियाँ तथा प्रकृतियाँ का उस पर भी प्रभाव पडता है । ये दोनों मत निनात विराधी नहीं हैं । * अपनी इसी मायताओं को लेकर आप आग बढ़ रह हैं ।

समीक्षा शली गनी की दृष्टि से आपको समीक्षा व्याख्यात्मक और विवचनत्मक है । आपका विवचन में गराई समय एक शालीनता है । कहीं कहा आप बिना कृति के सम्बन्ध में नवीन बातों का उल्लेख करते समय क्रमशः नम्बर दते हुए पढ़ी दूसरी तासरी विपत्ताओं का उल्लेख करते हैं । यह पद्धति अपने को पूणत स्पष्ट करने के लिए ही अपना गरा है । मुकुल जी की तरह आप किसी एक तथ्य को सूत्र रूप में उपस्थित करके उसकी व्याख्या नग करते, धरन बराबर एक के बाद दूसरे तथ्या का उल्लेख करते जात हैं । व्याख्या का पूण एक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए आप तुलना का आधार भी ग्रहण करत हैं । सीकेन का आधुनिकता पर विचार करते समय आप कामायना ‘कुसुमत्र’ और ‘मानस सभा में उतवा तुलना कर जाते हैं । नसाद की आलोचनाओं में कहीं कहीं अधिग मन-मन हा जान के कारण आप आह्लादित-म हो जात हैं और प्रभाववादी आलोचना की भावना आ जाती है । सूर की आलोचना में भी यह स्थिति वहीं कहीं आ गरा है किन्तु बहुत कम । वम वाजपेयी जी ने इस प्रकार की आलोचना की निगा का है । वे करते हैं— जिहें द्यावावाद की नई प्रगति का पच्छोपक ममभा जाता था वे समीक्षा के नाम पर निरुत्तर वार थ । वे समाक्षक नाम धारी अपना

१ आपनिक साहित्य पृष्ठ ५३

२ समीक्षा की समीक्षा पृष्ठ २३६

३ हिंदी-साहित्य तीसरी शताब्दी पृष्ठ १११

४ आधुनिक साहित्य पृष्ठ २८२

तोय साहित्यशास्त्र का पूरा ज्ञान ही नहीं सम्यक् बोध भी है। यह उनका भारतीय काव्यशास्त्र का नवनिर्माण शीघ्र निबन्ध से तथा अन्य प्रयोगात्मक समीक्षाओं से सुस्पष्ट है। रस को आप भारतीय काव्यशास्त्र का अन्तर्ग सत्त्व मानते हैं। अलंकार को सौन्दर्य का उद्घाटक तथा वक्रोक्ति रीति और ध्वनि को काव्य के अभियोजनापक्ष से सम्बद्ध मानते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के नवनिर्माण के लिए आप उन प्राचीन मायताओं को व्यापक अर्थ में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। साथ ही काव्यशास्त्र के आधुनिक इतिहासकारों द्वारा प्रयुक्त दो प्रकार की सामग्रियों का आप सन्तुलित उपयोग करना चाहते हैं—एक तो युग विशेष की प्रमुख सामाजिक और सांस्कृतिक धाराओं का विवरण और दूसरे 'मुख्य विषय के साथ कला और साहित्य के क्षेत्र में होनेवाले तत्कालीन सृजन-कार्यों का परिचय।

उपरोक्त समस्त विवेचन का आधार पर कहा जा सकता है कि वाजपेयी जी परिचय के अतिवादा से बचते हुए भारतीय साहित्यशास्त्र की मायताओं को समुन्नत एवं व्यापक अर्थ में प्रतिष्ठित करके उसका आधार पर कवि की अतर्कितता का सामाजिक भूमि पर विश्लेषण करना चाहते हैं।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण वाजपेयी जी का समीक्षात्मक दृष्टिकोण समझने के लिए उनकी मूल और प्रसाद की प्रयोगात्मक समीक्षाएँ भी ध्यान देना योग्य है। मूल का आलोचना में आप लिखते हैं— स्थितिविशेष का पूरा दिग्गमन भी कर घटनाक्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कालिक रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण भक्तव भी दिखाते जायें— यह विनोदता हमें कवि मूल्यम में हा मिलती है। गोचारण अथवा गावधन धारण के प्रसंग कथात्मक है किन्तु उन कथाओं की भी सजा कर सुन्दर भाव गीता में परिणत कर दिया गया है। हम आश्चर्य में नहीं समझ पाते कि कथानक में भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगतियाँ व चित्ररत्न रह है अथवा मनो गतियों और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास स्पष्ट रह है। स्पष्ट है कि वाजपेयी जी सौन्दर्य-बोध पर अधिक बल देते हैं। घटनाक्रम तथा स्थितिविशेष को आप गृह्य भूमि में उपस्थित करना अधिक समाचीन मानते हैं। कथाचित्र इसलिए जायनिक कविता में प्रमाण आपका सवप्रिय है। घटनाओं की विगन्ता उनमें नहीं है। वाजपेयी जी रूप का स्पष्ट चित्रण भी नहीं चाहते—चेतन चरित्रों का भक्तक दपना चाहते हैं। कहना चाहें तो यह वह सबने हैं कि आचार्य गवधन व काव्य मिद्वान्त तुलसी के आधार पर निर्मित हुए हैं तो वाजपेयी जी का मायनाएँ प्रमाण में प्रभावित हैं। प्रसाद जी रमवाण (आनन्दवर्द्धी) कथाकार व वाजपेयी जी रसवाणी समीक्षक किन्तु प्रमाणों का रमवाद नित्यता या स्थूल उपयोगिता का आधार नकर नहीं चला है। वाजपेयी जी भी नित्यता का बचन स्वीकार नहीं करने। सौन्दर्य स्वतः निव है—एसा आपका विश्वास है। इसीलिए आप कहते हैं— मरि समझ में इसका सीधा उत्तर यह है कि महान कथा कभी अमोल नहीं हो सकती। और सौन्दर्य असत्य से हो ही नहीं सकता। व तो चेतना की भक्त है। नित्यता और स्थूल उपयोगिता के आधार में वाजपेयी जी को एक मन्त्रा शिन्दाई पढ़ता है। वह कहते हैं कि— इसमें

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

१ साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है और कभी फल या काय का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगों में बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयापक नहीं है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दगनशास्त्र का शब्द है, परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का सम्बन्ध ही नहीं है अतः ये दोनों शब्द एकसाथ नहीं रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है और अनुभूति सापेक्ष गुण है। निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई याग नहीं हो सकता। अज्ञ, अज, अव्यय नित्य अविकारी आत्मा से सीमित व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। न जायते म्रियते वा बदाविन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय। त्रिकाल में भी न उत्पन्न होनेवाली और न मरनेवाली आत्मा से देसकाल परिच्छिन्न अनुभूतियों की क्या संगति ?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है वही दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर सम्बन्ध माननेवाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पढ़ना तत्त्वज्ञान उपनियम और गीता का है तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनियम और गीता से ही की जाती है। भारतीय तत्त्व चिन्तन में पुरुष और प्रकृति के साथसाथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष सम्बन्ध स्मरण करनेवाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्वैतवादा दशना में इस प्रकार की विचार भूमिकाएँ मिलती हैं। शक्ति सिद्धांत को माननेवाले सम्प्रदाय जो अपने मत चिन्तन को शक्ति अथवा क नाम से घोषित करते हैं आत्मा को शक्तिरूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार में शक्ति ही आत्मा है, अनुभूति शक्ति है अतः अनुभूति ही

स्वतंत्र गद्यकाव्य निखन म लगे हुए थे जिसे वे अपनी ममज्ञता के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठकों का भावुक दल उन्हें समीक्षक कहकर पुकारने भी लगा था । 'वही वही अपना आलोचनाओं में अवांछित स्थल या जाने पर आप आवेश में आ जाते हैं और एक राग कई प्रश्न कर जाते हैं । देखिए एक जीवनी की आलोचना में आप कहते हैं—

शांति दु खिनी है शेरर दु खी ह । शांति केवल शेरर का उमाद दूर करना चाहती है वह बहुत प्रयत्न करती है । अगामाजिक सीमा तक पहुँचती है । पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है । अब वह और भी निराश्रित हो गई किन्तु शेरर को और भी बल मिला । सस्कार के लिए ? समाधान के लिए ? शांति के लिए ? नहीं आत्म प्रवचना के लिए विषाद-तपति के लिए अह-भूति के लिए ।^१

यथास्थान वाजपेयी जी व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते । प्रसाद जी के कुछ आलोचकों पर व्यंग्य करते हुए आपने लिखा है— हमारे विश्वविद्यालयों के गम्भीरतावादी महानुभाव जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धान्तों का सग्रह करने में महाराज दश की लक्षणा का लक्ष्य भेद कर चुके हैं पर जिनका सामयिक साहित्य की परोक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछए के मुह के समान सदैव काया प्रवेग ही किए रहता है—उनका अन्तः कृष्टि के बहुत बड़े हिस्सेदार हैं ।^२

भाषा वाजपेयी जी की भाषा पूर्ण सयत तथा गम्भीर है । उसमें सूक्ष्मता का अभाव नहीं अदभुत शक्ति है । वाक्य में विचार गुप्त रहने हैं । आवश्यकतानुसार आप अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी करते हैं किन्तु उससे समानान्तर उपयुक्त हिन्दी शब्द भी इस दते हैं । उद्ग के शब्द बढन पर भी नहीं मिलते । जहाँ कोरे तथ्या का उल्लेख करना होता है वहाँ वाक्य बहुत छोटे छोटे हो जाते हैं जहाँ भावा का प्रवाह रहता है वहाँ वाक्य बड हो जाते हैं ।

वस्तुतः शकल जी के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में अनेक वादों से बचते हुए भारतीय संवात्सम्मत सौष्ठववादी समीक्षा की स्थापना में वाजपेयी का सब श्रेष्ठ है । गुणकराय जी के उत्तर दृष्टिकोण ने सौन्दर्य का आधार अवश्य ग्रहण किया था किन्तु एक शब्द 'शिव' के साथ उसका समन्वय चाहते थे अतः उसने पृथक् मानदण्ड की स्थापना न कर सके दूसरे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अधिक विकसित नहीं हुआ । साहित्य के वर्तमान गत्यवस्था में कसरी क्या स्थिति होगी ? यह तो भविष्य ही बना सकता है ।

१ उत्तर प्रसाद भूमिका पृष्ठ

२ आधुनिक साहित्य पृष्ठ १८४

३ उत्तर प्रसाद पृष्ठ ७०

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

१ साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है और कभी फल या कार्य का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगों में बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयापक नहीं है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दशनशास्त्र का शब्द है परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का सम्बन्ध ही नहीं है, अतः ये दोनों शब्द एकसाथ नहीं रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है और अनुभूति सापेक्ष गुण है। निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नहीं हो सकता। अस्त, अज, अयय नित्य अविकारी आत्मा से सीमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वा न भूय। त्रिकाल में भी न उत्पन्न होनेवाली और न मरनेवाली आत्मा से देवकाल परिच्छिन्न अनुभूतियों की क्या संगति ?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वही दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर सम्बन्ध माननेवाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पहला तत्त्वज्ञान उपनिषद् और गीता का है तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही की जाती है। भारतीय तत्त्व चिन्तन में पुरुष और प्रकृति के साथ साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष सम्बन्ध स्थापित करनेवाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्रव्यवादी दशना में इस प्रकार की विचार भूमिकाएँ मिलती हैं। शक्ति सिद्धांत को माननेवाले सम्प्रदाय जो अपने मत चिन्तन को शक्ति अद्वैत के नाम से घोषित करते हैं आत्मा को शक्तिरूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार में शक्ति ही आत्मा है, अनुभूति शक्ति है, अतः अनुभूति ही

ज्ञानमा है ।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के सबंध की अनेकरूपता का आभास हमें भारत की विभिन्न चिन्ताधाराओं से प्राप्त होता है । हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक खर्वा में नहीं पड़ें हैं । हमारा प्रयोजन केवल 'आत्मानुभूति' शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है और हम देखते हैं कि इस शब्द को लेकर दार्शनिकों में मतव्यय नहीं है । मनव्यय तो दूर आत्मा और अनुभूति के पौरस्परिक सबंध को लेकर सभी सम्भव दृष्टियों के स्थापन की चेष्टाएँ की गई हैं जिनमें साम्य या समव्यय दूटने का प्रयास हम यहाँ नहीं कर सकेंगे । एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म-तत्त्व के साथ त्रिकाल में भी अनुभूति का कोई सबंध न माननेवाले अद्वैत दार्शनिक हैं दूसरी ओर अनुभूति के बिना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करनेवाले गणित-तंत्र के सस्थापक आचार्य हैं । और इन दोनों के मध्य आत्मा और अनुभूति का बहुरूपी सबंध स्थिर करनेवाले सापेक्षवादी द्वैत चिंतक हैं । हम इस अतर्हीन विचार-अभ्यूह में प्रवेश करने में अभिमान्यु की भाँति ही गणित हैं अतएव हम इससे विरत रहें और ही सतोष करेंगे ।

सच तो यह है कि हमें इस दार्शनिक ऊहापोह में जाने की आवश्यकता ही नहीं है । हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नहीं करता । आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है । अतः हम आत्मानुभूति के शब्द प्रयोजन में न पड़कर अनुभूति से ही काम निकालेंगे ।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है । गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस का निर्माण करते समय लिखा था स्वांत मुनाय तुनगी रघुनाथ गाया भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमात्तनोति । यहाँ स्वांत सुखाय से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है । उस सिद्धांत का निरूपण करनेवाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उपादान विभाव अनुभाव संचारी भाव आदि को बताया है । साहित्यमात्र के मूल में अनुभूति या भावना काय करती है यह उस सिद्धांत की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है ।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं जिसमें अनेक पात्र भिन्न भिन्न भूमिकाओं में उपास्य होकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और अनेक परिस्थितियों का निरूपण करत हुए नाटकाय व्यापार को आगे बढ़ाते हैं । इसमें हम नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप में रचयिता का अनुभूति काम करती रहती है । हम कोई उपास्य पढ़ते हैं जिसमें विविध व्यक्तियों की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है । पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन का वास्तविक रूप का ही देख रहे हैं और उन घटनाओं का परिचय पा रहे हैं जो वास्तव में घटित हुई हैं । हम इस ऊपरी जीवन-व्यापार में रचयिता की सत्ता को भूल जाते हैं पर क्या उसकी अनुभूति का बिना वह रचना किसी प्रकार सम्भव है / क्या सत्ता की अनुभूति में रहित काव्य-दृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है ?

काव्य में अनुभूति का इस व्यापकता का निर्माण करने में भारतीय साहित्यशास्त्र

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति । १३७

का ध्वनि सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इमा तत्त्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूपरेखा के मम में आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। काव्य की संपूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। संपूर्ण काव्य किमी रस को अभिप्रेषण करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनकी ओर हमें आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य साहित्य में अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम रस या सम रूप कह सकते हैं? क्या समस्त कविता और रचनाकारों की अनुभूति एकरूप या समान होना है? यदि नहीं तो क्या अनुभूति में स्वरूपगत भेद होते हैं? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और कान्यानुभूति एक ही हैं या उनमें भी अंतर है? अंतर है तो किस प्रकार का? साधारणतः हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अनुभूति होती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में काव्य शक्ति नहीं होती। उसमें अपनी अनुभूति का प्रकाशन की क्षमता नहीं होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ—

अनुभूति और कान्यानुभूति—स्वरूपतः भिन्न हैं?

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेंगे। यह समझ है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं होता उसमें अपनी अनुभूति का प्रकाशन की योग्यता नहीं होती। पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। इस सन्दर्भ में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कलाशास्त्री वेनिडीटो क्रोच का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोच का कथन है कि अनुभूति वही है जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिस अनुभूति में यह अभिप्रेषण क्षमता नहीं है वह वास्तव में अनुभूति न होकर फोरी शिथिलता या मानसिक जमुहाई मात्र है। वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है सौंदर्य रूप में अभिप्रेषण द्वारा रह ही नहीं सकती। उसे काव्य-स्वरूप ग्रहण करना ही पड़ेगा। क्रोच के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। ये तीनों अन्वय या समानार्थी शब्द हैं इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोच के इस निर्देश को हम स्वीकार करें तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हम आप ही आप मिल जाता है। वह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का है। क्रोच के निष्कर्षण के अनुसार अनुभूति का समरसता या समरूपता होना अनिवार्य है। एक ही अर्थ अनुभूति समस्त कविता और रचनाकारों में होती है। काव्यमात्र में उसकी अलग अलग स्वयंशक्ति है। समस्त कवि एक हैं उनमें परस्पर भेद नहीं है। अनुभूतिशील मानवता ही सत्र और सत्र काल में एक है। काव्य और कला की अलग धारा देण और कान का भेद नहीं जाननी। भेद वास्तविक नहीं है उसका यथाय रूप हम समझना होगा। काव्यगत अनुभूति व सम्यग् में यह क्रोच की स्थापना है। भारतीय दिवार भी इससे भिन्न नहीं है। अभी मैं विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानों में भावना या अनुभूति की स्थापित का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वादन के निमित्त 'सहृदय'

की योग्यता बताकर और शब्दा पर उलझनेवाले न्यायशास्त्रियों तथा बदाचरणों को काष्ठ कुड्य की उपमा देकर हमारे विनोदप्रिय पूर्वजों ने काव्यगत अनुभूति की विशेषता सिद्ध की थी। उन्होंने काव्य के विविध प्रकारों, शलिया और पद्धतियों के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नहीं खींची है जिससे उसका सबसे सामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विशेष आए। समस्त काव्य शलिया और काव्य-स्वरूपा में अनुभूति की अखंड एक रूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्य की सावजन्यता और सावभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यजक रचना से कभी कभी उन कृतियों का अर्थ लिया जाता है जिनमें रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है। परन्तु इसी कारण दूसरी रचनाओं को अनुभूति रहित नहीं कहा जा सकता। कुछ समीक्षकों ने सञ्जेकितव (व्यक्तिगत) और आञ्जेकितव (वस्तुगत) काय क दो भेद कर आत्मानभूति की प्रधानता सञ्जेकितव काव्य में मानी है परन्तु इस भेद को हम वास्तविक नहीं कह सकते। यह तो केवल प्रकार भेद है। व्यक्तिगत अनुभूति से प्रेरित रचनाएँ कभी कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नहीं अतएव उन्हें तो काव्य की सजा भी नहीं दी जा सकती। वास्तव में अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किए नहीं जा सकते उसकी तो अखंड सत्ता है। आत्मानभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है। किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यजक कहकर दूसरी काव्य रचनाओं को आत्माभिव्यजना से रहित मानना बड़ी भ्रांति है।

इसी प्रकार हम कभी किसी रसविशेष की रचना को दूसरे रसों की रचना से अष्ट सिद्ध करते हैं और कभी महाकाव्य खण्डकाय प्रगीत जादि काय भेदा की निरपेक्ष रूप में तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के लिए प्रायः शृंगार रस को रसराज घोषित किया जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी शृंगारिक रचना किसी भी अन्य रस की रचना से स्वतः श्रेष्ठ है। सभी रसों में एक ही अनुभूति धारा प्रवाहित रहा करती है अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नहीं है कि उसमें काव्य की सत्ता किसी लघुगीत या प्रगीत की काव्य-सत्ता से प्रकृत्या भिन्न है दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान हैं। आकार-कार और परिमाण आदि में अन्तर भले हो हा।

किसी प्रचंड बुद्धिवाणी समस्या-नाटक में और किसी अतितरल गीतनाट्य में महत्या पृष्ठा का समाहित उपवास में और चार या दस पंक्तियों के गद्यगीत में भी अनुभूति की समानता रहती है। इसी समता का बल पर वह समस्या नाटक भी काव्य है वह विनास उपवास भी और वह अति-लघु गद्यगीत भी। यदि अनुभूति की सत्ता में अंतर होगा तो इनमें से किसी एक दो या सबको काव्य की पत्नी ही न मिलता। यदि ये सभी काव्य-भाष्यत्व का अंग हैं तो इनमें अनुभूति की अखंड एक-रूपता है ही।

एक आर मूर तुलना और मीरा आदि कवियों और दूसरी ओर देव बिहारी और मतिराम आदि रचनाकारों में क्या अंतर है? क्या यह कि वे भक्त और सन्त थे और उनकी रचनाओं में भक्ति और ईश्वर प्राप्ति का गीत मिली और ये सतारी और दरबारी व्यक्ति थे और उनका कृतियाँ में साव-कल्याण न हो सका? परन्तु भक्ति और

ईश्वर प्राप्ति के सदावाहक सभी तो कवि नहीं हुए और न सभी ससारी और दरवारी ध्यक्तियों ने कलम हाथ में ली। ऐसी अवस्था में तुलना की भूमि भक्ति ईश्वर प्राप्ति या लोक कल्याण नहीं हो सकती। तुलना का आधार होगा कवित्व या काव्यत्व, जिससे ऊपर गिनाई वस्तुओं का कोई सम्बन्ध नहीं और जिसका एकमात्र मानदण्ड है अनुभूति। सम्भव है हम यह कहें कि देव, बिहारी आदि में अनुभूति थी ही नहीं, वे कवि ही नहीं थे। यह कहने का हमें अधिकार है पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नहीं हो जाते कि सूर और तुलसी पहले हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे। इस प्रकार का तर्क करनेवाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतंत्र वाच्य रम सिद्ध करना चाहते हैं पर उनकी यह उपपत्ति सच्च काव्य प्रेमिया को माय नहा हो सकती।

अनुभूति का काव्य का प्रयोजन माननेवाला के सम्मुख यह प्रश्न भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन का माध्यम क्या हो। कभी कागज और कूची की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को काट छाँटकर और कभी शब्दों की अथ-व्यञ्जक शक्ति का आश्रय लेकर अनुभूति प्रकाशित होनी है। इन विभिन्न माध्यमों का उपयोग भिन्न भिन्न कलाकार अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमों में कौन अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलम्बित है। इस सम्बन्ध में नियम निर्देश करना सम्भव नहीं। परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होनेवाला अनुभूति के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छन्द के स्थान पर दूसरा छन्द रखकर जादू अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। आदम अभिव्यक्ति सदा एक ही होगी।

यदि प्राचीन काल कलाकार के सम्मुख आज के समस्त साधन नहीं थे तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी अनुभूति अपनी 'आदम अभिव्यक्ति' नहीं प्राप्त कर सकती। काल कलाकार की वही आदम अभिव्यक्ति है जो उसने अपने मोटे साधनों से की है। महात्मा कबीर के पास 'गुद परिच्छृत शब्द रागि' नहीं था, किन्तु उन्होंने जिस किसी प्रकार से अपने भाव व्यक्त किए वही उनका आदम प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनों की अंतरग अनयता में मन्देह नहीं किया जा सकता।

वह काव्य भाषा काय ही है जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पाई हो, जिसमें कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदम माध्यम प्राप्त करने में असफल रहा हो। पर वह रचना काय नहीं है जिसमें वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना श्व-यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नहीं आती, उसे गुणाभूत व्यंग्य या चित्रकाव्यमात्र कहते हैं। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा उसका अभाव ही इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल में रहता है।

अनुभूति का स्वरूप और समस्त काव्य साहित्य में उसकी व्यापकता दिखाने का जो प्रयत्न ऊपर किया गया, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वतः

१ अमिधा, २ भावकत्व और ३ भोजकत्व । अमिधा के द्वारा काव्यगत अलंकारादि का ज्ञान होता है तथा उसके अर्थ की अभिज्ञता होती है । भावकत्व द्वारा प्रत्येक का हृदय व्यक्तिक सबधों की छोड़कर साधारण मनुष्य की भाव भूमि पर आ जाता है । व्यक्तिक विशेषताओं और सबधों से परे पहुँचकर विन्शेपरहित मन नाटक में प्रदर्शित भाव का आस्वाद लेता है । वह दुष्प्यत की पुष्प-सामाग्य और गकुत्तला की स्त्री सामाग्य समझता है । इस प्रकार स्थायी भाव सहृदयमात्र के द्वारा उपभोग्य हो जाता है । इस साधारण भावित स्थिति को ही संयोग कहते हैं । जिस त्रिधा के द्वारा साधारणीकृत स्थायी भाव का स्वरूप में भोग होता है उसे भोजकत्व कहते हैं । यह भोग ही निष्पत्ति है । रस और तमस विहीन सात्विक मन ही काव्य रस का भोग करता है । इस स्थिति में सासारिक दृश्य और संवेदनाएँ तिरोहित हो जाती हैं और गूढ साहित्यिक (कल्पनाजन्य) आनन्द उपलब्ध होता है । यह आनन्द इसीलिए ब्रह्मानन्द-सहोत्तर कहलाता है ।

४ अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—इस मत पर यह गंभीर दुई कि इन तीन काव्य-शक्तियों को मानने के लिए कोई आधारभूत प्रमाण नहीं है । अभिनवगुप्त के मतानुसार भावकत्व और भोजकत्व इन दोनों का काम व्यञ्जना या ध्वनि से चल जाता है । भावकत्व (भावना करने की सामर्थ्य) भाव का अपना गुण है । भरत मुनि ने कहा ही है कि जो काव्याद्यों को भावना का विषय बनावे वही भाव है । काव्याद्य रस का भावक है क्योंकि उसी से रस व्यञ्जित होता है । रस का भोग उसका आस्वाद ही है । रस में भोग का भाव रहना है क्योंकि रस वही है जिसका भोग हो सके । अतएव भोजकत्व को अलग मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह ध्वनि के द्वारा संपन्न हो जाता है । इसलिए 'संयोग का अर्थ है ध्वनित या व्यञ्जित होना और निष्पत्ति का अर्थ है आनन्दरूप में प्रकटित होना ।'^१

रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है इसका निर्देश ऊपर के चार सिद्धान्तों द्वारा किया गया है । आचार्य भट्ट सोल्लट ने उत्पत्तिवाद का सिद्धान्त उपस्थित किया और बताया कि विभाव-अनुभाव आदि कारण हैं और रस फल है । आचार्य चाकुल ने प्रतिपादित किया कि विभाव अनुभाव आदि अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य है अर्थात् विभाव अनुभाव आदि के द्वारा रस का अनुमान किया जाता है । तीसरा सिद्धान्त भट्ट नायक का है जिनके अनुसार रस आस्वाद्य है उसका आस्वादन सबप्रथम अमिधा व्यापार द्वारा काव्याद्य की ज्ञान से न पश्चात् भावना व्यापार द्वारा काव्याद्य का साधारणीकरण हो जान पर हाता है । आचार्य सोल्लट ने रस की सत्ता नायक में मानी । नट उसका अभिनय करने नायक के रस की आत्मसात् करता है और उसकी समस्तार मुक्त प्रतीति दृशक या प्रत्येक की होती है । गकुल के मतानुसार रस की सत्ता नायक में है किन्तु उसका अनुमान नर्तों में कर दिया जाता है जो नायक के कार्यों का सुंदर अभि

१ यहाँ इन चारों मतों को आचार्य रामानुजदास जी के साहित्यालोचन ग्रंथ में का गूढ व्याख्या के आधार पर रखा गया है । इसकी अन्य व्याख्याएँ भी हैं किन्तु इन व्याख्याओं में प्रायः समानता पाई जाती है ।

नय करते हैं। भट्टनायक के मतानुसार रस की सत्ता प्रेम्भक में है। काव्याय का बोध और उसका साधारणीकरण हो जाने पर प्रेम्भक रस का आस्वाद करता है।

ऊपर के तीना सिद्धांत उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और भुक्तिवाद रस की प्रक्रिया को समझाने के लिए उपयुक्त नहीं माने गये। इनमें कितने ही प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोषों का आरोप किया गया और अन्त में आचार्य अभिनवगुप्त ने रस की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए अपने अभिव्यक्ति सिद्धांत को उपस्थित किया, जिसे व्यञ्जना या ध्वनि सिद्धान्त भी कहते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार भाव की सत्ता सहृदय पाठक में रहा करती है। सस्कार रूप से सहृदय के हृदयागत भावों की सत्ता रहती है। काव्य या नाटक के अनुशीलन द्वारा वह भाव सत्ता अनुकूल प्रेरणा प्राप्त कर उदबुद्ध हो उठती है और सहृदय को काव्य से रसानुभूति होने लगती है। रस आनन्दरत्मक अनुभूति है और वह साधारण भौतिक सवेदनाजय सुख-दुःख संभिन है।

इस प्रकार रस को तथा उसके आस्वादन की प्रक्रिया को समझाने के लिए ध्वनि मत का आविष्कार हुआ। आचार्य अभिनवगुप्त का ध्वनिमत उनका अपना निर्माण किया हुआ है अथवा उनका पहले भी इस मत का प्रचार था इस संबंध में विद्वानों ने बताया है कि अभिनवगुप्त के कुछ पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी जिसमें ध्वनि सिद्धांत का निरूपण किया गया था। यह भी कहा जाता है कि बक्रोक्ति और अनुमान आदि के साहित्य सिद्धांतों के विरोध में ध्वनि सिद्धांत की सृष्टि हुई थी किन्तु अभिनवगुप्त ने उन ध्वनि सिद्धांत को रस सिद्धान्त के साथ समुक्त कर उसके जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की, वह आगे चलकर सर्वमान्य बन गया और रस के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के निमित्त ध्वनि की उपयोगिता सर्वशास्त्र-सम्मत हो गई।

परन्तु ध्वनि और रस का यह तारतम्य यहीं तक सीमित नहीं रहा। ध्वनिवादियों ने उसे और आगे बढ़ाने की चेष्टा की और क्रमशः उसे स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में स्थापित करना चाहा। आरम्भ में ध्वनि द्वारा रसानुभूति को समझने का प्रयत्न किया गया था, परन्तु आगे चलकर रस ध्वनि का एक भेदमात्र रह गया और रसध्वनि के अतिरिक्त अलंकारध्वनि तथा वस्तुध्वनि नामक दो अन्य ध्वनि प्रकारों का निरूपण किया गया। इस निरूपण का यही अर्थ निकला कि काव्य रस तक ही सीमित नहीं है। रसध्वनि से भिन्न ध्वनियाँ भी काव्य हो सकती हैं अर्थात् काव्य में रस की अपेक्षा ध्वनि की व्याप्ति अधिक है।

ध्वनिमतानुयायियों ने इस प्रकार ध्वनि को ही काव्य की आत्मा ठहराने का प्रयत्न किया। ध्वनिरहित काव्य चित्रकाव्य के नाम से अभिहित किया गया और वह निवृष्ट काव्य माना गया। इसी प्रकार ध्वनि की गौणता का आधार लेकर ध्वने हुए काव्य को गुणीभूत व्यंग्य कहा गया और उसे द्वितीय श्रेणी के काव्य की प्रतिष्ठा दी गई। इस वर्गीकरण में हम नहीं भी रस का नाम नहीं पाते। स्पष्ट है कि इसमें ध्वनि की प्रमुखता हो गई है। आश्चर्य यह है कि आचार्य भग्मन् जिनका काव्यप्रकाश ग्रन्थ ससृष्ट साहित्य समीक्षा की सर्वाधिक मायकृति है स्वयं ध्वनि सिद्धांत को अत्यधिक प्रतिष्ठा देते हैं।

हम कहना पड़ता है कि सस्त्रुत साहित्य समीक्षा में पाठित्य और चमत्कार की अभिवृद्धि वं साथ साथ ध्वनि सिद्धांत का भी आवश्यकता से अधिक प्रसार हुआ और उसी मात्रा और अनुपात में काव्य की आत्मा रस की उपेक्षा हुई। रस को काव्य की आत्मा मानने वाले भरत मुनि तथा ध्वनि को रस से भी अधिक "यापकता देनेवाले इन परवर्ती आचार्यों में कितना दृष्टि भेद है यह स्वतंत्र विवेचन का विषय है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि रसात्मक वाक्य को श्रेष्ठ काव्य माननेवाले सहृदयमात्र ध्वनि के इस अनाकांक्षित विस्तार को उचित नहीं समझते। वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि में ध्वनि रस के स्वरूप और उसके आस्वादन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का साधनमात्र है।

×

×

×

रस सम्बन्धी ऊपर के चारों निर्देशों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक या सोदय शास्त्र सम्बन्धी दृष्टि से देखने की भी आवश्यकता है। यद्यपि परम्परागत धारणा के अनुसार प्रथम तीन मत अतात्त्विक हैं और चौथा मत ही सिद्धांतरूप में माय्य है परन्तु जिस तार्किक क्रम से ये मत उपस्थित किये गये हैं और मूल पांडुलिपियाँ के अभाव में भी जिस तत्परता से इन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है उनमें यह सूचित होता है कि इनके मूल में शास्त्रकारों की मौलिकता और तात्त्विकता का अनुभव अवश्य हुआ था भल ही किसी दूसरे सिद्धांत की तुलना में उन्हें ये मत सापेक्ष दृष्टि से उतने प्रामाणिक न प्रतीत हुए हों। क्रमागत परम्परा द्वारा ये मत क्रमशः भीमासा "याय और साख्य मता के साहित्यिक प्रतिरूप माने गये हैं। जिस प्रकार वदार्त मत के रहते हुए भी अपने अपने स्थान पर भीमासा "याय और साख्य मता की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वनिमत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियाँ निरीरिक्त नहीं हो जाती।

इस विषय के विस्तृत विवेचन में न जाकर हम यहाँ इतना निर्देश कर सकते हैं कि आचार्य सोल्लट का मत (जिस उत्पत्तिवाद कहते हैं) काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। उक्त मत के अनुसार रस की सत्ता नायक में रहती है। वहाँ से वह अभिनय के माध्यम से होकर प्रत्येक तब पहुँचता है और उस चमत्कृत करती है। इस मत के सहज महज के प्रश्न का घाटा देर के लिए अनग रत्नकर यदि हम कवि द्वारा काव्य निर्माण की प्रक्रिया पर अपना ध्यान केंद्रित करें तो सोल्लट के विचारों में पर्याप्त साधकता प्रतीत होगी। कवि मानव जीवन और जगत् के वास्तविक स्वरूपों और घटनाओं को काव्य के माध्यम से उपस्थित कर जिस सजनात्मिका शक्ति का परिष्प दता है क्या उक्त मूल में कवि का मौल्य भावना या रस का सत्ता नहीं है? किन्ना ऐतिहासिक या वास्तविक व्यक्ति या पात्र को कल्पना के माध्यम से किसी विशेष भाव व्यक्तता के साथ ही काव्य के नायक रूप में उपस्थित करने की घटना ही तो काव्य है। फिर एम काव्य में—काव्य के नायक नायिकागत व्यवहारा में—ही तो वह विशिष्टता निहित है जो काव्यगत श्रुत या रस कहलाता है। एसी अवस्था में उक्त नायक-नायिका के वाग्म्यिक शक्ति का रस की सत्ता मानना अनुचित या

असगत कस है ? प्रश्न यह है कि क्या किमा प्रकार उक्त का यात्मक सृष्टि व—उक्त कवि निर्मित नायक-नायिका और उनके कवि-वर्णित व्यवहारा के—अभाव म भा काय रम समझ है ? इस प्रश्न का उत्तर केवल स्पष्ट नकार म ही दिया जा सकता ह। यदि यह बात है ता आचार्य भट्ट लोल्लट व उत्पत्तिवाद म निहित इस सत्य की अवहलना कम की जा सकती है कि काय रम का मूल आधार कवि-वर्णित नायक और नायिका हा हैं ।

भट्ट लोल्लट व डम उत्पत्तिवाद से एक कदम आग वरने पर हम आचार्य गकुक् द्वारा प्रतिपात्त अनुमिति मत पर पहुँचते हैं । यदि हम यह मान लें कि इस अनुमिति मत का साधकता इस बात म है कि वह नायक-नायिका के निर्माण म निहित कवि का मौन्द्य-साधना का सावजनिक वनाम (सहृदया तक पहुँचात) का दिया म अपना ध्यास्या उपस्थित करता है ता हम इस मत की साधकता का स्पष्ट रूप म समझ सकेंगे । काव्य या नाटक म चित्रित नायक नायिका को माकार करन का प्रयत्न ही ता नट करता है, अतएव यदि नट म (अभिनता जात्र वा अधिक प्रचलित ग है) हम एक ओर उक्त नायक-नायिका और दूसरी ओर सहृदय-समाज का मध्यवर्ती स्थिति या मध्यस्थता का अनुभव करें तो इसम असगति क्या है ? यह प्रश्न दूसरा है कि कवि कल्पित नायक-नायिका म और उसकी अनुकृति करनेवाले नट या अभिनता के क्रिया बलाप म कितना तात्त्विक साम्य या वषम्य है (यह प्रश्न काव्य-बला से अधिक अभिनय कला से संबंधित है) परन्तु इतना मान लेन म कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि नट या अभिनेता काव्य म वर्णित घटनाआ और दश्यों को साकार रूप दन का—उह नाट्यदशका के सम्मुख प्रत्यक्ष और हृदयगत बना देने का—प्रयत्न तो करता ही है । यही उमकी उपयोगिता है यही उसका अमोष्ट है । तो फिर यह मानने म क्या आपत्ति हा सकती है कि आचार्य शकुक् का रस प्रक्रिया को अभिनय याजना द्वारा सममान का प्रयत्न नितान्त असाहित्यिक नहीं है । वह लोल्लट के उत्पत्ति सिद्धान्त मे एक श्रेणी आग की वस्तु है और किसी भी अवस्था म उतना जनगन नहीं जितना उस समझा जाता है ।

तीसरा सिद्धान्त भट्टनायक का है और मेरी गटि म वह गकुक् के अनुमिति सिद्धान्त से ठीक उसी प्रकार एक श्रेणी जागे है जिस प्रकार स्वयं गकुक् का सिद्धान्त आचार्य लोल्लट के सिद्धान्त से आग ह (यहाँ आगे और पीछे से हमारा जाग्य निर्दिष्ट विषय की ओर आगे बढ़न और पीछे हटने से है । अपने अपने स्थान पर ता म सभी मत एक-से ही उपादय हैं) । गकुक् का अनुमिति सिद्धान्त नाटक और उसके अभिनय क आधार पर खडा है । वह व्यापक रूप से ऐसी काव्य रचनाआ पर लागू नहीं होता जिनका सम्बन्ध अभिनय से नहीं है । अभिनेता या नट को देखकर नाट्यदशक नायक का अनुमान कर लता ह और एक सुखद भ्रम म पढकर दोना के अतर को भूल जाता है । अभिनय सम्बन्धी इसी तथ्य का अधिक व्यापक और शास्त्रीय स्वरूप भट्टनायक की साधारणी करण या भावा-व्यापार की व्याख्या म देखा जाता है । नट को नायक मान लेने और काव्य म वर्णित नायक-नायिका को निर्विशेष पुरुष-स्त्री मान लेन म तथ्य सम्बन्धी कोई अतर नहीं है । अनुमान के स्थान पर भावन शब्द का प्रयोग अधिक साहित्यिक और

अथपूण अवश्य है। इसके साथ ही नायक और नायिका के निर्विशेषत्व या सामान्यीकरण का अर्थ एक आर काय में वर्णित उन प्रतीका का सहृदयमात्र की अनुभूति में आसक्ने का सामर्थ्य है और दूसरी ओर सहृदय का वह सामर्थ्य भी है जिसके द्वारा वह कवि कल्पित नायक नायिका के व्यवहारों को अपनी अनुभूति का विषय बनाकर रस ग्रहण करता है। जहाँ शकुन्तल का अनुमिति सिद्धांत अभिनय-कला की विगण्यता के निरूपण द्वारा काय वस्तु को प्रक्षक की अनुभूति का विषय बनाता है वहाँ आचार्य भट्टनायक का साधारणीकरण सिद्धान्त केवल काय के सामर्थ्य का उल्लेख न लगाकर दशक के सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। इस प्रकार काय और सहृदय के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दिशा में—काव्य में निहित प्रपञ्चीयता के तत्त्व को उदघाटित करने की दिशा में—भट्टनायक का भक्ति सिद्धांत शकुन्तल के अनुमिति सिद्धांत की अपेक्षा एक कदम आगे है।

साधारणीकरण के साहित्यिक सिद्धांत के साथ कुछ असाहित्यिक दलीलें भी लाकर जोड़ दी गई हैं। उदाहरण के लिये यह कहा जाता है कि देवताओं और पूज्य पवित्रियों के रति भाव का साधारणीकरण प्रभव को नहीं हो सकता। पर प्रश्न यह है कि रचयिता या कवि के लिये भी तो वे देवता या पूज्य चरित्र उतने ही पूज्य हैं जितने दशक या श्रोता के लिये। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दशकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नहीं है। साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दशक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त पापार का हाता है बसल पात्रविशेष का नह। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद हो रहे हैं।

भट्टनायक द्वारा विवेचित रस निष्पत्ति की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट और तार्किक स्वरूप प्रदान करने के निमित्त अभिनवगुप्त के अर्थ सिद्धांत की अवतारणा हुई। इस सिद्धांत की विशेषता यह है कि यह काव्य रचना और उसकी सहृदयगत प्रतीति के बीच किसी व्यवधान या अन्वर्ती स्थिति को स्वीकार नहीं करता। जिस काव्य में ध्वन्यात्मक शक्ति नह, सहृदय को रस प्रतीति कराने का सामर्थ्य नहीं उसने कायत्व में ही कमी है। ऐसी त्रिपुण रचना गणीभूत व्यंग्य और वित्रकाय की श्रेणी में परिगणित होगी। ध्वनिमत् की दूसरी विशेषता यह है कि वह सहृदय द्वारा किये जाने वाले आस्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार को भी विवक्षित करता है। सम्भाररूप से भावों का स्तुता प्रयेत् सहृदय में निहित रहती है। वही काव्य में प्रस्थित विभाव अनुभाव आदि के सभाग (सा ताकार) से जाग्रत हो उठती है और काव्य रसास्वाद का आधार बनती है। सहृदय के मन में सम्भाररूप से स्थित इस भावसत्ता के बिना काव्यगत विभाव अनुभाव का स्यायी भाव के रूप में परिणति और रसरूप में आस्वाद असंभव ही होगा।

इस प्रकार हम ज्ञते कि ये चारों मत प्रमग काव्य की प्रेषणीयता और काव्य रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रथम मत समस्या का एक एक पहलू को लेकर व्यापक बढ़ता है । कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्यप्रदर्शन, सहृदय क भावना और काव्य की ध्वन्यात्मकता क पंथों की व्याख्या करनेवाले में मत हमारी दृष्टि में काव्य की एक अत्यन्त आवश्यक समस्या के उदघाटन की एक क्रमबद्ध योजना का रूप में उपस्थित न्ये गये हैं—यह जान दूसरी है कि खडन महान क ज्ञानाल में पढ़ जाने से उनका मूलवर्ती आगय या प्रयोजन भुला न्या गया हो । परम्परा सुरक्षित है किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो गया है ।

३

छायावाद

छायावाद काय प्रवाह हिन्दी में अब अपनी सुनिश्चित धारा बना चका है । जरा बह बबल विरोध की वस्तु नहीं है और न बबलवाचिक अभ्ययता का विषय रह गया है । अब ना उसको सम्यक समीक्षा और परीक्षा भी की जा सकती है । आरम्भ से ही अपनी छायात्मक निगूण अभिव्यक्तिया क कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य कहा जा रहा था । पूर्ववर्ती भक्ति-काय की साकार वणनामा क विपरीत इसकी निराकार पद्धति थी किन्तु इसका यथाप स्वरूप अब तक स्पष्ट नहीं किया गया । छायावाद की पद्धति कबीर आदि की निगूण निराकार व्यङ्गनामा से भिन्न तो है ही मूर्तियों की पद्धति से भी पथक है । उक्त दोनों परंपराएँ प्रमुखत आध्यात्मिक कही जा सकती ह मद्यपि मूर्ती कविया ने लौकिक सत्कृति क निर्माण में भी कम सहायता नहीं दी । आधिमौलिक यक्ष में दखा जाये ता एक ओर उमर खयाम और दूसरी बार गेखसादो तथा भारत क जायसी आदि कविया में बहुत बड़ा दक्षिभंग है । इन सभी कविया ने सामयिक सत्कृति और देशकाल की विचारधाराका का भिन्न भिन्न स्वरूपा में व्यक्त किया है । उदाहरण क लिए उमर खयाम की काव्य धारा अटपट, भाग्य या नियति क कठोर चक्र में भयभीत होकर उससे तटस्थ हो जान का मानो आसक्ति करती है । उनका काव्य ईरान और भारत की एकांत वास्तुकाया ओर उदवना में दो प्राणिया की प्रम परिचर्या का ही सरल आगय सजर उपस्थित हुआ । सागी आदि की रचनाएँ उनसे भिन्न वातावरण और विचार प्रम का सातन करती हैं । जायसी आदि भारतीय मूर्तिया का कविता क ती उमर खयाम का-ना भाग्यवान् प्रवर्तित करती ह और न दो प्राणिया क एकांत जीवन और जीषवतिक परिस्थितिया का प्रगणन करती है न वह अरबी मूर्तिया की तरह इस्लाम की ध्वन्यात्मक म हा विकसित हुआ ह । मापक भारतीय जीवन और सोरम क अनेकानेक दशा के बीच से होकर यह काव्य गगन प्रवाहित हुई है । नम प्रकार दग काल और विचार-क्रम में भेद होते हुए भी मूर्ती काव्य मुख्यत आध्यात्मिक कहा जाता है क्योंकि उसका सद्य निराकार प्रम की अनुभूति सब में समान रूप से पाया जाता ह । उससे लौकिक, देशकाल

सापेक्ष और सांस्कृतिक रहलू प्रधान ध्यान नहीं पा सकें हैं काय व प्राण प्रम—अती विक्र प्रम—म ही अटके है ।

कबीर आदि ज्ञानमार्गियों की आध्यात्मिकता तो एकदम स्पष्ट है । रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति और मिथ्या सत्कार की मुद्रा धारणा उनके अध्यात्म व अविचल स्तम्भ हैं । आध्यात्मिक काव्य व लिए एक अखंड सत्ता का स्वीकार—वह प्रममय ही ज्ञानमय या आनन्दमय—जितना आवश्यक था, सामाजिक सत्ता या यावहारिक जीवन का अस्वीकार भी उतना ही अनिवार्य हो गया था । आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी का यकी यही विशेषता थी । साकारोपासक भक्तों ने भी राम कृष्ण आदि व चरित्रों को जखंड अख्यय सीता, दिव्य और अलौकिक कहकर उसी कसौटी को स्वीकार किया है । सत्ता की प्राकृतिक किसी सत्ता की आध्यात्मिक स्वीकृति सिद्धांतन वे भी नहीं करते । यह अवश्य मानना होगा कि मानसरोपासक कवियों ने साम्प्रतिक नतिक और जीवन क व्यावहारिक पन्ना का विमोक्ष दिग्गमन कराया है किन्तु उनकी दृष्टि अनादिक आदम पर ही रही है । समाज की दृश्यमान वास्तविकता और तत्त्व प्रगतिता से व प्राय दूर ही रहे हैं । तथापि इन कवियों ने जीवन क बहुविध पन्नों का सौंदर्य लिखाया और तत्त्व सीन सांस्कृतिक निर्माण म योग किया । आदर्श और अलौकिक की भूमि पर वे व्यवहार और प्रयत्न की इतनी चर्चा भी कर गए यह कम नहीं । कबीर आदि निगुणिया ने भी आत्मा की व्यापक सत्ता घट घट म दिखाई और उसे पहचानने का आग्रह किया । साधन रूप म उन्होंने सरन और त्यागमय जीवन की शिक्षा दी तथा जाति पति के भदों का निषेध किया किन्तु उनका लौकिक मात्र साकारोपासक की अपेक्षा भी सीमित था क्योंकि उनका अध्यात्म लोक से परे की वस्तु थी जिसकी साधना तटस्थ और ऐकान्तिक ही हो सकती थी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन अविकारा काय वह किसी वाद या सम्प्रदाय से संबद्ध क्या न हो अलौकिक वातावरण और आध्यात्मिकता का ही दावा करता रहा । सिद्धांतन मूर तुलसी और मारा तथा कबीर दादू आदि सगुण और निगुण उपासना व कविक-सी ही आध्यात्मिक भूमिका का आग्रह करते हैं । मूर के काव्य म कृष्ण-गोपिया की टुगारिक सीता तुलसी व काय म राम और सीता का मर्यादावादी चरित्र कबार की तत्त्वनिश्चय साधियाँ और अयोक्तियाँ—विषय भाव व्यजना काव्य पदों तथा साहित्यिक विगपताओं म एक-दूसरे म दूर दीख पडती हैं परन्तु तत्त्वत वे सभी अध्यात्मवादी काव्य का गाथा प्रगाथाएँ बहा जा सकती हैं ।

यहाँ प्रसंगवत् हम यह भी समझ लेना चाहिए कि इस सम्पूर्ण अध्यात्मवादी काव्य को आनेक गतागिन्या तक प्रस्तुत किया जाता रहा एक ही प्रेरणा भूमि नहीं है । निम्न लिखित कवियों ने ज्ञान अपना मानसिक धरानल से जो काव्य-मण्डि की है उम एक ही अध्यात्मवादी तुलना पर तोरना ठीक न होगा । ऐसा करने पर रचनाकारों की यत्नावक जीवन, दृष्टि उनकी मनस्थिति तथा काव्यात्मक क्षमता का आकसन न हो सकेगा । प्रत्येक इन मध्यकालीन कवियों का वास्तविक साहित्यिक मूल्य औरने के लिए आवश्यक है कि इनमें प्रत्येक के 'अध्यात्मवाद' की उनके दार्शनिक और सामाजिक निर-

पणा के प्रकाश में परीक्षा की जाय, उनका द्वारा चित्रित चरित्रों और व्यक्तित्व भावनाओं की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आलोचना की जाये और उनकी काव्य-शैली तथा साहित्यिक निर्माण की विशेषताओं को स्वतंत्र भूमि पर रखकर देखा जाये। अध्यात्मवादी होने के कारण ही किसी कवि को काव्य गौरव नहीं प्राप्त हो जाता, न केवल सांप्रदायिक या साधनाविषयक साहित्यिक प्रयोग ही उस साहित्यिक उत्कृष्ट से सकता है। आवश्यकता यह समझने की है कि कवि की काव्यानुभूति और उसकी रचना साहित्यिक समीक्षा में स्वतंत्र सत्ता रखती है, किसी वाद के घेरे में वह घेरी नहीं जा सकती।

अस्तु, यह एक प्रासंगिक बात हुई। नई छायावादी काव्य धारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है परन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भाविक प्रगति की प्रतिनिधिता भी कह सकते हैं। भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक ज्ञान की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है। इसकी एक नवीन और स्वतंत्र काव्य शैली बन चुकी है। आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार जगत में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भी भक्ति-काव्य में व्यक्त हुआ उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहाँ पूर्ववर्ती भक्ति काव्य में जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पक्षों का गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी, वहाँ छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्ति काव्य की प्रकृति निरपेक्षता और मत्सर मिथ्या की सद्दान्तिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानव जीवन-मौन्द्य और प्रकृति का आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है, उसे अध्ययन की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव चरित्र और दृश्य जगत अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे जबकि नवीन काव्य में समस्त मानव अनुभूतियाँ की व्यापकता पूरा स्थान पा सकीं। अध्यात्मवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित हान हुए भी मध्यकालीन भक्ति काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य में जितना बड़ा दृष्टि भेद है यह अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टि भेद के कारण दोनों युगों की काव्य मष्टियाँ में जो महत्वपूर्ण अंतर आ गया है वह साहित्य के विद्यार्थियों के अनुशीलन का वस्तु है।

मध्यकालीन अधिकांश काव्य जो किसी धार्मिक या साधनात्मक प्रणाली के अन्तर्गत रचा गया एक विशेष अर्थ में साम्प्रदायिक काव्य कहा जा सकता है। तुलसी की विनय-परिचय, मूरदास के विनय के पत्र कबीर की साहित्यों मीरा के भाव-गीत बालाव में किसी सगुण या निगुण उपास्य के प्रति किए गए आत्मनिवेदन स्तुतियाँ या श्लोकाएँ हैं। राम और सीता सम्बन्धी चरित्र-काव्य में अथवा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में स्थिति कुछ भिन्न अवश्य है क्योंकि वहाँ काव्य अपनी प्रकृत भाव भूमि पर है और मनोवेगा का निरूपण नैसर्गिक पद्धति पर किया गया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे प्रसंग सवया स्वाधीन हैं और इनका काव्य-सौन्दर्य चरित्र-काव्य या प्रतीक

की सामान्य भूमि पर रखकर परखा जा सकता है। समस्या यह हो जाती है कि भक्ति उपमाया या रहस्य माधना क सांप्रदायिक जाग्रह प्रमुख बन बठने हैं और काव्य भावना की वास्तविक परख नती हो पानी। आवश्यकता इस बात की है कि काव्येतर समस्त तत्त्व वाद और साधना त्रम स्वतंत्र अध्ययन के विषय अवश्य रह परन्तु काव्य विवेचन व जवसर पर उन सबका पयवसान रक्षिता की मन स्थिति और जीवन दृष्टि तथा भाव की भाव-पीठिका के अंतगत हो जाना चाहिए। ऐसा न होने पर काव्यका वास्तविक आकलन अधूरा ही रह जायेगा।

दूसरे शब्दों में हमारा निवेदन यह है कि मध्यकालीन काव्य की समस्त सांप्रदायिक और साधनात्मक प्रेरणाओं को नवीन मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक प्रतिमानों में परिणत करना होगा। ऐसा करने पर ही उनके काव्य की वास्तविक सीमा रेखाएँ निर्धारित हो सकेंगी। नवीन मनोविज्ञान की सहायता से यह काव्य अधिक सुगमतापूर्वक हो सकेगा क्योंकि सांप्रदायिक साधना सरणियों का काव्य के अंतगत प्रयोग करने में कवियों की अतिगत मानसिक स्थिति का आवश्यक और महत्त्वपूर्ण हाथ मानना ही पड़ेगा। मूर के 'राम और मोरा' के प्रभु विद्यापति की राधा और गूर की राधा चरित के रूप में तो भिन्न हैं ही उनके निर्माण की मानसिक प्रेरणा भी एक नहीं है। उसी प्रकार कवीर की रहस्य भावना उसी मानसिक स्तर पर नहीं है जिस पर दूसरे निगुणिया की है। अतएव इस साहित्यिक निर्माण का कवियों की मानसिक स्थिति से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है।

एतना हान पर ही उन कवियों के काव्य की उपयुक्त भूमिका का निर्माण हो सकेगा और उस भूमिका पर रखकर उनका काव्य सौष्ठव परखा जा सकेगा। वर्तमान स्थिति में यह काव्य प्रायः भ्रामक पद्धति पर किया जाता है। पाठकों के धार्मिक विश्वासों का अनुचित उपयोग कर कुछ समीक्षक कृष्ण काव्य को अब भी कला और भाव समीक्षा का वास्तविक विषय नहीं बनने देते और उनकी अनेकविध सांप्रदायिक व्याख्याएँ करते रहते हैं। कुछ समीक्षक रहस्यवाद की वाग्दमूमि को ही स्वीकार नहीं करते और कुछ इसके विपरीत रहस्य काव्य व दार्शनिक विवेचन में ही सारा पाठित्य खच कर देते हैं। ये सभी समीक्षा प्रकार साहित्यिक आकलन की दृष्टि से एकाधो और अधूरे और साहित्यिक या कलात्मक विवेचन में बाधा उपस्थित करते हैं।

जब तक इस नए पद्धति पर काव्य विवेचन की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक मध्य कालीन काव्य का कलात्मक और सांस्कृतिक स्थान निर्धारित करना संभव नहीं होगा। माय ही मध्ययुग की सामाजिक परिस्थिति में उनके काव्य की किन्तों और किस प्रकार पठ हुई तथा उसमें सामाजिक कला अभिवृत्ति किस सीमा तक जाग्रत हुई और सांस्कृतिकता कहीं तक बढ़ी और विकसित हुई इन प्रासंगिक प्रश्नों का भा इतिहास में आलोचकों में हच करना होगा। शायद यह कि इतिहास और सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि पर उन कवियों की सांप्रदायिक साधना विधियों और दार्शनिक निरूपणों का उनकी जीवन और मानसिक परिस्थिति से सम्बन्ध स्थापित करते हुए काव्य की नवीन व्याख्या करनी होगी और इस प्रकार उन मध्यकालीन कवियों की काव्य-पीठिका का निर्माण करना

होगा। इस पीठिका पर स्वर ही हम उनकी रचनाओं की साहित्यिक विषयनाओं को आँक सकेगे। तभी हमारा साहित्यिक इतिहास वास्तविक साहित्यिक भूमि पर स्थापित होगा और हम भिन्न भिन्न साहित्यिक निमार्णों का यथायथ स्वरूप समझ सकेंगे।

छायावाद काव्य मध्ययुग की कान्य पारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी क्रमागत सांप्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। जध्यात्मवादी काव्य का अधिष्ठान दशकान्तान परम पवित्र सत्ता हुआ करती है। व्यंग्यील सासारिक आत्माओं और स्थितियों आदि से उसका मुख्य सम्बन्ध नहीं होता। वह विकास जो समय का आश्रित है, वह विज्ञान जो व्यक्त द्रव्य तथा उमकी परिणतिया पर अधिष्ठित है मध्यकालीन आध्यात्मिक काव्य के विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष वस्तु का मानव-जीवन के सुख-दुःख विकास हास आदि की अवस्थाओं में जो सम्बन्ध है वह काव्य उमकी उपेक्षा कर गया है किन्तु आधुनिक छायावादी काव्य उसकी उपेक्षा नहीं करता। अध्यात्मवादी परंपरा दृश्यमात्र को विनाशी कहकर चुप हो रहती है अथवा उसे व्यावहारिक बनाकर मूढ़ मोह लेती है। छायावादी काव्य में यह परंपरा स्वीकृत नहीं है। दय से पीठिन और प्रताडित तथा भोगश्रव्य से पसकन और परिवेष्टित यकिन समुदाय देग राष्ट्र या सष्टि-धन के विभेदा म अध्यात्मवादी नहीं हो सका। समय और सगज को आन्दोलित करनेवाली शक्तिया का आकलन उसमें कम ही है। वह तो उग गारवन सत्ता से ही सबधा मयुक्त है जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं। उम सत्ता का स्वरूप सगुण है या निगुण विन्वमय है या विश्वानीत ये प्रश्न ही उम अध्यात्म म आते हैं। छायावाद की काव्य-सरणी इन अध्यात्मवादी सीमा निर्देशों से आबद्ध नहीं है वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करता।

आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म पद्धति को लेकर नहीं चलता। नवीन जीवन प्रगति में ही उसने आत्म सौन्दर्य की झलक देखी है। परपरित अध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है—एक चेतन केन्द्र से नाना चेतना-केन्द्रों की सष्टि करता है, किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतनसत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान म परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर—दृश्य से भाव की ओर—होती है। और इस सापत्तिक अनुभूति के अनु रूप काव्य-वस्तु का चयन करने म छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र में यथच्छ सामग्री प्रकृति की है।

प्रसाद जी जो छायावाद काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं अपनी आरम्भिक रचनाओं म प्रकृति की रमणीयता से आकृष्ट होकर उमके सौन्दर्य प्रभाव का स्पर्श करते हैं। उनका आरम्भिक काव्य प्राकृतिक और मानवीय शौण्य की भूमि पर अतिरिक्त है। इस व्यक्त सौन्दर्य-वस्तु का प्रभाव कवि के काव्य म एक हलकी रक्षण-भावना की सष्टि करता है भरना और आँसू म यह सौन्दर्य-गला प्रसाद विविध साहित्यिक की भावना म और भी गहराई लाती है और कवि प्रमत्त के विस्मय म मगलन विन्यास देता है। लहर व गीता म मानव जीवन क विविध पल्लवों म साध जीवन गन्त के भाव-व्य का प्रयत्न है। कामावती काव्य में जीवन की अनुभूति का भावना 1147/1148

गित है और उन सबका समाहार कवि के जीवन-शन आनन्दवाद में किया गया है। प्रसाद जी के काव्य के अभिनव भाव विस्तार को देखते हुए मध्ययुग का धार्मिक और सांप्रदायिक आयात्म-काव्य बहुत-कुछ सीमित और परतंत्र प्रतीत होता है।

केवल एक प्रासंगिक उदाहरण लेकर देखना ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। मूरदास का राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृंगारिक काव्य अपनी स्वाभाविक भाव भूमि पर भी अत्यधिक विंग और आकर्षक है। वटावन के प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच गोपिया के प्रेम का विकास एक आध्यात्मिक समारोह ही कहा जा सकता है। परन्तु एक सीमा तक ही यह सुन्दर पद्धति देखने को मिलती है। आगे चलकर गोपिया की मानलीला और कृष्ण द्वारा मान मोहन क प्रयत्न का जो शिदशन कराया गया है वह अपनी प्रकृत भूमि पर बसा भावनामय नयी हो पाया। प्रत्येक गोपी के घर बारी बारी से जाकर उसकी अभिलाषा-भूति का प्रयत्न जमा वह मूरदास के काव्य में चित्रित है आध्यात्मिक हृदि के अनुकूल भले ही हो काव्य की उदात्त भाव-व्यञ्जना में सहायक नहीं है। समभव है तत्कालीन काव्य पद्धति में वैसे चित्रण अपवाद न माने जाते हों पर आज के चित्रण—सभी शृंगार के वे दृश्य—सुष्ठुचिपूण नहीं कहे जा सकते। फिर भी मध्यकालीन धार्मिक काव्य की परिधि में उनका निर्माण हुआ है और बहुत-से भक्त उन्हें गाकर आज भी अलौकिक आनन्द उपलब्ध करते हैं। उनका यह आनन्द उक्त प्रसंग की रहस्यवादी धारणा के कारण है या उन दशमों के यथातथ्य चित्रण में ही उनकी भावना रमती है—यह तो वे ही बता सकते हैं। यहाँ हमें केवल इतना ही कहना है कि नवीन छायावादी काव्य गली में ऐसे चित्रणों के लिए चाहे वे किसी बात के अन्तर्गत हों स्थान नहीं है।

सारांश यह कि हमारा नया काव्य अपनी स्वतंत्र दार्शनिकता के साथ ही अपनी भाव भूमि और अनुभूति-क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती काव्य से पर्याप्त सत्ता रखता है जिसका यथाय परिचय हम साहित्यिक विवेचन की उस स्वतंत्र परिपाटी का अभ्यास करने पर ही प्राप्त हो सकता है जिसका सक्न ऊपर किया गया है। साहित्य गतियों का स्वतंत्र और कलात्मक अनुगमन मात्र की साहित्य-मीमांसा के लिए आवश्यक है। आज छायावादी काव्य-शली को स्थानालगित करती हुई नई गतियाँ भी हिन्दी के क्षण में अवतरित हो रही हैं। नए वादा का आगमन हो रहा है नई भाषा गली प्रतिष्ठित हो चली है। इस समस्त परिवर्तन का साहित्यिक आवन्तन अपेक्षित है।

छायावाद की साहित्य गता में एक नयी दिशा का आभाम महात्माजी के काव्य क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्राप्त हुआ। उनका काव्य पूणत रहस्यो-मुखी और ऐनातिक है। छायावाद की मामा य काव्य गता से उनका पर्यकता स्वीकार करनी होगी। इनके पंचान् बनन जा का नया काव्य-वा हिन्दी क क्षेत्र में आया। इसी समय छायावादी काव्य गता क कतिपय अनुयायियों ने यथायवात् काव्य प्रयाग आरम्भ किए, जिनमें वन आ मा एक प्रमुख प्रयाक्ता थे। चित्रण गली और प्ररणा भूमि दोनों में पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा इतमें पर्याप्त अन्तर दिखाई दिया।

नया काव्य प्रवर्तन आरम्भ ही चला परन्तु शैली के रूप में उमका नूतन प्रतिष्ठा स्तन में सुप्र समय गणना। इस नवान प्रवर्तन के मूल में नयी विचारणा मया

चिन्तन पद्धति और नवीन जीवन-दृष्टि ही नहीं है, नयी शली शली की भी सत्ता है । स्वभावतः यह नवीन निमाण कल्पनाप्रधान छायावादी काव्य निर्माण की अपेक्षा अधिक यथाय चित्रण-शली का उपयोग कर रहा है पर शली का यह यथाय अपने अन्तर्गत कितनी विभिन्न और दूरवर्ती भावना-मरणिता को आत्मसात् कर सकेगा, यह ता नवीन सांस्कृतिक विकास और भविष्य की सामाजिक प्रगति पर ही अवलंबित है । अभी इमक सम्बन्ध म कोई निश्चयात्मक मत व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

४

प्रसाद और निराला

पिछले कुछ समय से हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र म यत्र तत्र यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि कवि के रूप म प्रसाद और निराला मे श्रेष्ठतर प्रतिभा किसकी रही ह और हिन्दी काव्य म किसका प्रदेय अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है ? विशेषकर निराला जी के स्वगवास के पश्चात् इस प्रश्न को साहित्यिको के बीच आग्रहपूर्वक विचार का विषय बनाया जा रहा है । यद्यपि दो विशिष्ट कविया की तुलना इतने स्वल्प काल मे प्राय नहीं की जाती और इम प्रकार के प्रश्न के निणय के लिए लम्बे समय का व्यवधान आवश्यक माना जाता है परन्तु इस प्रश्न के उठाये जाने का कुछ न कुछ कारण भी है ही । हमारी दृष्टि म इमका कारण यह है कि निराला के प्रति पिछले वर्षों म हिन्दी के साहित्यिक समाज म अतिशय श्रद्धा और सम्मान की भावना उत्पन्न और व्याप्त हो गई है जिमका मुख्य कारण निराला जी की व्यक्तिक विषम स्थिति थी । वे न केवल गारीरिक और मानसिक माध्या से आक्रांत थे, वरन उनकी आर्थिक दशा भी शोचनीय थी । अन्तिम वर्षों म उनकी सवा शुश्रूषा और चिकित्सा आदि की उपयुक्त व्यवस्था नहीं हो सकी थी जिसके कारण लोगो की महानुभूति उनक प्रति अत्यधिक मात्रा म उभर उठी थी । दूसरी बात यह है कि इन विपरीत परिस्थितियों के रहते हुए भी निराला जी ने इन वर्षों म उत्तम कोटि की काव्य रचना की, जिमम उन्होंने सामयिक जीवन की असंगतिया पर तीव्र व्यंग्यात्मक प्रकाश डाला और साथ ही अनेकानेक आत्म निवेदनात्मक गीत भी लिखे, जो श्रेष्ठ काव्य के निदर्शक हैं । यही नहीं इम परवर्ती काल म उन्होंने बहुत-बहुत भरल भाषा और सुन्दर उक्तियो का प्रयोग किया है जो हिन्दी-काव्य को उनकी नयी देन बनी जा सकती है । जिद लोगो ने निराला जी की पूर्ववर्ती रचनाओं का क्लिष्ट और दुरुह बनाया था उन्हें भी उनकी इम नयी शली की रचनाओं ने आश्चर्यचकित कर दिया और वे अपने पुराने आरोग को बहुत कुछ भूल गये । निराला की आरम्भिक शृंगारिक और वीर भावना-पूर्ण रचनाओं की तुलना म जब उन्होंने इन हास्य व्यंग्य और शान्त-रक्षण रस की रचनाओं को एकमात्र रखकर देखा तब उह निराला की बहुवस्तुश्यापिनी प्रतिभा का पूरा प्रत्यय प्राप्त हुआ । उन्हें हिन्दी म दूसरा कोई कवि नहीं दिखाई दिया, जो इतने विविध विषयों शक्तियों और भाव योजनाओं को एकमात्र अभिव्यक्त कर सका

गित है और उन सबका समाहार कवि के जीवन-ज्ञान आनन्दवाद में किया गया है। प्रसाद जी के काव्य के अभिन्न भाव विस्तार को दखते हुए मध्ययुग का धार्मिक और सांप्रदायिक अत्यात्म-काव्य बहुत-कुछ सीमित और परतंत्र प्रतीत होता है।

केवल एक प्रासंगिक उदाहरण लेकर देखना ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। मूरदास का राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृंगारिक काव्य अपनी स्वाभाविक भाव भूमि पर भी अत्यधिक विगद और आकषक है। वृंदावन के प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच गोपिया के प्रेम का विकास एक आध्यात्मिक समारोह ही कहा जा सकता है। परन्तु एक सीमा तक ही यह सुन्दर पद्धति देखने को मिलती है। आगे चलकर गोपिया की मानलीला और कृष्ण द्वारा मान मोचन के प्रयत्न का जो शिदशन कराया गया है वह अपनी प्रकृत भूमि पर वसा भावनामय नहीं हो पाया। प्रत्येक गोपी के घर बारी बारी से जाकर उसकी अभिलाषा-भूति का प्रयत्न जमा वह मूरदास के काव्य में चित्रित है आध्यात्मिक हृद्धि के अनुकूल भले ही हो काव्य की उदात्त भाव-व्यञ्जना में सहायक नहीं है। समभव है तत्कालीन काव्य पद्धति में वैसे चित्रण अपवाद न माने जाते हों पर आज के चित्रण—समोग शृंगार के यद्दय—सुष्ठुचिपूण नहीं कहे जा सकते। फिर भी मध्यकालीन धार्मिक काव्य की परिधि में उनका निर्माण हुआ है और बहुत से भक्त उन्हें गाकर आज भी अतीविक आनन्द उपनय करते हैं। उनका यह आनन्द उक्त प्रसंग की रहस्यवादी धारणा के कारण है या उन दृश्यों के यथातथ्य चित्रण में ही उनकी भावना रमती है—यह तो वे ही बता सकते हैं। यहाँ हम केवल इतना ही कहना है कि नवीन छायावादी काव्य गली में ऐसे चित्रणों के लिए चाहे व किसी वाक्य के अनुरूप ही स्थान नहीं है।

सारांश यह कि हमारा नया काव्य अपनी स्वतंत्र दार्शनिकता के साथ ही अपनी भाव भूमि और अनुभूति-क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती काव्य से पर्यक सत्ता रखता है जिसका यथाय परिचय हम साहित्यिक विवेचन की उस स्वतंत्र परिपाटी का अभ्यास करने पर ही प्राप्त हो सकता है जिनका सबेले ऊपर किया गया है। साहित्य-गलियों का स्वतंत्र और बसात्मक अनुगीतन आज की साहित्य मीमांसा के लिए आवश्यक है। आज छायावादी काव्य-गली को स्थानान्तरित करती हुई नई गलियाँ भी हिन्दी के क्षण में अवतरित हो रहा हैं। नए वादा का आगमन हो रहा है नई भाषा गली प्रतिष्ठित हो चली है। इस सम्मन परिवहन का साहित्यिक आक्रमण अपेक्षित है।

छायावादी की साहित्य गली में एक नयी दिशा का आभास महादेवी जी के काव्य क्षण में प्रवेश करने पर प्राप्त हुआ। उनका काव्य पृष्ठत रहस्यो-मुष्ठी और ऐराविक है। छायावादी की मामाया काव्य-गली से उनकी व्यक्तता स्वीकार करनी होगी। इसके पश्चात् काव्य-गली का नया काव्य-वादी हिन्दी का क्षेत्र में आया। इसी समय छायावादी काव्य गली का कतिपय अनुपायिका न यथायवाक्य काव्य प्रयाग आरम्भ किए, जिनमें पत्र जो भा एक प्रमुख प्रयाक्त था। चित्रण गली और प्ररणा भूमि दोनों में पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा इनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई दिया।

नया काव्य-वर्तन आरम्भ ही चला है परन्तु चीनी के रूप में उमका नूना प्रतिष्ठित करने में कुछ समय होगा। इस नवान प्रवर्तन के मूल में नयी विचारणा नया

बिन्न-बदलि और नगन जीवन-दृष्टि ही नहीं है, यही बसा-भसी की भी मता है। स्वभावतः यह नवानिर्माण कल्पनाप्रधान छायावाणी काव्य निर्माण की अपेक्षा अधिक यथाचित-शक्तों का उपयोग कर रहा है परन्तु इसी का यह 'यथाय' अपने अन्तर्गत कितनी विभिन्न और दूरदर्शी भावना-सरणियों को आत्मसात कर सकेगा, यह तो तब ही सांस्कृतिक विकास और भविष्य को सामाजिक प्रगति पर ही अवलंबित है। अभी इसके सम्बन्ध में कोई निश्चयात्मक मत व्यक्त नहीं किया जा सकता।

४

प्रसाद और निराला

पिछले कुछ समय से हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में यत्र तत्र यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि कवि क रूप में प्रसाद और निराला में श्रेष्ठतर प्रतिभा किमती रनी है और हिन्दी काव्य में किमका प्रदेश अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है? विशेषकर निराला जी के स्वभावतः क पश्चात् इस प्रश्न को साहित्यिका क बीच आप्रह्वपूर्वक विचार का विषय बनाया जा रहा है। यद्यपि दो विशिष्ट कवियों की तुलना इनके स्वल्प काल में प्राप्त नहीं की जात और हम प्रकार के प्रश्न के निणय के लिए लम्बे समय का व्यवधान आवश्यक माना जाता है परन्तु इस प्रश्न क उठाये जान का कुछ न कुछ कारण भा है ही। हमारी दृष्टि में इसका कारण यह है कि निराला क प्रति पिछले वर्षों में हिन्दी क साहित्यिक मझान में अनिश्चय श्रद्धा और सम्मान की भावना उत्पन्न और व्याप्त हो गई है किमका मुख्य कारण निराला जी की व्यक्तिक विषय स्थिति थी। व न केवल पारोक्षिक और मानसिक व्याधिया से आक्रान्त थे वरन उनकी आर्थिक दशा भी शोचनीय था। अन्तिम वर्षों में उनकी सवा श्रुश्रुपा और विक्रिया व्याप्ति की उपयुक्त व्यवस्था नहीं हो सकी थी किमके कारण लार्गा की महानुमति उनक प्रति अत्यधिक मात्रा में उभर उठी था। दूसरी बात यह है कि इन विपरीत परिस्थितियों क रहते हुए भी निराला जी न इन वर्षों में उत्तम कौटि की काव्य रचना की किममें उन्होंने सामयिक जीवन का अग्रगणिया पर तीव्र ध्यात्मिक प्रकाश डाला और साथ ही अनेकानेक आत्म निवेदनात्मक गीत भी लिखे, जो अष्ट काव्य क निर्माणक है। यही नहीं इस परवर्ती काल में उन्होंने बहुत-कुछ सरस भाषा और सुन्दर उक्ति का प्रयोग किया है जो हिन्दी-काव्य को उनकी नयी देन कही जा सकती है। जिन लोगों ने निराला जी की पूर्ववर्ती रचनाओं को किमष्ट और दुर्बल बनाया था उन्हें भी उनकी इस नयी ली की रचनाओं ने आश्चर्यचकित कर लिया और वे अपने पुरान आरोग को बहुत कुछ भूल गये। निराला का आरम्भिक शृणारिक और वार भावना-पूर्ण रचनाओं की तुलना में जब उन्होंने इन हास्य, व्यंग्य और छान्दक रण रण की रचनाओं को एकसाथ रखकर देखा तब उन्हें निराला की बहुवन्तुव्यापिनी प्रतिभा का पूरा प्रत्यय प्राप्त हुआ। उन्हें हिन्दी में दूसरा कोई कवि नहीं दिखाई दिया, जो इतन विविध विषया, शक्तियों और भाव-यात्रनाओं को एकसाथ अभिव्यक्त कर सका

हो। यह तो निराला के प्रति अनुदात्त भावना रखनेवाला की बात हुई। जो लोग आरम्भ से ही निराला के प्रशंसक थे उन्हें तो निराला-काव्य के सम परवर्ती चमत्कार में और भी अधिक अभीप्सित वस्तु मिली और कवि के प्रति उनकी धारणा विशेष रूप से समर्थित और घुट्ट हुई। इसी परिस्थिति में निराला और प्रसाद के आपेक्षित बहिष्कार का प्रश्न उठाया गया है और साहित्यिक समाज में इसकी चर्चा आरम्भ हुई है।

निराला और प्रसाद की इस तुलना का एक और आयाम भी दिखाई देता है। यह न केवल दो कवियों की व्यक्तिगत तुलना है बल्कि एक प्रकार से बीसवीं शताब्दी के सम्पूर्ण काव्य के शीघ्र अंग का ममाकलन है। प्रसाद और निराला आधुनिक हिन्दी-काव्य की दो सर्वोत्तम प्रतिभाएँ हैं जो वर्तमान युग के समस्त काव्य प्रयास के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में देखी जाती हैं। हिन्दी-साहित्यिका में एक जोर द्विवेदी-युग के समस्त काव्य पर दृष्टिपात किया। दूसरी ओर छायावाद और उसके परवर्ती विकास को भी देखा और इस समस्त काव्य मण्डल में जो सबप्रमुख प्रतिभाओं का चयन किया जो प्रसाद और निराला की प्रतिभाएँ हैं। अतएव प्रसाद और निराला की तुलना की प्रेरणा समस्त हिन्दी काव्य के श्रेष्ठ अंग के निर्वाचन की अभीप्सा भी कही जा सकती है। जो ऐसे अनेक कवि हो सकते हैं जिनकी एक या अनेक कृतियाँ हिन्दी-काव्य में अपूर्व और अतुलनीय हैं। परन्तु जब ममप्रता में विचार किया जाता है तब ये स्फुट रचनाएँ एक किनारे रख दी जाती हैं और मारा ध्यान प्रसाद और निराला के काव्य पर केन्द्रित हो जाता है। इस स्तर पर प्रसाद और निराला की तुलना का यह आशय नहीं है कि हिन्दी में उनके प्रति स्पर्धी अन्य कवि हैं ही नहीं परन्तु सम्पूर्ण काव्य-व्यक्तित्व के रूप में इन दो को सर्वोपरि स्थान देने का आशय अवश्य रहा करता है।

द्वन्द्व प्रसाद और निराला का काव्य इस युग का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। श्रेष्ठ काव्य वह जो भाव प्रतिमान स्थिर किये जायें उनका विनियोग इन दो कवियों के काव्य में निर्वाचन रूप से किया जा सकता है। सबसे पहली बात जो इन दोनों कवियों में समान रूप से पायी जाती है जीवनानुभव की वास्तविकता-व्यापकता और गहराई की है। अनुभव की वास्तविकता में यहाँ आशय है कि इन दोनों कवियों का भाव-जगत् में जीवन की विविध स्थितियों और मनो-गात्रों का यथायथ योग है और इनका दृष्टिकोण वास्तविक मानव-जगत् की मन्वा-या का आकलन करना है। ये दोनों कवि न तो कोरे भावनावादी हैं न कल्पनावादी इनका काव्य में मानव-अनुभूतियों की यथायथा सन्निविष्ट हुई है। दूसरे गाना में ये दोनों कवि मानव-जगत् की स्थितियों और अनुभूतियों का कवि हैं। इनका काव्य का कर्तव्य सत्त्व जीवन का ऊपर से न देखकर उसने अन्तरंग में जाकर देखने का है। यही कारण है कि जब अन्य अनेक कवि जीवन स्थितियों को छोड़ कर बस उमर आशा या अभिन्नचित रूप का निरूपण करने लगे हैं तब इन दो कवियों ने मानव अनुभवों का यथायथ सम्पूर्ण चर्चा नहीं छोड़ा।

एक दूसरी विशेषता जो इन दोनों कवियों को श्रेष्ठता प्रदान करती है इनकी काव्य में प्रति अनिमित्तता है। इनने अपनी काव्य रचना में काव्य के बाह्य उपकरणों का प्रयोग नहीं किया। वर्तमान युग के बहुत-से कवि नाना प्रकार के वार्तिक

तथ्या और आदर्शों को काव्य में मन्निहित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। परन्तु उनकी रचनाओं में इन दोनों तथ्या का समग्न मन्वय नहीं हो सका। काव्यात्मक असद्वृत्तियाँ और अय उपकरण एक ओर जा रहे हैं तो वचनिक और बौद्धिक तत्त्व दूसरी ओर जा रहे हैं। कवि के व्यक्तित्व के गहरे सस्पर्शों से इन दोनों का योग नहीं हो पाया। फलतः इन अनेक वृत्तियाँ म साधजस्य की कमी के कारण एक बिखराव आ गया है। कुछ समीक्षक इस प्रकार का अमिश्रित काव्य प्रयोग का समर्थन करते भी देखे जाते हैं। परन्तु महान् काव्य की विशेषता मदक सस्लेपण में ही हुआ झरती है। जीवन की बहुविध विकास और आदर्श भूमियाँ का कवि के व्यक्तित्व में समाहार होने पर ही वास्तविक काव्य की सृष्टि होती है। अथवा काव्य में जीवित और अटूट समप्रता निमित्त नहा हो पाती और कविता अपने सर्वोत्तम उत्कृष्ट पर नहीं पहुँचती।

दो अय शब्दों का प्रयोग ऊपर किया गया है—जीवन अनुभव की व्यापकता और गहराई। अनुभव की व्यापकता कवि का सामाजिक सम्पर्क से सम्बन्धित है जबकि उसकी गहराई का सम्बन्ध कवि के व्यक्तिगत प्रेरणा स्रोतों से है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि जो कवि जितना ही वस्तुमुखी होगा उसमें अनुभवों की व्यापकता उतनी ही अधिक होगी। कवि अपने व्यक्तिगत जीवन के सकल्पों और विकल्पों को छोड़कर वास्तविक और बहिर्मुखी जीवन से अपनी काव्य सामग्री का संचय करेगा। दूसरी ओर जो कवि अधिक अन्तर्मुखी होगा और अपने जीवन के अंतरंग द्वन्द्वों का काव्य में प्रतिबिम्बित करना चाहेगा उनके काव्य में व्यापकता का स्थान पर गहराई का तत्त्व अधिक होगा। या तो विविध काव्य प्रतिभा इस प्रकार के सभी वचनों का अतिक्रमण कर जाती है पर सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि काव्य में जीवितानुभव की व्यापकता कवि की वस्तुमुखी दृष्टि पर आश्रित रहती है जबकि गहरे संवेदना की सृष्टि कवि के अंतरंग जीवन-द्वन्द्व में सम्बन्धित होती है। इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद और निराला-काव्य के दो विभिन्न निर्माण-स्तर दिखाई देते हैं। प्रसाद का काव्य अतन्द्र से सम्बन्धित है और इस अतन्द्र की समस्त मार्मिकता और गम्भीरता उनके काव्य में प्रतिफलित हो सकी है। निराला के काव्य में वस्तुमुखी और बहिर्मुख तत्त्व की प्रमुखता है। उनके काव्य में अन्तर्द्वन्द्वों में उत्पन्न भावाकुलता और भावोत्कृष्ट नहीं है उनके बदले एक महान् तटस्थता और औत्सुक्य का उत्कृष्ट उनके काव्य की विशेषता है। इसके साथ ही निराला का कलापन—रूपात्मक छवि का बनना भाषा और छंदों की योजना दार्शनिक समाहार आदि—प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध है। इन सबके बन्ने प्रसाद का काव्य में उनके अंतरंग जीवनपथ का अधिक मार्मिक और गहरा समाकलन हो पाया है। जबकि निराला का काव्य का मूल स्वर निमग्नता और तटस्थता का आधार पर निर्मित है प्रसाद का काव्य का मूल स्वर उनके व्यक्तिगत जीवन-द्वन्द्वों में समरित है। निराला का काव्य में जो बहुरूपता और विस्तार है उसका मुख्य कारण उनकी निजी अनामकता है। प्रसाद का काव्य में उत्कृष्ट की अपेक्षा अधिक भूमियाँ एक गम्भीर और अस्थायी विच्छेद भावना से उद्भूत हैं। इसलिये निराला के काव्य में शृंगार और शाठ रसा की प्रमुखता है जबकि प्रसाद के काव्य में आत्मिक मधुरता और करुण तत्त्वों की प्रमुखता है।

उपयुक्त वस्तुओं को स्पष्ट करने के लिये निराला और प्रसाद के काव्य के कुछ विवरणों में जाना आवश्यक होगा। निराला ने अपनी कविता का आरम्भ मुक्त छन्द से किया जो काव्य की क्रमागत भूमिका पर एक अभिनव प्रातिपदिका थी। निराला ने उस छन्द को जन्म दिया जिस पर आगे चलकर हिन्दी-काव्य की एक नयी सरणी ही तयार हुई। इन दृष्टि में निराला का प्रभाव अत्यधिक व्यापक कहा जा सकता है। मुक्त छन्द का आविर्भाव के पश्चात् निराला ने न केवल छन्दोत्तम प्रगीता का सृष्टि की बल्कि बहुत ही सघन हुए गीत भी लिखे जो केवल छन्दोत्तम से पाठ्य ही नहीं हैं संगीत की भूमिका पर गेय भी हैं। इतना ही नहीं उनके छन्दों में बहुत बड़ी विविधता भी है। उन्होंने अनेक नए छन्द प्रयुक्त किये हैं। छन्दों की इतनी विविधता में प्रसाद जी नहीं गये। निराला का काव्य जहाँ का कली से आरम्भ होकर 'भव अथवा की तरणी तरणा तक पहुँचा है। शृंगार से लेकर शांत रस तक उन्होंने समस्त रस भूमियों को आत्मसात् किया था। उनके आरम्भिक काव्य में शृंगार और वीर रस की भूमिका प्रचुर मात्रा में मिलती है पर विनय और प्रायना के वे गीत भी मिलते हैं जो आगे चलकर उनके आत्मनिवेदनात्मक काव्य की पीठिका बन गए हैं। इसके साथ ही उनके हास्य व्यंग्य और विनोद के अनेकानेक निष्पन्न—कुकुरमुत्ता आदि के रूपात्मक और वस्तुमूक प्रयोग—भी उनके काव्य रचना में विद्यमान हैं। ये सब निराला के भाव विस्तार के परिचायक उपकरण हैं।

दूसरे आर निराला जी ने भाषा मन्वर्धी कविता का अनेक रूपरेखाएँ प्रस्तुत की हैं। भाषा के क्षेत्र में निराला एकदम निराले हैं। उनकी भाषा प्रयोग की अवधि गति अत्यन्त खिाह नहीं देता। आरम्भ में उन्होंने सस्कृत हिन्दी मिश्रित गतिशील और परिष्कृत काव्य भाषा के उदाहरण उपस्थित किये। कहा इन परिनिष्ठित भाषा में मन्वर्त-व्यंग्यता का बाहुल्य है ता कहा हिन्दी की ठठ पन् रचना अपने विनोद चमक म ह। आगे चलकर निराला ने अपने उदात्त काव्य के लिये अधिक सस्कृत प्रचुर प्रयोग किये हैं जिन्हें हम राम का गान्धि पूजा तुलसीदास आदि में देखते हैं। उन्होंने हिन्दी आगे उन्नत के सम्मिलित प्रयोग का पद भी अपनाया यद्यपि इस दिशा में वे बहुत दूर तक आगे नहीं गये। अपना काव्य रचना के अन्तिम वर्षों में उन्होंने फिर एक नयी काव्य भाषा का प्रतिमान निर्मित किया जिसमें ठठ हिन्दी का सरलता विप्लवता और उक्ति सामर्थ्य है। इन विभिन्न भाषा प्रयोगों में निराला जी का अन्ततः अधिकार रहा है कि उनकी कविता में कौन सा अग्रजता दर्शित नहीं होनी बल्कि कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य रचना और वाक्य-योजनाओं में क्रमागत भूमिकाओं को नया विस्तार दिया है। कुछ वर्ष पहले जो निराला काव्य की विनोदता कही जाती थी आज वह उनका अन्वय माना जाता है।

काव्य-रूपों के क्षेत्र में निराला काव्य अत्यधिक समृद्ध है। उनके-से सुविद्यस्त गीत हिन्दी-काव्य में विरलता में उपलब्ध होंगे। छोटे प्रगीता में जिनमें से अनेक मुक्त छन्दों में लिखे हैं निराला का कौशल दर्शनीय हुआ है। 'सध्या-सुखी' विषयों 'मिथक' अर्थ उनका आरम्भिक प्रगीत अन्वित के उदात्त उदाहरण हैं। दीप प्रगीता

म भी निराला की अबाध गति रही है, यद्यपि इस क्षत्र म उनक कुछ प्रगीत वणनात्मक और इतिवृत्तप्रधान हा गय हैं। 'सरोज स्मृति' दीध प्रगीत का श्रेष्ठतम और सफलतम उदाहरण है। दीध प्रगीता स और भी आगे बढकर निराला जी की राम की गविन पूजा और 'तुलसीदास जैमी प्रबधमूत्रक काव्य रचनायें भी पायी जाती हैं। इन प्रबधा का बियास काव्य रूप की दष्टि स इतना सधा हुआ है कि उनम प्रगीत का समस्त अवित्रि भी उपलघ हा जाती ह। फलत समीपका ने अब भी यह निणय नहा किया कि य रचनायें प्रबध काव्य की श्रेणी म रखी जायें या गीध प्रगीत मानी जायें।

कलापक्ष की हम समझि क माय जब हम निराला क भाव-जगन म प्रवग करन हैं, ता हम प्रमन्न स्वस्य और उपात्त भावलोक क दगन होते हैं जिसम एक सामाजिक त्राति का स्वर भी मित्वा हुआ है। निराला-काव्य म यह त्राति भावना उह एक प्रगति गील कवि का महस्व भी देती है। सामाजिक भूमिका पर नारी और पुश्य की समानता का पूरा प्रत्यय उनक काय म पाया जाता है। बाह्य वपम्या क प्रति उनकी दष्टि विदाहात्मक ह। अपन इस प्रगतिशील स्वर म निराला की काव्य चतना ममसामयिक सभी कविया स प्रखर है। परन्तु अयन निराला सौम्य और मयत शृगार क नवि हैं। उनकी शृगारिक भावना म किसी प्रकारकी ब्यक्तिक कठा या खिचाव नही है। निराला के शृगारिक चित्रो म स्वस्यता का गुण सबत्र पाया जाता है। कदाचिन इस स्वस्यता क कारण ही निराला ध्यायावाशिया की ऐकानिकता की ओर नही गये। उन्होंने बीर शात और हास्य रस तक की भावभूमियो का परिदशन किया ह। जहाँ तक निराला क बीर काव्य का प्रश्न है उनकी ओजस्विता सबविदित है। इस ओजस्विता की मष्टि क लिए उन्होंने अनुरूप भाषा का निमाण किया था। निराला इस युग क प्रशस्त नार उदात्त भावना के कविया म अयतम कहे जा सकते है।

श्री जयगकर प्रसाद का काव्य एक ब्यक्तिक यत्ना के मूल स्रोत से समवित ह। इस वेदना की गहराइया के अनुरूप ही प्रसाद के काव्य का त्रम विकास देखा जा सकता है। उनकी आरम्भिक रचनाओं म इस वेदना के कुछ अस्पष्ट चित्र मितते हैं परन्तु 'आँसू म प्रसाद' ने उस ब्यक्तिक वेदना को पूरी तरह निरावृत्त कर दिया है। रूप-वणन की जा विशिष्टता प्रसाद म पाइ जाती है, अयन दुलभ है। इद्रिय सवत्नाआ की मूल भूमिका स उत्पित होकर प्रसाद का रूप-वणन रहस्यवादी ऊचाइया तक पहुँचा है। प्रम और सौन्द्य के शारीरिक उपादाना से लेकर अतिगथ आध्यात्मिक भाव-स्तर पर ल जान का थय प्रसाद को ही दिया जा सकता है। इस प्रम और सौत्य का समग्रता प्रसाद क 'कामायनी महाकाव्य म पूणत प्रतिफलित हुई है। मनु के चरित्र की समस्त उच्छ म सता, उद्रेग उसकी सारी अतप्ति और जमतोप 'कामायनी काय क आरम्भिक सगों म ष्यक्त हुई है। मनु का महस्वाकाशायें भी उसका अभावात्मक मन स्थिति का ही परि षाम हैं। दूसरी निशा म श्रद्धा या कामायनी है, जो नारी के समस्त समय और कल्याण भावना की प्रतिनिधि है। प्रसाद ने श्रद्धा और मनु नारी और पुश्य क छाया-आलोक म 'कामायनी काव्य के बहुरंगी चित्र सजित किये हैं। मनु का प्रत्यावतन और उसकी उद्वग शापि के लिए भी प्रसाद जी न श्रद्धा का ही प्रयोग किया है। 'कामायनी' काव्य क अनेक-

नक पत्र हैं नाना-यास्यायें हैं पर उसकी मूल भाव भूमिका प्रसाद जी के निजी व्यक्तित्व का ही महान प्रतिरोध है। आधुनिक युग के किसी अन्य कवि में प्रतिक्षेपण का यह अद्वितीय गति नहीं पायी जाती। लहर व प्रगीतो में प्रसाद की प्रतिक्षेपा अधिक स्वच्छ हो गयी है। प्रलय की छाया में उहाने कमला व माध्यम से ऐसे चरित्र की उन्मावना की है जो सौन्दर्य-भाव की माशात प्रतिभूति है परन्तु जावन की अनक सधिया जोर माडा को पार करती हुई एक महान पश्चात्ताप में पयवसित हुई है। प्रम और सौन्दर्य का समग्र परिकल्पना प्रसाद-काव्य की विशेषता है। प्रसाद का काव्य वाणी में जो मानव प्राप्त होता है वह आधुनिक युग के किसी अन्य कवि में नहीं।

कला की आकृतिमूलक और बहिरंग योजनाओं में प्रसाद व समक्ष ससृष्ट काव्य का अंगेय आधार और आदान रहा है। अपनी जगत्कर प्रसाद गीपक पुस्तक में मने अभिमान शानुत्तल की वस्तु-योजना से कामायना की वस्तु-योजना की समानता और अनुरूपता दर्शाने का प्रयत्न किया है। नाना ही सृष्टियाँ जाना और प्रसाद व वातावरण में आरम्भ होकर नियति व गम्भीर प्रवाह में उतरती लिखार्त दती और फिर एक अनामी प्रत्यभिज्ञा में परिचयित होकर स्वर्गीय आनन्द की भूमिका पर पहुँचती हैं। नाना कृतियाँ में यह वस्तु-योजना अती समरूप है कि इसकी आर ध्यान न जाना सम्भव ही नहीं। अलङ्कारियों की विगपतायें भी प्रसाद में ससृष्ट-काव्य की अंगेय राशि से प्रति योजित हैं। प्रसाद को जब भारतीय ससृष्टि का कवि कहा जाता है तब उसका अर्थ बस भारतीय दान में दर्शना पर्याप्त नहीं है। प्रसाद के समस्त काव्य-संजन में भारतीय काव्य परम्परा का मूल्यवान प्रत्य सनिहित है परन्तु प्रसाद ने अपनी अतिनामक प्रतिभा व द्वारा हम परम्परा का सभी लिगाओं में आग भी बढ़ाया है। प्रसाद-काव्य की चामणिसता उसकी अपना विगपता है। इसकी दीप्ति उनके काव्य का अनुदिक आलो चित्त करती है।

प्रसाद का काव्य भाषा समरूप और समरस है। उसमें निराला की भाँति प्रयाग का बाहुल्य नहीं। जहाँ बड़ा प्रसाद का उन्मात भावना की व्यञ्जना करना पडी है वहाँ उहान भाषा व बन्ना छन्द-मात्रना की सहायता ही है और वीर रम के वणन में तो व प्राय नि महाय हा गय हैं। 'परमिह का 'सस्त्र-समपण' जसा कविता में भा वीर भाव का अन्त निगदना की मनाभावना प्रमुख रूप से निर्मित हु है। हास्य री और भयानक रसा का अपभा प्रसाद का काव्य भाषा विगण गृगार और वरण रम के अधिन उपयुक्त बन सका है। प्रसाद का भाषा में ना शिक् प्रयागाक बाहुल्य का चचा हम ऊपर कर चक ह। वनाकिनबन्ना सा शिक् पनावना की यात्रना सा प्रसाद की भाषा एक अभिनय मन्मा से गमचित्त हा सका ह।

प्रसाद और निराला का तयना ? ऊपर हम इन दोनों कवियों का गिन पृथक पृथक चिन्ता का उल्लेख कर चुके हैं उनमें उनका सृष्टि और प्रवृत्ति की भिन्नता का कुछ आभास मिल गया है। हम भिन्नता व स्तन हुए तुलना व तिए अधिक अवसाग में कहाँ है ? कितन आन्धय का बाव है कि बयस्त्रि अनुभूति का प्रमुखता और प्रवतता रगनबान कवि प्रसाद ने एक महाकाव्य लिग डाना जबकि व मूनत थप्ट प्रगाता व

आचार्य द्विवेदी की आलोचना पद्धति और उपलब्धि

१

हिन्दी साहित्य के रगमच पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी न जिस समय अपनी ऐतिहासिक भूमिका लेकर प्रवेश किया उस समय साहित्य के इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में नये प्रकार की विचारधाराएँ एक-दूसरे से टक्कर ल रही थी। पहली विचारधारा का प्रतिनिधित्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कर रहे थे जो साहित्य को युग-सापेक्ष मानते हुए श्री सत्कारणत वक्ष्य नतिकता के मानदण्ड से ही सब प्रकार के साहित्य का मूल्यांकन करने में विश्वास रखते थे दूसरी ओर व नये आलोचक थे जो छायावादी काव्य धारा के मूल श्रोता में प्रेरणा ग्रहण करते तथा नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्याशास्त्र का दृष्टिकोण अपनाकर समीक्षा लिखते थे। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व आचार्य नन्दलाल वात्रपेया डा० नगेन्द्र आदि कर रहे थे। गांधी-युग से बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण करने वाले आचार्य गुप्त ने मूलतः सामन्ता आत्मवाद अथवा सुधारवादी नतिक दृष्टिकोण का ही अपनी समीक्षा और मूल्यांकन का मानदण्ड स्वीकार किया था। इस विपरीत दूसरी विचारधारा के समर्थन पर पूँजीवाद-जनित अर्थिकवादी जीवन मूल्या और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की प्रेरणा से उद्भूत सौन्दर्य भावना और जीवनादर्शों का पूरा प्रभाव था। इन दोनों ही मतवालों में यद्यपि काफी गहराई और व्यापकता थी किन्तु दोनों की एक बहुत बड़ा कमी यह थी कि उनका पास इतिहास की गतिविधि को पहचानने और साहित्य के माप उमका सम्बन्ध जोड़ने का कोई वैज्ञानिक साधन नहीं था। इस कारण दोनों ही अपने ढंग से आत्मपरक (मात्रिक) समीक्षा में लगे रहे। एक में लोक मान का भावना सिद्ध राष्ट्रियता और पुनर्दानवादी बनकर रह गई थी तो दूसरे में वैज्ञानिक सौन्दर्य चेतना ही कला कला के लिए के मिटाऊ की सीमा तक पहुँच गई थी। पन्ना मतवाले महत्तावादी दृष्टिकोण (वैज्ञानिक आउटलुक) से अनुप्राणित था तो दूसरा रोमाना और प्रभाववादी दृष्टिकोण (रोमांटिक एंड इम्प्रेसिनिस्ट आउटलुक) से। किन्तु इन दोनों में अधिक शक्ति नहीं रह सकता था। यह बड़ा काल (१९३०-४०) था जब देश में राष्ट्रीयता नवीन अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से शक्ति ग्रहण करने तथा बल और

नयी प्रेरणा लेकर नवजीवन धारण कर रही थी और पूँजीवादी तथा सामन्तवादी भ्रम का कुहरा फट रहा था। अतः उपयुक्त दोनों दृष्टिकोणों की सीमाएँ भी स्पष्ट होने लगीं। इसी समय हिंदी-साहित्य के इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में दो नये दृष्टिकोण सामने आए। पहला ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण अथवा मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण था और दूसरा था मानववादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण। पहले का प्रारम्भ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया और दूसरे का डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि ने।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने हिंदी समीक्षा को एक नयी, उदार और वैज्ञानिक दृष्टि दी है। इनके पूँव डा० पीताम्बरदत्त बड्यवाल जैसे खोजिया ने इस दिशा में कार्यारम्भ अवश्य किया था, किन्तु उनके पास वह मानववादी उदार दृष्टिकोण नहीं था जो परम्परा और शास्त्र की विवेचना और निष्कर्षों को वर्तमान जीवन में सयोजित करता और इस प्रकार आलोचक को साहित्य का ही नहीं मानव समाज का भी पथ प्रदर्शक बनाता है। द्विवेदी जी के पास वह दृष्टिकोण है जो उनके विद्यालय भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-मनन, वर्तमान विज्ञान-समाज की समस्याओं और प्रश्नों के चिन्तन-मनन तथा शान्तिनिकेतन के वातावरण और रवि वाङ्मय तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन जैसे उदार व्यक्तित्ववाले मनीषियों के सम्पर्क से निर्मित हुआ है। वस्तुतः द्विवेदी जी हिन्दी के क्षेत्र से भारतीय वाङ्मय के क्षेत्र की ओर नहीं गये हैं बल्कि भारतीय वाङ्मय के भीतर से गुजरते हुए हिन्दी के क्षेत्र में आ पहुँचे हैं और उसमें अपने विद्यालय-पान की सुविधाओं के साथ उन्होंने अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है। यही कारण है कि पूर्ववर्ती आलोचकों से उनकी दृष्टि भिन्न है। द्विवेदी जी ने उस ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय समीक्षा पद्धति की नींव डाली है जो साहित्य को अपने आप में स्वतंत्र मानकर नहीं चलती बल्कि उसे संस्कृति की जीवन धारा में एक महत्त्वपूर्ण अंग मानती है। संस्कृति को वे शाश्वत या एकदेशीय वस्तु नहीं मानते उनके अनुसार वह प्रगतिशील परिवर्तनशील और परम्परा-निरन्तर से मुक्त है। इस तरह अनिर्वायत साहित्य भी संस्कृति का अंग होने के कारण परिवर्तनशील किन्तु प्रगतिशील है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निम्न है। वह सम्यक्ता और संस्कृति के धरा मोहा को रीझती चली आ रही है। देव और जाति की विपुल संस्कृति केवल बात की बात है। सुद्ध है केवल मनुष्य की दुःख-त्रिज्जीविता। यह गया की अबाधित अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हड़म करने के बाद भी पवित्र है।'

२

इस तरह तरहालीन सामाजिक परिस्थिति में सांस्कृतिक गतिविधि लोक-जीवन राजनीतिक हलचल आदि के बीच रचकर ही साहित्य का परीक्षण करना साहित्य-समीक्षा की समाजशास्त्रीय पद्धति है। कहना नहीं होगा कि हिन्दी समीक्षा के

संस्कृति से प्रभावित था और दूसरा विज्ञान-वृत्तन-समाज समग्र संस्कृति की परम्पराओं में आबद्ध था। अतः अपभ्रंश के सिद्ध कविया, जन कविया और बाद के सतों ने जिस घम विश्वास की अभिव्यक्ति की है वही तत्कालीन लोक घम और लोक विश्वासों का सच्चा रूप है। इस दृष्टि से तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप और उन काल की सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों का पता लगाने के लिए निगुण धारा के कवियों पर विगुण रूप से विचार होना चाहिए था। यह काम द्विवेदी जी ने अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। जिस कविता को गुकनजी ने जन घम के उपलक्षणवियक या 'लोक-घम विरोध' या साम्प्रदायिक' और गुकनजी ने कहा है उसी के सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं 'उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक ता हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाम रखने का पूरा प्रयास है। घम वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखलाई पढ़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी कभी गुकन जी के मत को भी इस सम्बन्ध में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं माननी देना। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेग होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरित मानस भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का पद्मावत भा साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।^१ सच बात तो यह है अगर केवल गुकन जी के रसवाद की दृष्टि से ही साहित्य को देखा जायगा तो साहित्य की सीमा बहुत सकीण हो जायेगी।

द्विवेदी जी की जीवन-दृष्टि उनक समीक्षा-साहित्य में प्रयत्न या परोक्ष रूप में सदा अभिव्यक्त हुई है। वे साहित्य का सामान्य जनता के जीवन से विच्छिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानते। मनुष्य को जीवन के कर्तव्य में प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने समूचे साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है। यह मनुष्य समग्र और मुक्त एक इकाई के रूप में, ह विभिन्न वर्णों वर्गों धर्मो-सम्प्रदाया, जातियों राष्ट्रों आदि की सीमाश्रम में बटा और बंधा मनुष्य नहीं। उन्होंने प्रमाणा और उदाहरणों द्वारा बराबर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न जातिया और देश के बीच आदिकाल से सांस्कृतिक सत्त्वों का आदान प्रदान होता आया है क्यात्रि सत्य एकदेशीय या एकजातीय नहीं होता। साहित्य और कला भी ऐसी ही सत्य हैं जिनके सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं 'मनुष्य के सभी विराट प्रयत्न के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं परन्तु जब वे उस सम्प्रदाय-प्रयोजन की धामा का अतिक्रमण कर जाते हैं तो तबसे मनुष्य की विराट एकता और अपार श्रद्धाविषया का ऐश्वर्य प्रकट होता है। फिर वह किसी समूह में आबद्ध न होकर मनुष्यमात्र की सम्पत्ति हो जाता है।^२ इस कथन से यह स्पष्ट है कि वे मानवमात्र की एकता में विश्वास करते हैं और पाश्चात्य संस्कृति तथा धीर्वाच्य या भारतीय संस्कृति के भेद का त्रिभुज मानते हैं। कुछ प्रतिनियमावादी आलोचक सकीर्ण

१ द्विवेदी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ११

२ साहित्य का मम, पृष्ठ ३६

आदि पशु-साम्राज्य घरायल से जा ऊपर की चीज है जा समय से तप से योग्य से और त्याग से प्राप्त होती है वह मनुष्य की अपना विपत्ता है यही मनुष्य का मनुष्यता है। फिर मनुष्य प्रकृति के नियमों का विदलन करता है और इस प्रकार उनका उपयोग करता है कि जिससे वह नयी सृष्टि कर सके। विवेक कल्पना योग्य और समय मनुष्यता है और इससे विच्छेद जानवाल प्रजाभाव मनुष्यता नहीं है।^१

मनुष्यमात्र की महत्त्व भावना और जीवन के प्रति सुप्रतिष्ठित दृष्टि में द्विवेदी जी का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार का लक्ष्य मनुष्य का हित-साधन करना है और उस कला कला के लिए वे निरुद्ध और कल्पनामय सिद्धान्त से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। स्पष्ट है यह दृष्टिकोण उत्तर और सहिष्णुतापूर्ण हाथ हुए भी सर्वोपयोगी नहीं है। द्विवेदी जी का सामाजिक चेतना विद्रोह पर आधारित है। पर यह विद्रोह मानवमात्र का उससे अलग प्रयत्नों के रूप में सहज विद्रोह है, जिसका विधाता स्वयं 'इतिहास-शैवना' है। अतः द्विवेदी जी ने राजनैतिक नही बल्कि सामाजिक क्रान्ति की इतिहास-सम्मत विचारधारा को विचार रूप में वाणी दी है। यह क्रान्ति मनुष्य अपने परिवेश के अनुरूप विभिन्न प्रकार से करता आ रहा है भक्ति और सन्त-साहित्य उसी क्रान्ति का वाणी हैं। रसाद्र और छायावादी चित्रण के साहित्य में भी उसी विद्रोह का स्वर फूटा है और द्विवेदी जी ने उन स्वरों को सुनकर युग की आवश्यकता के अनुरूप उनका मूल्यांकन किया है। किन्तु, वे अथ क्रान्ति की बात नहीं करते वे सहज क्रान्ति चाहते हैं। क्रान्ति का अर्थ अतीत की परम्परा से वर्तमान को ताड़ना नहीं मानते और न यही मानते हैं कि राणा और जानियों की अपना विपत्ताएँ कभी नष्ट हो जायेंगी और सब एक साथ मर जायेंगे यह तो आत्मशुद्धि या कापनिक क्रान्ति है। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है मरी अल्प बुद्धि मता यही मूर्खता है कि समाज के नाना स्तरों के लिए अलग अलग टग की माया होगी। ताना उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नाना भावों के प्रयत्न करने हगि। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामनास्य एक ही बात से होगा, मनुष्य का हित हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एकमात्र बही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर मनस्य के आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है, यही सत्य है यही धर्म है सत्य वह नही जो मुख से बाहर है सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिए किया जाता है।^२ इस प्रकार द्विवेदी जी का विचारधारा क्रान्तिकारी हाथ हुए भा उत्तर, सहिष्णु और सामाज्यपूर्ण है। वे मनुष्य के चरम हित का कामना करत हुए भा सत्य मनुष्य रूप में ही देखना चाहते हैं अनिमानव या दसता के रूप में नहीं। इसलिए उन्होंने विनाश के बन्धन हुए कुप्रभावों मुद्धा और राजनीतिक हठवादिता का भी जगह जगह विरोध किया है।

पहले कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी का दृष्टिकोण ऐतिहासिक वनैतिक और समाजशास्त्रीय है। उनकी इतिहास सम्बन्धी मान्यता साहित्य के पूर्ववर्ती इतिहासकारों के अपेक्षा इतिहासशास्त्र के अध्यापकों की मान्यता से बिल्कुल भिन्न है। इतिहास का क

१ साहित्य का मर्म पृष्ठ १८

२ अगोत्र के पूर साहित्यकारों का दायित्व ।

गन्त मुर्दा या विगत तथ्या का "योर नहा मानने बल्कि उसे एक जीवित गति मानने है जिसे वे इतिहासविधाना या इतिहासमन्वेना कहते हैं। अन उनक अनुमार मनुष्य ही इतिहास को नहीं बनाता बल्कि इतिहास भी मनुष्य को बनाना है। इस प्रकार इतिहास सामाजिक जीवनधारा का प्रवाह है जो एक-दूसरे पर अपने परिवर्तन ससधप करके आगे बढ़ता है और दूसरी ओर यकिन को समष्टि में डुबाना रहता है। दूसरे गन्त में इतिहास केवल यकिन या मनुष्य का नहीं बल्कि समाज और उसके परिवर्तन का होता है अथवा युगविशेष के मानव-समाज और उसके परिवर्तन के सधप का नाम है। इतिहास है अर्थात् मानव प्रयत्ना और परिवर्तन की प्रतिक्रियाओं की अटूट परम्परा ही इतिहास है। यह एक अखण्ड धारा के समान है जिसके प्रवाह में कालान्तर में सस्कृतिया के अनावश्यक मृत तत्व नष्ट होत रहते हैं और आवश्यक उपयोगी जीवन-तत्व प्रवाहित होते रहते हैं। इस प्रकार इतिहास न शिवेदी जी को सास्कृतिक नरन्तय का वह अमोघ अस्त्र प्रदान किया है जिसके कारण आन्कालीन और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में उनका प्रवेश सहज और सुकर हो सका है। साहित्य के इतिहास में सम्बन्ध में उन्की धारणा है कि वह प्रायः और प्रथकादा में उन्भव और विलय की कहानी है। वह कान श्रोत में वह आते हुए जीवन्त समाज की विकास कथा है। प्रथकार और प्रथ उन प्राण धारा की ओर मिय श्गारा हा करते हैं। श्वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राण धारा जो नाना परिस्थितिया में गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपन जापका प्रकाशित कर रही है। साहित्य के इतिहास में हम अपन आपकी ही पड़ने का मून पाते हैं।^१ समष्टि से शिवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण का काय सफनापूर्वक किया है। सुवल जी के इतिहास की सामाजिक उत्पन्न ऊपर किया जा चका है। शिवेदी जी ने सुवल जी द्वारा उपभित युग और कविया के सम्बन्ध में जा काय किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी साहित्य का भूमिका कबार हिन्दी-साहित्य का जादिकान नाय-सम्प्रदाय मध्यकालीन धम-साधना और मूर-साहित्य द्वारा उहाने अपना इतिहास सम्बन्धी मायता को रूप प्रदान किया है। हिन्दी-साहित्य के आन्कान अर्थात् अपभ्रंश और वीरगाया कान की सुवन जा न अपन इतिहास में जा उगना की थी उनके सम्बन्ध में शिवेदी जी ने लिखा है। खद की बात है उस दृष्टि की प्रतिष्ठा जा सुवल घटनाओं और कविया को ही इतिहास समझती है। उकी का यह परिणाम हुआ है कि श्श का अय महत्त्वपूर्ण परिस्थितिया उपक्षित रह गई है। यदि इतिहास का अय मनुष्य जीवन के अखण्ड प्रवाह का अध्ययन है तो हिन्दी साहित्य के आन्कान का इतिहास एकत्र उपक्षणीय नहीं है पर दुर्भाग्यवश व सचमुच ही उपेक्षित रह गया है।^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास के प्रति शिवेदी जी का दृष्टिकोण जात्मगत नहीं बस्तुगत है। इतिहास और समाजशास्त्र की यकी वैज्ञानिक दृष्टि है। शिवेदी जी ने अपन समूच साहित्य में इसका पूर्ण उपयोग किया है।

१ कल्पलता पृष्ठ १७५

२ कल्पलता पृष्ठ १६४

द्विवेदी जी का आत्मचरित-मदनि साहित्य माटे तीर पर दो भाग में बाँटा जा सकता है—१ इतिहास सम्बन्धी २ समीक्षा सम्बन्धी। साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में उनकी जो दृष्टि है, उसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। उस दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-साहित्य के आदि और मध्यकाल का मूल्यांकन और पुनर्विवेचन किया है। इन कालों में उन्होंने एसी अनेक विचारधाराओं और कवियों का विगणनाओं का उद्घाटन किया है जो या तो हाल के शोधों का परिणाम हैं या जिनका परम्परा के मूल स्रोतों का बहिष्कार साहित्य से लेकर अपभ्रंश-साहित्य तक का आलोचन करके लेकर न मध्य पता लगाया है और इस तरह हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए विपुल सामग्री प्रस्तुत की है। हिन्दी साहित्य का आत्तिकाल और हिन्दी-साहित्य का भूमिका उनका साहित्य के इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ है। इनमें उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विगणन विवेचन किया है, जिनमें उस काल का अपभ्रंश और पुराना हिन्दी का साहित्य विकसित हुआ था। हिन्दी के भक्ति-साहित्य के सम्बन्ध में उनका मत है कि वह एक हृत्पराजित हिन्दू जाति का सम्पत्ति नहीं है और न एक निरन्तर पनपने वाला जाति की चिन्ताओं का मूल प्रतीक है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं कि 'अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बरह आना वसा ही होता जसा आज है। अपने मत की पुष्टि के लिए द्विवेदी जी ने इसी की पहली शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक की सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है और यह सिद्ध किया है कि सन ई० के हजार वर्ष बाद यहाँ के सभी सम्प्रदाय शास्त्र और मत धार धीरे धीरे लोप में धूल मिलकर लुप्त हो गए जिसकी स्वाभाविक परिस्थिति का मूल प्रतीक हिन्दी साहित्य है। इस प्रकार द्विवेदी जी हिन्दी के आत्तिकाल और भक्ति-काल के साहित्य का भूमिकालीन आक्रमण की प्रतिष्ठित नहीं मानते और न वेमता आचार्यों सम्प्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओं के मानदण्ड से साक चिन्ता की माप ही करना चाहते हैं। इसके विपरीत वे लोक चिन्ता की अपेक्षा में उह दखने का सिफारिश करते हैं और इन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय पाठ्य इसका एक सहस्राब्दी बाद आचार्य विचार और भाषा के क्षेत्र में स्वभावतः ही लोक का और झुक गया था। यदि अगला शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना—अज्ञान इस्लाम का प्रभुत्व विस्तार—न भी घटा होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उस इसी स्वाभाविक विकास की ओर टेंडेंस जा रही थी उसका वक्तव्य विषय कथमपि विद्वानों ने था। इस प्रकार द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को भारतीय साहित्य परम्परा का स्वाभाविक विकास और लोक चिन्ता का प्रतीक माना है। यह मत पूर्ववर्ती इतिहासकारों के मत से सबकुछ भिन्न है।

इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी साहित्य के ज्योत्सना के लिए उन तमाम स्रोतों का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है जिनके द्वारा पिछले हजार वर्षों में हिन्दी भाषा

भाषी जनता की चेतना का निर्माण और विकास हुआ। त्रिवेदी जी ने अपने विंगल अध्ययन के द्वारा यह काम आसान कर लिया है। उन्होंने भारतीय समाज में विभिन्न कालों में आकर घुल मिल जानेवाली विभिन्न जातियाँ और उनके धर्म साहित्य रीति नीति आदि का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है और इस तरह तत्सम्बन्धी पूर्वप्रचलित अनेक भ्रमा का निवारण किया है। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों धर्मों और शास्त्रों के ऐसे तत्त्वों का भी विश्लेषण किया है जिनकी अमिट छाप लोक-चेतना के माध्यम से हिंदी साहित्य पर पड़ी है। उनकी कवीर नाथ-सम्प्रदाय मध्यकालीन धर्म-साधना और प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद नामक पुस्तका में इस प्रकार के शोध और अध्ययन सम्बन्धी अनेक काया की विवृति दिखलाई पत्ती है। इतिहास सम्बन्धों उनका यह काय उनकी इस प्रस्तावना के बिलकुल अनुरूप है। 'भिरा अनुमान है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के पहले निम्नलिखित साहित्यों की जांच कर लेना बड़ा उपयोगी होगा जिनकी अच्छी जानकारी के बिना हम न तो भक्तिकाल के साहित्य को समझ सकेंगे और न बीरगाथा या रीतिकाल को—१ जन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य २ काश्मीर के गवा और दक्षिण तथा पूर्व के तांत्रिका का साहित्य ३ उत्तर और उत्तर-पश्चिम के भाषों का साहित्य ४ बण्णव आगम ५ पुराण ६ निबन्ध ग्रन्थ ७ पूर्व के प्रच्छन्न बौद्ध बण्णवा का साहित्य ८ विविध तांत्रिक कथाओं का साहित्य।' कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी लिगाओं में त्रिवेदी जी की गति है जिसका प्रमाण उनका समूचा साहित्य है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि त्रिवेदी जी का चिन्ताधारा और साधने विचारने की शाली पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहासकारों और समीक्षकों से बिलकुल भिन्न है। उनका इतिहासकार और समीक्षक रूप परस्पर स्तना घुल मिल गया है कि दोनों को अलग अलग करने देखना असम्भव जसा है। वस्तुतः के प्राच्य विद्याविहारद पाश्चात्य विगाना—मक्समूलर वेबर मेक्डानल्ड कीथ पिगेल विण्टरनिस्स लूम फील्ड आदि—का दिगा में काम करनेवाले हिंदी के प्रथम विगान हैं उनकी पनी दृष्टि त्रितनी शोध काय में रमता है उतनी अमूल समीक्षा के क्षत्र में नहीं। साहित्य का मम और साहित्य का साधो में उनका विगुद्ध आलोचनात्मक विचार अभिव्यक्त हुए हैं जिन्हें देखकर निस्सकोच कहा जा सकता है कि त्रिवेदी जी की तात्त्विक आलोचना की दृष्टि उनके इतिहासकार की दृष्टि से कम सूक्ष्म और तल प्रवर्गिनी नहीं है हाँ इस दिशा में अधिक काय करने का अवकाश उन्हें नहीं मिल सका है क्योंकि उनका सारी शक्ति हिन्दी साहित्य के इतिहास के उपेक्षित अंग के उदघाटन की ओर ही लगी रही है। फिर भी अपने इतिहास-ग्रन्था और पुस्तक निबन्धा में उन्होंने आलोचना की लिगा में भी नय ढंग से विचार किया है। हिन्दी के काय रूपा के विकास की ओर और किसी आलाचन के ध्यान नहीं लिया था। हिन्दी-साहित्य का आदिकाल में उन्होंने हिन्दी-वाक्य रूपा का सूत्र प्राकृत और अपभ्रंश के काय रूपा में खोजा है साथ ही विभिन्न प्रान्ता के

साहित्य का हिन्दी-साहित्य के साथ सम्बन्ध जोड़कर काव्य रूपा का तुलनात्मक अध्ययन किया है। काव्य रूपा और कथानक रूपा या अभिप्राय का सम्बन्ध में उद्धान जा विचार किया है उससे हिन्दी काव्य रूपा के अध्ययन के क्षेत्र में एक नयी दिशा ही खुल गई है। लोक-कथाओं, प्राचीन निजघरी कथाओं और लोक गीतों के मूल में रखकर हिन्दी-साहित्य को देखने की यह दृष्टिकोण नयी किन्तु अत्यधिक सम्भावनाओं से भरी गिनी है। ऐतिहासिक शक्ति का नाम पर काव्य रचना करने की प्रथा के सम्बन्ध में भी उन्होंने हिन्दी-साहित्य का आदिकाल में नये ढंग से विचार किया है जिससे पश्चात् राज रासो की ऐतिहासिकता के उल्लेख भरे प्रश्न का बहुत कुछ समाधान हो जाता है। आदि और मध्यकालीन हिन्दी-कविता में प्रयुक्त छंदा और उनकी परम्परा के सम्बन्ध में भी इस ग्रन्थ में विगद विवचन किया गया है।

४

पहन कहा जा चुका है कि त्रिवेणी जी की विचारधारा आत्मगत और पूर्वाग्रह युक्त नहीं है। उन्होंने जो कुछ लिखा है ऐतिहासिक और बर्णनात्मक आधार पर उसे प्रमाणा और उदाहरणों से पुष्ट किया है। अतः उनका आलोचना में उनका मन्तव्य दृष्टिकोण सब प्रमाणों से पटता है। इस सम्बन्ध में उनका मत है कि सन्तुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्य मार्ग खोजती फिरता है बल्कि वह है जो अनिर्वादिता की आवश्यकता के विचारधारा का गिकार नही हा जाती और किसी पक्ष के उस मूल मूल्य का पक्का सकती है जिस पर बहुत बने देने और श्रयणों की उपस्था करने के कारण अकान्तिवादि दृष्टि का प्रभाव पडा है। उनके विचार सन्तुलित दृष्टि सत्यापना दृष्टि है जो एक ओर सत्य का समग्र मति को दग्धन का प्रयास करता है तो वहीं दूसरी ओर वह मनुष्य को सुधारने और शुद्ध करते रहने का प्रस्तुत रहती है, वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की ओर सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने को दृष्टि है। वहन की आवश्यकता नही कि त्रिवेणी जी की यह सन्तुलित विचारधारा का सच्चे अर्थों में बर्णनात्मक समाजशास्त्रीय विचारधारा है और यही हिन्दी-साहित्य को उनका सबसे बड़ा दान है। बर्णनात्मक समाजशास्त्रीय दृष्टि का अर्थ कुछ लागू यह लगाने हैं कि वह माक्सवादी सिद्धांत के सांचे में ढली हा उमंग भी आगे जाकर बुद्ध लागू कम्युनिस्ट पार्टी के अनिश्चित रात्रनीति सिद्धांतों और कायप्रमा के अनुसार साहित्य की रचना और व्याख्या करने का ही बर्णनात्मक समाजशास्त्रीय आलोचना कहते हैं। इस ही लोग त्रिवेणी जी का कभी पुनरावलोकन और कभी आलोचनावाद (रिगिनिस्ट) तक बढ़ते हैं। इस सबीण मतवादी आलोचक यह भूल जान हैं कि पुनरावलोकन और आलोचनावाद का जितना विरोध त्रिवेणी जी के साहित्य में मितता है उतना अथवा एकसाध गायद ही मित। स्वयं इस लागू की समीक्षात्मक सम्बन्ध में त्रिवेणी जी का कहना है कि प्रगतिशीलता का म दायका न उधक हैं। एक तो वे जा कम्युनिस्ट पार्टी में सम्बन्धित हैं और पार्टी की निर्धारित नाति और अगुनि निर्देश पर साहित्य लिखते हैं दूसरे वे जो पार्टी में सम्बन्धित नहीं हैं परन्तु

(माक्सवादी) विचारा को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं कम्युनिस्ट पार्टी स जिन साहित्यकारों का सम्बन्ध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन के माग म जाना हितकर नहीं हो सकता भविष्य में या तो पार्टी को अपना अङ्ग उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा।^१ निस्सन्देह ये पवित्रयाँ पूर्वाग्रही और उग्र हठवादी आलोचना की सकीण राजनीतिक विचारधारा से क्षुब्ध होकर लिखी गई हैं जिसके कारण हिन्दी आलोचना का अपने स्वाभाविक माग पर विकास नहीं हो रहा है और जिसमें पिछले प्रचार और माक्सवाद की मनमानी व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। हिन्दी जी ने आलोचना के जिस विद्वत्तापूर्ण किन्तु सहज वैज्ञानिक तथा तत्स्य किन्तु सोद्देश्य माग की ओर अगुलि निर्देश किया है वह सबथा नवीन होत हुए भा कठिन है उन पर चलने के लिए पाण्डित्य और शक्ति की आवश्यकता है। उस पार करना किसी एक व्यक्ति के बूते का भी काम नहीं है। अनेकानेक खोजिया के सम्मिलित प्रयत्न उनकी शक्ति योग्यता और ईमानदारी पर निर्भरती जी द्वारा निरिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति निभर करती है।



आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

१

साहित्य में व्यक्ति और समष्टि

जब हम साहित्य में व्यक्ति और समूह के प्रश्न पर विचार करने के लिए प्रयत्नशील हैं तो कुछ ऐसी भाषा या अपन आप या उपस्थित होगी जो नित्यव्यवहार भाषा से कुछ भिन्न श्रेणी की होगी। वस्तुतः ज्ञान दोमुहा पदार्थ है। उसके एक ओर सत्य है, दूसरी ओर सत्य। सभी सत्य सत्य नही होते। ऐसा कह सकने हैं कि सत्या के भीतर सत्य शीतप्रोन होकर बनमान रहता है।^१ प्रत्येक व्यक्ति अपनी जानद्विषा के सहारे कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है और कुछ बातों की उपलब्धियों के महारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियाँ और स्मृतियाँ के ज्ञान-ज्ञान से व्यक्ति की दुनिया बनती है। परन्तु यह दुनिया बदलती रहती है। व्यक्ति के सत्य-जगत् निरन्तर दूसरे लोगों के उपलब्ध सत्य जगत् से टकराते हैं और सामान्य सत्व छोट छटकर हमारी जान राशि के रूप में परिणत होत रहते हैं। इस प्रकार नित्य हमारे व्यक्ति के उपलब्ध ज्ञान में परिवर्तन और परिवर्धन होत रहत हैं। इसमें दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि व्यक्ति के अन्तःकरण से गहीत सत्यात्मक जान राशि सम्पूर्ण रूप से व्यक्ति के नहीं होती। वह दूसरे की उपलब्धि और स्मृति से बनी सत्यात्मक जान राशि से टकरा टकराकर बना हुआ एक ऐसा पदार्थ है जिसमें हम अन्तर्व्यक्ति के सत्य-जगत् कह सकते हैं। यह काम चलाऊ नाम है। आगे हम इसका ठीक ठीक नामकरण करने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु हमने इस कामचलाऊ नाम को इसलिए स्वीकार कर लिया है कि अधिक परिचित नाम से विद्वान् हमारा चित्त मूल विचारधारा से विद्वान् न जाये। दूसरी बात यह मान्य होती

१ शास्त्र में कहा है कि सत्य का मह हिरण्यमय पात्र से—सोने के ढक्कन से—ढका हुआ है (हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्)। सोने के ढक्कन का हडबडा कर नहीं खोलना चाहिए। उसे सावधानी से, इतमीनान के साथ संभालकर खालना चाहिए। एकाएक अनायत्त सत्य का तेज असाह्य होता है। गोता के अजुन उसे नहीं सह सकते थे, 'रामचरितमानस' की जगदम्बिका सती भवानी भी उससे अभिभूत हो गई थीं।

है कि यह अन्तर्व्यक्तिक तथा जगत्-निरन्तर परिवर्धमान और परिवर्धनमान पदार्थ है—वह गतिशील है। वह नाना व्यक्तिक तत्त्व-जगत्ता के सघन से स्थिराङ्कन सामान्य जगत्ता है। हमारी जान रागि अधिकांश म व्यक्तिक न होकर अन्तर्व्यक्तिक है।

हमारी भाषा इन सामान्य तत्त्वात्मक अनुभूतियों को एक व्यक्ति के चित्त से दूसरे के चित्त तक ढोने का साधन भी है और दीर्घकाल से अनन्त अन्तर्व्यक्तिक तत्त्व-जगत्ता के सघन से विकसित होनेवाली और सचित हाती रहनेवाला जान रागि का वाहन है। यह भी गतिशील है। भाषा हमारी सामान्य अन्तर्व्यक्तिक उपलब्धियों के साम्प्रदाय और प्रसार का पता बतानी है। जिस जाति का जितना ही अधिक विकास हुआ रहता है वह उतने ही अधिक सूक्ष्म विचारों का प्रकट कर सकती है। अधविश्वास में निमग्न जाति की भाषा में बर्णनात्मक तत्त्वों का प्रकट करने की शक्ति नहीं होती और यह जानी हुई बात है कि बार्णिक तत्त्वों का प्रकट न कर सकनेवाली भाषा के बोलनेवालों का विकास अपेक्षाकृत कम हुआ रहता है। जहाँ विद्यालयों, सभामंचा और मुद्रण यंत्रों का ब्यापन की तत्त्वात्मक अनुभूतियों की तरफ से दूसरों की विद्यालय ज्ञान रागि से सत्ता टक्कर खानी रहनी है वहाँ विचार का स्रोत प्रबल वेग से बहता रहता है। जहाँ यह बात नहीं है वहाँ के लोग स्तब्धवर्तिक और आदिम भाषाएँ बने रहते हैं। निरन्तर परिवर्धनशील और परिवर्धमान इन उपलब्धियों के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से साहित्य कहते हैं। विशेष रूप में साहित्य उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं जो हमारी सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करती रहती है और भाव के आवेग से बगवती होकर सामान्य मनुष्य के मुख दुख की विशेष मनुष्य—शोका या पाठक—के चित्त में संचारित कर देती है। भाषा साहित्य का वाहन है।

भाषा सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक

आदिम मनुष्य के अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्ध बहुत सहज थे परन्तु धीरे धीरे इन सम्बन्धों ने नवीन भावनाओं को उत्पन्न किया है जो आगे चलकर नवीन सम्बन्धों का कारण बनी हैं। नतीजा यह हुआ है कि मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था नित्य जटिलतर बननी जा रही है। मनुष्य का जीवन स्टेज पर उगाया जानेवाला हिस्सा नहीं है कि गलती हुई तो उस मिटाकर फिर से ठीक ठीक हिस्सा उगा लिया गया। यहाँ तो जो गलती एक बार हुई वह निश्चित रूप से जीवन का मोड़ने की क्रिया में अपना प्रभाव छोड़ जाता है। नाना प्रकार की गलतियों कायवाहियों ने मनुष्य जीवन का अनन्त-साधारण बनाया है उसमें की उन्नतियों में सत्ता प्रत्येक न सुलभने के मजाम नयी उलभना को पत्ता किया है। जीवन की जटिलतर प्रवृत्तियों को समझना आसान काम नहीं रह गया है। यद्यपि समाज व्यवस्था बहुत जटिल हो गई है तथापि अद्भुत विरोधाभास यह है कि उनका प्रतीकरूप में उपस्थित करनेवाली बातें हमारे लिए अत्यन्त सहज हो गई हैं। हम उन जटिल रूपों को एकत्र भूत हुए हैं। रूप का नोट हमारे सामाजिक जटिल सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे धर्म और सत्तजन्य उत्पादन और उनके विनष्टों की व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई है। उसी को प्रतीकरूप में यह रूपों का नोट

उपस्थित करता है। प्रत्येक प्रकार के श्रम के लिए प्रत्येक प्रकार के उत्पादन का यदि श्रम विनिमय का साधन माना जाता, तो हम इस अवस्था तक आये ही न होते। सम्पत्ता की यह धारणा सबारी निकल ही न पाती। सौ रुपय का यह कागजी नाट हमारा उलझे हुए सामाजिक व्यवस्था को प्रतीकरूप में उपस्थित करता है। अतिपरिव्ययवग उससे इस रूप की हम उपस्था करते हैं। जिस प्रकार बाजार में हमारा श्रम और उत्पादन के जटिल सम्बन्ध का रुपय का नोट प्रतीकरूप में सामने ला देता है ठाक उसी प्रकार शब्द हमारा सामाजिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का प्रतिनिधि होता है और इन विंगों अर्थों के लिए विंगों का चुनना हमारी उस अन्तर्व्यक्ति के सामान्य सत्ता के प्रति निष्ठा का सूचक है जिसके बिना व्यक्ति या समाज का विकास सम्भव ही न होता। इस प्रकार शब्द हमारा अन्तर्व्यक्ति के सम्बन्ध का प्रतीक है। इस सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट भाषा में सामाजिक कह सकते हैं। व इस उद्देश्य में बनाये गए हैं कि एक व्यक्ति की भावना दूसरे के चित्त में आसानी से उतार दी जा सके। व्यक्ति यदि अपने आप में ही परिपूर्ण होता तो शब्द द्वारा अर्थ को प्रकट करनेवाला भाषा की आवश्यकता नहीं होती। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। जो वन में मभाधि लगाया करता है, उसे शब्द की जरूरत नहीं होता। यात्री भी जब भाषा का प्रयोग करता है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि दूसरे के चित्त में कुछ भावनाओं का उतार सके फिर वे भावनाएँ समाधिकालीन एकांत में अनुभव की ही क्या न हों। शब्द द्वारा अर्थ का भाषा मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध का प्रतीक है।

प्रतिभा का प्रादुर्भाव

व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति या उपलब्ध तथ्यों से अपने ज्ञान भण्डार का बंधन है तो धारे धार उनमें अधिकाधिक उपनधि की योग्यता भी बढ़ती रहता है। यह क्रिया बश-परम्परा में भी चलती रहती है। कुछ व्यक्ति कुछ खास बातों को अधिक उपलब्ध कर लेते हैं कुछ उपलब्ध ज्ञान को दूसरे के चित्त में ज्यादा आसानी से उतार सकते हैं। इस प्रकार उस वस्तु का प्रादुर्भाव होता है जिसमें हम प्रतिभा कहते हैं। यह सम्पूर्ण रूप से व्यक्तिगत नहीं है। भूत प्रत और ग्रह नक्षत्रों के अर्थ-संस्कार में पनी जाति में आइन्स्टाइन नहीं पदा हो सका वय कोल विराता के समाज में बालिगल नहीं उपन हो सकते। समाज की सामूहिक पहचान को ही व्यक्तिगत की प्रतिभा सूचित करती है। यह निश्चित समझिए कि इस स्थूल जगत् का छोड़कर मनुष्य रह रहा सकता और, वह काय लिख या नाटक अपने इंगित के वातावरण से अस्पष्ट नहीं रह सकता। प्रतिभावान् कवि अपने इंगित के जगत् में ही अपने काव्य का महाला मग्रह करता है।

शब्द और अर्थ

यत् तो निश्चित बात है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य नहीं रह सकता और न अपने दान और काल का सामान्य में अस्पष्ट रहकर ही कोई नित्य-सृष्टि कर सकता है। साहित्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न शब्दों के रूप में नहीं रह सकता क्योंकि शब्द और अर्थ

ही उसके शरीर हैं और अथ शक्ति द्वारा सूचित वाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त के उचित अथ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराकर ही शक्ति साधक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आन्दोलित शक्तिय अपने सीमित अथ से अधिक को प्रकाशित करता है। शक्ति के अभिप्रेत अथ से वहीं अधिक को प्रकाशित करनेवाली शक्ति को प्राचीनाना नानाना नाम देकर स्पष्ट करना चाहिए। सबसे अधिक प्रचलित और माय शक्ति व्यञ्जना है। अनुरणन के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजन्म कम्पन की ओर इशारा किया गया है। छन्द उस भावेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और सम्मूहन तो हो सकते हैं पर भावेग का कम्पन नहीं होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जानेवाली भाषा में भी एक प्रकार का छन्द है एक प्रकार की वक्र कम्पनगील नृत्य भंगिमा है। वे कहानी की इस सीधी बात को कि 'एक था राजा' इतने सरल ढंग से नहीं कहेंगे। कहेंगे— घनदप-बन्दप-सौदय-सौदय हृद्यनिरवयवरूपो भूपो बभूव। यह भाषा ही छन्दोमयी है। इसमें छन्द है मकार है लोच है वक्रता है जो अथ में भावेग भरने का प्रयत्न करते हैं। उपयाम में ये भावेग कम होने हैं क्योंकि उसकी भाषा में गद्यात्मकता होती है परन्तु जहाँ कहीं भी उसमें भावेग का कम्पन आता है वही प्रच्छन्न छन्द भी रहता है। उसका यह मतलब नहीं कि भावेग-कम्पित भाषा न होने का कारण उपयाम कम महत्त्वपूर्ण साहित्याग है। उपयाम भी साहित्य के मुख्य उद्देश्य का उसी प्रकार पूरक है जिस प्रकार काव्य। अनुप्रास भावावेग के वेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है। जब एक ही ध्वनि बार बार दुहराई जाती है तो श्रोता भावेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित हो जाता है। यदि काव्य में से अथ प्रकाशक शब्द हटा दिए जाए तो वह ध्वनि प्रवाह सगीत बन जायेगा।

वस्तुतः अथहीन छन्द प्रवाह सगीत ही है। सगीत में वाह्य जगत् की उस सत्ता से जो शक्ति द्वारा प्रकाशित होती है कम से कम योग होता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में उस आंतर सत्ता से जो भावेग कम्पित स्वर से प्रकाशित होती है कम से कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर सगीत है दूसरे पर गणित। सगीत में जिसे स्वर कहते हैं वह एक प्रकार का वेग ही है। वाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह भावेग के रूप में प्रकट होता है। परन्तु काव्य जिस प्रकार शक्ति प्रकाश्य अथ के शरीर वाह्य विषय सत्ता से बंधा रहता है उस प्रकार सगीत नहीं बंधा रहता। वह अपने आप ही स्पन्दित होता है। तान उसमें उसी प्रकार की अनुभूति-क्षमता भरता है जिस प्रकार छन्द आवग में। काव्य शरीर और सगीत द्वारा स्पन्दित मानव चित्त के भावेगों में बड़ा अन्तर होता है। काव्य में भावेग द्वारा जो स्फुटन उत्पन्न होता है वह वाह्य सत्ता से पूर्णतया सम्बद्ध होता है हम वाह्य घटनाओं की अनुमति से चालित होने रहते हैं। काव्य पाठक के सुख-दुःख का आवग उत्पन्न करता है। दूसरों के मग्न-दुःख के साथ मनुष्य की समवेदना होती है और अन्त तक वह उन मग्न दुःख को अनुभव करने लगता है। इस प्रकार काव्य मनुष्य मनुष्य के भीतर बतमान एकरव का प्रतिष्ठापक हो जाता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति मानव का ऊपरी विभक्त क नीचे एक अन्तर्-एकता है।

आवेग और कम्पन

त्रिभुज आवेगों से मिल मिल जाति और आहृति के कम्पन उत्पन्न होते हैं। संगीत से भी इसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार के कम्पन काव्य से उत्पन्न होते हैं, फिर भी संगीत में उत्पन्न कम्पना का याग बाह्य सत्ता में कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गहरी अनुभूति नहीं होती जितनी काव्यजनित आवेग के कम्पन से होती है। टोटा के आलाप में जो एक प्रकार की उदाम और विरह-याकुत वेदना चित्त में घुमड़ आती है वह विश्वजनीन तो होती है पर अविच्छिन्न या एम्मुक्ता होने के कारण अनुभूति में वह सांद्रता नहीं आ पाती जो काव्य के कम्पन से उत्पन्न होती है क्योंकि संगीत का अनुभूति अहतुक होता है। मनुष्य का चित्त सबद-काय-कारण की श्रुतता वाजता रन्ता है—अनुभूति और वेदना के साथ साथ। काव्यजन्य अनुभूति की सांद्रता इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य आवेग चालित अवस्था में काय-कारण श्रुतता के प्रति आस्था बनाए हा रहता है। जहाँ वह उस नहीं पाता वहाँ दर तक जमना नहीं चाहता। यही कारण है कि भक्त कवि भगवान के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना कर लेता है। जिस काय में कवले गन्तव्यकार हा भ्रमर उत्पन्न करता है अथवा भार-कय-हाना है वह बहुत-कुछ उसी प्रकार का असाद्र अनुभूतिजनक आवेग-कम्पन उत्पन्न करता है जो संगीत करता है, पर सम संगीत की अबाध गति भी नहीं होती और अथ-जगत से सम्पूर्ण विश्वे भी नहीं होता क्योंकि उसका साँ बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अथ भार-हीन गन्तव्यकार न तो काय का गान अनुभूति हा पदा करते हैं और न संगीत का प्रवाह ही। व दोना के केवल घटिया प्रभाव भर उत्पन्न करते हैं। परन्तु जहाँ अन्धालकार में अथ भार बना रहता है वहाँ के काव्यगत प्रभाव में संगीत की महज गति भर देने हैं। परन्तु अन्धालकार गान के प्राणप्रद और विरोधाधानहेतुक दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति का रस से आन है। हम उनकी सहायता से कवलय के व्यक्तित्व को पुर्णों का और त्रिधाओं को गान भाव से अनुभव करते हैं। पन्थ के विरोधाधानहेतुक धर्म—साहे के सिद्ध हा या माध्य—सादृश्यमूलक अलकारों से इस प्रकार ममूतित होते हैं कि पाठक के चित्त में अनुभूति सहज ही जाती है। वस्तुतः अन्धालकार जब आवेग सहस्र होकर आते हैं तो वाक्य में अधिक उजसल तेज भर देते हैं पर जब आवेगहीन होकर आते हैं तो धमत्कारी उक्ति भर रह जाते हैं। व उस अवस्था में दिवली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विधीण करव अतथान हा जात है। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी बड़े काम की नहीं होती, बवल अन्तर की धनना पर मटुल आघात करके विलीन हो जाती है। मध्यकालीन कवि की अनातयीवना नायिका न जब अपनी दासी की ईश की दनुजन से आने के अपराध पर झिडका था, तो उसकी मरलता ने एसी ही एक क्षणिक ज्योति उत्पन्न की था। अथर व माधुय से दनुजन कहा भी सीटी होकर ऊस-भी नहीं सगने लगता। इमोलिए इस दोहे में मटु कम्पन उत्पन्न करने की उक्ति हात हुए भी वह उतना अनुभूति प्रक नहीं हो पाया क्योंकि इस कम्पन का हेतु बाह्य मना से असादृश्य होने के कारण स्थायी नहीं होता और न अनुभूति का गान रग हा देना

है। दोहा इस प्रकार है

अधर परसि मीठी भई दई हाय सो डारि।

सावति दनुअनि ऊन की नोखी लिजमतिगारि ॥

लेकिन प्रश्न यही समाप्त नहीं हो जाता। यह कविता भी एक श्रेणी के लोगो को आनन्द देती है इसीलिए इसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देना जा सकता।

सामाजिक मगल का विधायक साहित्य

यह सत्य है कि दूसरे के चित्त में प्रभाव उत्पन्न करना ही काव्य का सबसे बड़ा काम है अर्थात् काव्य सामाजिक वस्तु है। इसीलिए राजनेसर ने कहा है, आदमी सुसंस्कृत हो तो बाय तो जमे तसे बना ही लेता है परन्तु पढ़ना तो वही जानता है जिसको सरस्वती सिद्ध होती है

करोति काव्य प्रायेण संस्कृतात्मा ययातिथा।

पठितु वेत्ति स पर यस्य सिद्धा सरस्वती ॥

—यद्यपि अच्छे पत्रों के ढंग का अथ छ'दोजय आवेग कम्पन का पूण उपयोग है और इस उपयोग का अर्थ है सामाजिक को काव्याय की पूण उपलब्धि।

जो साहित्य हमारी व्यक्तिगत क्षुद्र सकीणताओं से हम ऊपर उठा ले जाये और सामाजिक मनष्यता के साथ एक करके अनुभव कराये वही उपादेय है। उसके भाव पक्ष के लिए किसी देशविशेष या कालविशेष की नतिक आचार परम्परा का मुह जोहना आवश्यक नहीं है। हमें दृढता से केवल एक बात पर अटल रहना चाहिए, और वह यह कि जिसे काव्य नाटक या उपन्यास साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है वह हम हमारी पशु सामाजिक मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर समस्त जगत के सुख दुःख को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं। हम उस एक की अनुभूति में सहायता पड़ना चाहिए या नहीं जिस व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान के बाद उपलब्धि योग्य बनाया है। जो भी साहित्य इसके बाहर पढ़—अर्थात् हमारी पशु-सामाजिक वृत्तियों को बड़ी करके लिखाये हम स्वार्थी और खण्ड विच्छिन्न बनाये—हम साहित्य नहीं कह सकते—चाहे जितने बड़े साहित्यिक दान या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो। साहित्य सामाजिक मगल का विधायक है। यह सत्य है कि वह व्यक्तिविशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है। एक ही मनोराम जब व्यक्तिगत सुख-दुःख के लिए नियोजित होता है तो छोटा हो जाता है परन्तु जब सामाजिक मगल के लिए नियोजित होता है तो महान हो जाता है क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है। साहित्य में यदि व्यक्ति की अपनी पदचमत्ता उसकी सकीण लालसा और मोह ही प्रबल हो उठ तो वह साहित्य बेकार हो जाता है। भागवत में मनोरामा के इस सामाजिक उपयोग को उत्तम बताया गया है क्योंकि इसमें सबका मूल निपचन होता है इससे मनुष्यता की जड़ की सिंचाई होती है

यद्युपयतमव न कर्ममनावचोभि

श्रीमज्जापि नृभिर्मन्मन् पयत्रान

तरेव सद्भवति चेत् क्रियते पृथक्वात्

(सबस्य तदभवति मूलनिपेचन यत् ।)

२

भारतीय साहित्य की प्राण शक्ति

भारतीय साहित्य का अध्ययन करनेवाले हर किसी का एक बात लगेगी । वह यह कि इस मनुष्ये साहित्य में अकरमात् घट जानेवाली कोई बात नहीं पाई जाती । जो बात ग्रीक ट्रेजेडी की जान है वही भारतीय साहित्य में सावधानी के साथ दूर रखी गई है । यहाँ के काव्यों और नाटकों के लेखकों में से अधिकांश की प्रवृत्ति यह रही है कि उसकी क्या लोकविश्रुत हो और उसका तापक और उसकी नायिका प्रसिद्ध बजायत और इतिहास समर्थित पुरुष-स्त्री हो । विज्ञान साहित्य में पाठक की कुतूहली वृत्ति को सदा जागरूक रखने की जो चेष्टा है भारतीय साहित्य में उसका एकांत अभाव कभी कभी विज्ञान पाठक को खटक जाता है और कभी कभी आधुनिक शिक्षाप्राप्त भारतीय विद्वान् को भी सदोष जान पड़ता है । इसीलिए भारतीय साहित्य के अध्येता के लिए इस प्रवृत्ति का कारण जान लेना बहुत आवश्यक है । अगर वह इस प्रवृत्ति को नहीं जानता तो भारतीय साहित्य के आधे गुण-दोष को वह नहीं पहचान सकता । उसकी प्रशंसा और उसकी निन्हा दोनों ही समान भाव से उपक्षणीय होंगी । सारे ससार की अपेक्षा भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता है और उस विशेषता का कारण एक भारतीय विश्वास है । यह है पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धान्त । प्रत्येक पुरुष को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा । प्रलय भी हो जाये तो भी वह अपनी करनी के फल से मुक्त नहीं हो सकता । महाभारत में कहा गया है कि पूव सत्त्वि म प्रत्येक प्राणी ने जो कुछ कर्म किया हो वह कर्म पुन पुन सञ्चयमान होता हुआ उसे परवर्ती काल में भी मिलेगा ही^१ फिर वह उस भोगने को तयार हो या नहीं । समस्त भारतीय साहित्य में पुन पुन कर्मबन्ध से मुक्त होने का उपाय बताया गया है । समस्त शास्त्र अपना अंतिम लक्ष्य जन्म-कर्म के बन्धन से छुटकारा पाने को कहते हैं । इस सिद्धान्त का जितना व्यापक और जबरदस्त प्रभाव हिन्दू मस्तिष्क में हिन्दू साहित्य और हिन्दू जीवन पर पड़ा है उतना किसी भी और दार्शनिक सिद्धान्त का किसी भी और जाति पर पड़ा है या नहीं नहीं मालूम ।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त बसे तो खोजने पर अन्याय देगों में भी किसी न किसी रूप में मिल सकता है परन्तु कर्मफल प्राप्ति का सिद्धान्त कहीं भी नहीं मिलता । यह बात इतनी सख है कि विद्युत् गताब्दी में बण्डिता में यह साधारण विश्वास-सा हो गया था कि जहाँ कहीं पुनर्जन्म का सिद्धान्त है वहीं वह भारतीय मनीषा की देन है । सुप्रसिद्ध श्रीक दार्शनिक पाइथागोरस ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को माना है और उसे लेकर प्राच्य

विद्या विचारदा म एक समय मे पार्थी मनोरजक वाग्बुद्ध हा गया है। विलियम जोन्स, कोलब्रुक गावें होपकिंस प्रभृति विन्गी विन्ना न स्वीकार किया है कि उक्त सिद्धांत को पाइथागोरस ने किसी भारतीय पण्डित से हा मीखा था। कुछ यूरोपियन पण्डिता को यह भारतीय गौरव पसंद नहा। इन लोगो न यह सिद्ध करने का भरपूर प्रयत्न किया है कि हिन्दुआ ने ही उक्त बात ग्रान् पण्डित से सीखी होगी।^१ प्रो० वॉट एग ही विद्वानो म प्रमुख हैं। सुप्रसिद्ध प्राय विद्या विचारण डा० वा० ए० कीव ने इस विषय पर एक बहुत ही अध्ययनपूर्ण प्रबन्ध लिखा था जिसम थ इस नतीज पर पहुंचे थ कि पाइथागोरस के ऊपर किसी भारतीय मत का प्रभाव तो नहीं है, पर निस्संदेह सम्बन्ध का भारतीय सिद्धांत अद्वितीय है।^२ जो कोई भा भारतीय धर्ममत और साहित्य का जानना चाहता है, वह इस सिद्धांत को जाने बिना अग्रसर नहा हा सकता। दया जाय यह सिद्धान्त क्या है।

साधारणतः समस्त भारतीय मनीषियो न इस गुणमय जगत् पर विचार करक यह निष्कर्ष निकाला है कि इसम दो अत्यन्त स्पष्ट तत्त्व हैं। एक आश्रित है दूसरा परिवर्तनशील एक सदा एकरस है दूसरा नाशमान् एक चेतन है दूसरा जड। मतभेद तब गुरु हाता है जब उनके सम्बन्ध पर विचार किया जाता है। एक तरह क पण्डित हैं जो इन दोना तत्त्वो को स्वतंत्र मानते हैं इन दोना का सम्बन्ध क्वल योग्यता का सम्बन्ध है परन्तु दूसरे आचार्य हैं जा मानत हैं कि वस्तुन इन दोना की सत्ता नहा है दूसरा पहल की ही शक्ति है। पहले को आत्मा कहते हैं सारथवाग्ना उसे पुरुष कहत हैं और दूसरे तत्त्व को प्रकृति या माया कहत है। गीता म भगवान न प्रकृति को अपने ही अधीन बनाया है और कहा है कि मर द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस सचराचर सृष्टि का प्रसव करती है (गीता—६१०)। बद-वाह्य बोनादि सम्प्रदाय के लोग यह मानत हैं कि यह चेतन सत्ता साधना के द्वारा जब प्रकृति क वचना स मुक्त होती है तो उसी प्रकार लुप्त हा जाती है जिस प्रकार दीपक की लौ परन्तु इस बात म थ भी विश्वास करत हैं कि शरीर और इन्द्रियादि का अप ता वह वस्तु अधिक स्थायी है। वह सक्टा जम ग्रहण करन क बाद सक्टा गारा सद्रिमा स मुक्त हो लेने क बाद निर्वाण की अवस्था को जयान् बुझ जाने की अवस्था का प्राप्त होती है।

साख्यशास्त्रिया क मत स पुण्य अनक है और प्रकृति उह अपन मायाजाल म बांधती है। पुरय विग्नुड चेतनस्वरूप उपासीन और पाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहा हा जाता तभा तक वह उसक जाल म फसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुन प्रकृति का ही विकास है।

जा हो इस विषय म भारताय दार्शनिको म प्राय काई मतभेद नही कि आत्मा नामक काई स्थाया वस्तु है जा बाहरा दृश्यमान जगत् क विविध परिवर्तनो के भीतर से गुजरता हुआ सदा एक रस रहता है। थ पण्डित स्वीकार करत हैं कि जब तक ज्ञान नही

1 Early Greek Philosophy (1908) 1 21

2 Journal of Royal Asiatic Society P 569

हा जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-मरण के बंधन से मुक्त नहीं हो जाता। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुण्य या आत्मा उदासीन है या दुःख-सुख से परे है और चित्स्वरूप है तो जन्म और मरण के बंधन में पड़ता क्यों है और मृत्यु के बाद एक जन्म का फल दूसरे जन्म में डोकर क्या ल जाता है? जो निगुण है उस आधार बनाकर पाप और पुण्य कर्म फल कस दूसरे जन्म में पहुँच जाते हैं? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्म फल जड़ है अतः उनमें इच्छानुहा हाती इसलिए यह तो साफ़ प्रष्ट है कि वह इच्छापूर्वक आत्मा का पीछा नहा कर संकते, फिर यह कसे सम्भव है कि इस जन्म का फल दूसरे जन्म में मिलता ही है? साथ ही जवाब यह है कि इद्वर इस व्यवस्था को इस दृग से चला रहा है, परन्तु यह उत्तर युक्तिवादा दासनिवा का समुदा नहा है। वह उसका और वाद कारण बताते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए शास्त्रकारों ने निम्न शरीर का बात बताई है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीर से दूसरे में सन्नमित होता है। गाता में भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र का छोड़कर नया धारण करता है उसी प्रकार आत्मा जीव शरीर का परिवर्तन कर नवान् शरीर धारण करता है। (गीता—२।२२)। इसी प्रकार बह्मशास्त्रक उपनिषद् में बताया गया है कि जाक जिस प्रकार एक तृण से दूसरे पर जाने समय पहले अपने शरीर का अंगना हिस्सा रखता है और फिर बाकी हिस्से को खींच लेता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करती है। आत्मा को जब अपनी ओर प्रकृति या माया की वास्तविक सत्ता का ज्ञान हो जाता है तभी कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है। भगवान् ने गाता में कहा है कि ज्ञान की अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है और ज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु पवित्र नहीं है (गीता—४।३७ ३८)। उपनिषद् में ब्रह्म की सत्य-स्वरूप ज्ञान स्वरूप और आनन्द-स्वरूप कहा गया है (तत्तिरीय—२।१ बह्मशास्त्रक—३।६।२२)। ऐसा मानने के कारण समूचा हिन्दू-साहित्य ज्ञान को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। वह यह नहीं मानता कि ज्ञान की प्राप्ति में मनुष्य नित्य अग्रसर होता जा रहा है। उसकी दृष्टि में चरम ज्ञान अपने आप में ही है। यद्यपि ज्ञान अनन्त है पर उसका अपना वास्तविक रूप भी वसा ही है इसलिए चरम और अनन्त ज्ञान का ज्ञान असम्भव तो है ही नहीं उसका साधन भी ही है। हिन्दू-साहित्य में इसीलिए नित्य नवीन ज्ञान के अनुसंधान के प्रति एक प्रकार की उत्साहनता का भाव है। वह उस विद्या को विद्या नहा मानता जो मुक्ति का कारण न हो जो मनुष्य का कर्म-बंधन से छुटकारा न लाता है। इस बात में भी सार हिन्दू-साहित्य का प्रभावित किया है।

शास्त्रकारों ने कर्म का समझने के लिए कई प्रकार के भेद किये हैं। 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि कायिक वाचिक और मानसिक ये तीन प्रकार के कर्म हैं और उनकी गति भी उत्तम मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार की हाता है (मनु—१२३)। शास्त्रात्मक मनुष्य के प्रकार के पापों उनका फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले रोगों का उल्लेख किया है और उनका प्रामाणिकता का भी विधान किया है। पुराणों में कर्मविपाक के विषय में बहुत-बहुत कहा गया है। गरुड-पुराण में विस्तृत रूप से अनेक कर्म और उनके फल

पला का उल्लेख है। शास्त्रों में साधारणतः तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं—सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्य ने जो कुछ कर्म किया है उसे सचित कर्म कहते हैं। जिस पुराने कर्म के फल को वह भोग रहा है उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जो कुछ वह नये सिरे से करने जा रहा है, उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। ज्ञान होने पर सचित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं पर प्रारब्ध कर्म को भोगना ही पड़ता है। ज्ञान की अग्नि से सचित कर्म जलकर दग्धवीज की तरह निष्फल हो जाते हैं और ज्ञानी प्रारब्ध कर्मों के संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है जैसे कुम्हार का चलाया हुआ चक्र दण्ड उठा लेने पर भी वेगवश कुछ देर चलता रहता है। इन बातों में स्वर्ग और नरक के विचार भी सम्मिलित हैं। कर्मबन्ध के दार्शनिक रूप के साथ स्वर्ग-नरक के पौराणिक विचारों का सामंजस्य भी किया गया है। साधारणतः पुण्य कर्म के लिए आत्मा का कुछ दिन तक स्वर्ग में रहना और फिर पुण्य क्षीण होने पर मत्स्यलोक में आ जाना (गीता—६।२०-२१) और इसी तरह पाप भोग के लिए कुछ दिन नरक में जाना और भोग लेने के बाद फिर मत्स्यलोक में आ जाने की बात भी कही गई है। सांख्यकारिका में बताया गया है (सां० वा०—४१) कि धर्म (पुण्य) के द्वारा ऊर्ध्वगमन अधर्म (पाप) के द्वारा अधोगमन होता है। ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्धन होता है। महाभारत में यह एक और विचित्र बात बताई गई है (स्वर्गारोहण पर्व—३।१४) कि जो आदमी अधिक पुण्यशाली होता है वह पहले अपने स्वल्प पापों को भोगने के लिए नरक में जाता है और जो आदमी अधिक पापी होता है वह उसी प्रकार अपने स्वल्प पुण्यों का भोगने के लिए पहले स्वर्ग में जाता है और फिर नरक में। कुछ विद्वानों का विचार है कि स्वर्ग-नरक विचार और मोक्ष विचार दोनों जाति के भारतीय मनीषियों की चिन्ता का परिचायक हैं। पहले विचार ब्रह्मविद्या के हैं और दूसरे वेदवाह्य आर्षेतर मुनियों के। उपनिषद् काल में ये दोनों विचार मिलने शुरू हुए थे और काव्य-काल में पूर्ण रूप से मिलकर एक जटिल परलोक-व्यवस्था में परिणत हो गये। जो हो ऊपर की आलोचना का निष्कर्ष यह है कि—

१ आत्मा अविनश्यक है।

२ चरम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

३ ज्ञान प्राप्त किये बिना जीव का छुटकारा नहीं होता।

४ ज्ञान वही है जो जीवात्मा को कर्मबन्ध से मुक्त कर सके।

५ ज्ञान प्राप्त किये बिना शरीर-त्याग करने पर जीवात्मा अपने साथ लिंग-शरीर और कर्मफलजन्म संस्कारों को ले जाता है।

६ जो शरणागत है वही भाग्यशाली है।

७ ज्ञान प्राप्ति के लिए बुद्धि का पोषण आवश्यक है। शुभ बुद्धि से ही ज्ञान सम्भव है।

इस दार्शनिक चर्चा को यादों और भी आगे बढ़ाकर इसके प्रभावों का उद्घाटन की जाय। हिन्दू विचारों के अनुसार मनुष्य पदा हाते ही तीन प्रकार के ऋणात्मा को अपने साथ लेकर उत्पन्न होता है। (मनु—४।२५७ विष्णु संहिता—३७) ये तीन ऋण हैं—
 १ स्वर्ग ऋण २ अधि ऋण और ३ पितृ ऋण। पदा हाते ही मनुष्य को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हो

जाती हैं। वह अपने शरीर और इन्द्रियों को पाता है जो उसके समस्त आनन्दोपभोग के लिए आवश्यक साधन हैं। यह अपने माता पिता से पाता है। इस ऋण को वह और किसी भी तरह नहीं चुका सकता, केवल एक उपाय है और वह यह कि इस धारा को आगे बढ़ा दिया जाये। इसी तरह वह समूचे ज्ञान विज्ञान को जिसे प्रत्यक्ष और मुलम करने के लिए अनेकानेक मनीषिया ने अपने जीवन दे दिये हैं, अनायास ही पा जाता है। इस बात के लिए वह अपने पूर्वतन आचार्यों का अवश्य ऋणी है। इस ऋण को भी वह चुका नहीं सकता। चुकाने का एक उपाय यही है कि ज्ञान विज्ञान की धारा को वह सुरक्षित रखे और यथासम्भव आगे बढ़ा जाये। अध्ययन-अध्यापन से ही यह काय हो सकता है। फिर एक तरह की सुविधा भी मनुष्य को जन्म के साथ ही मिल जाती है। समस्त जगत् की प्राकृतिक शक्तियाँ, जिन्हें प्राचीन आय देवता कहते थे न होती तो मनुष्य कुछ भी करने में असमर्थ था। प्राचीनों का विश्वास था कि मन के द्वारा इन शक्तियाँ को तप्त किया जा सकता है। मनु ने इसीलिए कहा है कि गृहस्थ को तीन प्रकार के ऋणों से मुक्त होने के बाद ही मोक्ष म मनोनिवेश करना चाहिए। विधिवत वेदों का अध्ययन करके, पुत्रों का उत्पादन करके और यथाशक्ति यज्ञ का यजन करके ही मोक्ष की चिन्ता म मनोनिवेश करना चाहिए। इन कार्यों क किये बिना ही मोक्ष की इच्छा रखनेवाला द्विज अध पतित होता है (मनु—६।३५ ३७)। महाभारत में भी इन ऋणों की चर्चा है। इन्हें चुकाये बिना मनुष्य के ममस्त काय अधूर हैं। इस ऋण सम्बन्धी विश्वास का बहुत बड़ा प्रभाव समग्र भारतीय साहित्य पर पड़ा है। हिन्दू आदर्श के लिए पितृत्व या मातृत्व दत्त का प्रश्न नहीं है बल्कि आवश्यक कर्तव्य है। इसका पालन न करने से पाप होता है, परन्तु पालन करने से कोई पुण्य नहीं होता। हिन्दू शास्त्रों म पुरुष के लिए तो ब्रह्मचर्य का आदर्श स्वीकृत है और मनु कहते हैं कि विधवाएँ भी पुत्र उत्पन्न किये बिना ही सद्गति पा सकती हैं उसी प्रकार जैसे ब्रह्मचारी योग पाते हैं (मनु—५।१६०)। परन्तु यह बचन ही इस बात का सूचक है कि पुत्रोत्पादन किये बिना सद्गति नहीं होती। जिनकी सद्गति एसी अवस्था म हो जाती है वे अपवाद ही हैं। वस्तुतः हिन्दू विश्वास के अनुसार मानव स्त्री-जीवन की चरम साधना नहीं है यद्यपि आजकल के कुछ पण्डित हिन्दू विश्वासा की एसी ही व्याख्या करन लगे हैं। मातृत्व और पितृत्व भी चरम साधना का अधिकारी होने की आवश्यक बात है। चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है या और भी सही व्यर्थों में आत्मज्ञान है। इसी प्रकार अब तक मसार के मनीषिया ने जो कुछ भी ज्ञान अजन किया है उसका अध्ययन-अध्यापन उनका बान का अविचारी होने के लिए आवश्यक शत है। यही कारण है कि हिन्दुओं के निकट कोई भी ज्ञान उपेक्षणीय नहीं है।

इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि हिन्दुओं ने अपन साहित्य में नाना जाति के ज्ञान विज्ञान को इस अपनेपन के साथ ग्रहण किया है कि पण्डितों को यह निजय करने में प्राय ही अटकनों का सामना करना पड़ता है कि कौन-सा ज्ञान किस देश से ग्रहण किया गया है। बाहरी विज्ञान क ज्ञान को अपना बनाकर प्रकट करने की कला में कोई भी भारतीय का मुकाबला नहीं कर सकता। सीरियनों की राशि-गणना, चीकों का होरा शास्त्र, अरबों का ताराशास्त्र यज्ञों की कवि प्रसिद्धियाँ आर्यतर जातियों की

आध्यात्मिक चिन्ता और देव-कल्पनाएँ इस प्रकार आप मनोपिया की चिन्ता रागि म मिल गई हैं और ऐसी प्राण शक्ति पाकर जीवन्त हो उठी हैं कि उनको अलग कर सकना आज साहस का काय हो गया है। बाहरी ज्ञान को हिन्दू आचार्यों ने इतने दृढ़ के माय अपनाया है ऐसा समादर दिया है इतना माजित कर लिया है कि दग्धनेवाला को आश्चय होता है। इसी प्रकार देव ऋण को चुकाने में भी हिन्दुओं ने कमाल किया है। उनके साहित्य में प्रकृति की प्रत्येक शक्ति इतनी जीवित और सम्पन्न रूप में चित्रित हुई है कि सस्त्रुत के किमी काय में से उसे अलग नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट ही है कि एमा करके हिन्दू कुछ धनात्मक काय नहीं करता वह महज ऋणात्मक कृतध्या का पालन करता है केवल ऋण चुकाता है।

ऊपर की बातों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१ पुनोत्पादन आवश्यक कर्त्तव्य है। इसके किये बिना पुश्य या स्त्री—ग्रह्यचारी और विधवा के अपवादा को छोड़कर—आत्मज्ञान व अधिकारी नहीं हैं।

२ इसीलिए पुत्रोत्पादन अर्थात् पितृत्व या मातृत्व की प्राप्ति केवल साधन है साध्य नहीं।

३ पान—अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए सहायक मानी जानेवाला विद्या—कही में भी ग्रहण करना उसकी रक्षा करना और वद्धि करना केवल उचित ही नहीं आवश्यक कर्त्तव्य है। यह भी मोक्ष का साधन है।

४ देवताओं या प्राकृतिक शक्तियों का सम्पन्न बनाना आवश्यक कर्त्तव्य है।

यह कहना अनावश्यक जान पड़ता है कि न तो पूर्वाजित कर्मों के भोग में मनुष्य स्वाधीन है और न ऋण चुकाने के ऊपर बड़े हुए कर्त्तव्य पालन में। एक को उसे भोगना ही पड़ेगा और दूसरे को उमे करना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यह सदेह हा सकता है कि हिन्दू विश्वास मनुष्य को सम्पूर्ण निराशावादी और भाग्यवादी बना देता है। ऊपर से देखने पर यह बात गलत भी नहीं मालूम पत्ती और साहित्य में भी इन विश्वासा का सुदूर प्रसारी फल साफ प्रकट होता है। इसने कविता और शास्त्राध्यापकों की मनोवृत्ति इस प्रकार मोड़ दी है जिसकी तुलना सारे ससार में नहीं मिलती। हजारों वर्ष के भारतीय इतिहास में जो नीच समझी जानेवाला जातिया ने कभी भी उत्कृष्ट विद्रोह नहीं किया वह इन्हीं विश्वासा का स्वीकार करने व कारण। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उसके द्वारा संपादित किसी का कम फल टर नहीं हा सकता। चाहाल अपनी दुर्गति के लिए कमफल की दुहाई देता है और ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिए भी कम की ही दुहाई देता है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने कमफल के लिए आप ही जिम्मेदार है तो न तो कोई उस किसी दूसरे व बड़े भोग ही सकता है और न उद्योग करके उसके सचित और प्रारम्भ कर्मों को बदल ही सकता है। इस सिद्धान्त ने कम के सामूहिक उद्योग के क्षेत्र में हिन्दुओं का बाधा पट्टवाई है और उनका मनावृत्ति को विच्छेदप्रवण बनाने में सहायता दी है। कतना ही नहा उन्हें जागतिक व्यवस्था व प्रति उदासीन भी बना दिया है। जब प्रत्येक काय का निश्चित और यामसगत कारण है तो किसी अनाय के विरुद्ध विनाश करने का मवास ही नहीं उठता। और जब विद्रोह करने की भावना दब जाती

है तो जाति स्थिर भाव से अथ पतन की ओर बढ़ती है। हिन्दू-साहित्य और समाज का यह पहलू सचमुच ही बहुत शोचनीय है। परन्तु इसका सिवा भी एक बात है जो निश्चय ही महान है।

वह बात है पुरुषार्थों की कल्पना। हिन्दू शास्त्र मनुष्य के लिए केवल बमफल भोग और ऋण चुकाने की ही व्यवस्था नहीं करती, वे कुछ धनात्मक कार्य करने का भी विधान करते हैं। ये धनात्मक कार्य ही पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ चार हैं—धर्म अथ काम और मोक्ष। इन्हीं पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपाय बताने के लिए समूचा सस्कृत-साहित्य लिखा गया है। जो कुछ भी इस साहित्य में पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए लिखा गया है, वह दुनिया के साहित्य में बजोड़ है। जो कुछ बमफल का और ऋणा के चुकाने का निर्देश देने के लिए लिखा गया है वह केवल समाजशास्त्री के कृतज्ञ का विषय है। पुरुषार्थों में सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ—परम पुरुषार्थ—मोक्ष है। मोक्ष के विधायक वेद उपनिषद् आरण्यक, दशानशास्त्र आदि विषय केवल भारतीय साहित्य की ही नहीं मसाले के साहित्य के गव और गौरव की वस्तु हैं। बहुत बान में बणव आचार्यों ने इन चारों के अतिरिक्त एक पाँचवें पुरुषार्थ की कल्पना का है। यह है भक्ति या भगवत्-विषयक प्रेम 'प्रमा पुमर्थो महान। और निस्सन्देह इस पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए जो कुछ लिखा गया है वह अद्वितीय है।

हमारा आलोच्य विषय काव्य क्या है? क्या वह बमफल का निर्देशक है या ऋण चुकाने का व्यवस्थापक या पुरुषार्थ निर्देशक? मम्मट कहते हैं कि काव्य काव्य के लिए लिखे जाते हैं व्यवहार जान के लिए लिखे जाते हैं अगुम फन से निवृत्त होने के लिए लिखे जाते हैं कानासम्मित उपदेश के लिए लिखे जाते हैं और आमानी से मोक्ष प्राप्त करने के लिए लिखे जाते हैं। अर्थात् काव्य सब पुरुषार्थों का दाता है। यदि व्यवहार जान के प्रसंग में मम्मट ने मन ही मन काम नामक पुरुषार्थ को भायाद न कर लिया हो तो कहा जा सकता है कि एक यही पुरुषार्थ काव्य के उद्देश्य से छूटा जाता है। काव्य के उद्देश्य से काम नामक पुरुषार्थ का छूटना कुछ आश्चर्यजनक अर्थ है।

ऊपर की विवेचना से हम भारतीय साहित्य को अच्छी तरह समझ सकते हैं। भारतीय नाटक में जो कही भा धर्मात्मा व्यक्ति पराजित नहीं होता कभी भी सदविचार से अनुप्राणित होकर कठिनाइयाँ से जूमता हुआ हार नहीं जाता वह इसी बमफल की व्यवस्था को मानने से। भारतीय काव्य में जो कवि अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा दूसरे के मनोभावों का व्यक्त करने का प्रयत्न करता है यह अपने आपकी आनन्वि वृत्ति को पहचानने के लिए। यहाँ कभी यूरॉपियन नाटक की भाँति पापात्पर अपनी कूबुद्धि से धमाका को अत तक पछाडन में सफल नहीं होता। हिन्दू कवि का उद्देश्य रस को व्यक्त करना है कवन्य को अभिव्यक्त करना नहीं। अत्यन्त आधुनिक दृष्टि से देखा जाये तो सस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास में कितने ऐसे गुण खोज कर नहीं निकाल जा सकते हैं जिनके द्वारा नाटक की सफलता मानी जाती है। श्री कौषिक कहते हैं

'मानव जीवन के सम्भीरन प्रश्नों के लिए कालिदास ने हमारे लिए कोई भी

सदेग नहीं दिया है जहाँ तक हम देख सकते हैं, ऐसे गम्भीर प्रश्नों ने उनके भी मस्तिष्क में कोई सवाल नहीं पैदा किया। ऐसा जान पड़ता है कि गुप्त सम्राट ने जिस ब्राह्मण धर्मानुमोदित व्यवस्था की महिमा की प्रतिष्ठा की थी उससे कालिदास पूर्णतया सन्तुष्ट थे और विश्व की समस्याओं ने उन्हें उत्पन्न नहीं किया। 'नक्तला' नाटक यद्यपि मोहक और उत्कृष्ट है तथापि यह एक ऐसी सकीण दुनिया में चलता फिरता है जो वास्तविक जीवन की क्रूरताओं से बहुत दूर है। वह न तो जीवन की समस्याओं का उत्तर देने का ही प्रयत्न करता है और न उनका समाधान ही खोज निकालने का। यह सत्य है कि भवभूति ने दो कलियों के विरोध के अस्तित्व की जटिलता और कठिनता के भाव दिखाये हैं और उस विरोध से उत्पन्न दुःख को भी दिखाया है। पर उनके प्रथम में ही इस नियम का ही प्राबल्य दिखाई देता है कि सब-कुछ का अन्त सामयिक ही होना चाहिए ब्राह्मण धर्मानुमोदित जीवन सम्बन्धी सिद्धांतों ने नाटकीय दृष्टिकोण में कितनी सकीणता ला दी है इस बात को सम्यक्त नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है। यही नहीं ब्राह्मण धर्मानुमोदित परम्परा को स्वीकार करने के कारण ही चत्कौणिक जैसे नाटक लिखे जा सके हैं जहाँ एक अभागे राजा की दानशीलता से उत्पन्न ऋण विद्वामित्र की विभिन्न जनाचित बदनामियों की भावना से तब जोर मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोह चरण हुआ है।

ऐसी बात केवल एक पंडित ने नहीं लिखी है। आज दिन यूरोपियन ममानोचक बहुत सी अनजन्म बातें कहते ही रहते हैं। ऊपर क उदाहरण के तबक भारतीय साहित्य के एक माने हुए पंडित हैं जोर ऊनजलून टिप्पणी करनेवाले ईसाई लेखकों की बातों का अनेक बार सत्रमाण खडन भी कर चुके हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने जान बूझकर भारतीय साहित्य को छोटा करके दिखाने का प्रयास किया है और न हम यही कहना चाहते हैं कि उनकी बातों में सचाई नहीं है। सचाई भी अगर गलत ढंग में देखी जाती है तो अव्यक्तनीय लगन लगती है। हमने ऊपर जिन सिद्धांतों को देखा है उन्हें माननेवाला मनुष्य कभी भी जीवन के गभीरतर प्रश्नों का उत्तर देने की उन्नत नहीं समझता क्योंकि उसकी दृष्टि में जीवन के गभीरतर प्रश्नों का समाधान हो चुका रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजय हैं। वस्तुतः ईमान ारी के होते हुए भी यूरोपियन पंडित और उनके आधुनिक भारतीय विद्वान भारतीय साहित्य के प्रति ध्याय नहीं कर पाते। क्योंकि जसा कि कनकता हाईकोट के भूतपूर्व जज प्रसिद्ध अग्रज साधक सर जान उडरफ ने कहा है साधारण यूरोपियन प्रायः विद्या विचारक तथा वे लोग जो इस देश में (हिन्दुस्तान में) उनकी उगनी पकड़कर चला करते हैं कुछ ऐसे अव्यक्तनीय मूलक विद्वानों का पोषण करते हैं कि भारतीय विचार केवल ऐतिहासिक कुतूहल के विषय हैं और इस प्रकार वे विचार किसी बौद्धिक प्रश्नों के लिए ही स्वागत-योग्य वस्तु हैं। हमने सिवा उससे और कोई मध्य नहीं है न कोई उनकी वास्तविक सत्ता ही है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय ज्ञान और आधुनिक आविष्कारों में जो आश्चर्यजनक सम्बन्ध है उस सत्य का वैश्वीकरण नहीं कर सकते।

केवल यही नहीं यूरोपियन पंडित यह अनुभव नहीं कर सकते कि भारतीय

साहित्य एक जीवित जाति की साधना है। मनुष्य प्रायः अपने सस्वारा से ऊपर उठकर देखने में असमर्थ होता है। बट्टे रसल न लिखा है कि आधुनिक युरोपियन सभ्यता तीन उरसों में आयी है। ग्रीक विचार बाइबिल और आधुनिक विज्ञान। इन्हीं तीनों से आधुनिक युरोपियन पढ़िन की दृष्टि प्रभावित होती है। इन दोनों के घात प्रतिघात से उसके मानस पट पर एक विशेष प्रकार का जीवन सम्बन्धी सत्य अंकित होता है। उसी सत्य की माप से वह वस्तुओं को मापता है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, वह ग्रीक मनीषिणी से प्रभावित होता है। उसकी एतद्विषयक विज्ञान पर बाइबिल का प्रभाव नहीं के बराबर है। और आधुनिक विज्ञान न साहित्य के वाद्य रूप का ही अधिक प्रभावित किया है। यहाँ प्रश्न है कि ग्रीक विचार बाइबिल और आधुनिक विज्ञान के मिश्रण से जो सस्कार बने हैं वही क्या एकमात्र सत्य सिद्धांत हैं? यदि वे सत्य हैं तो आय चिंतन, द्रविड विश्वास और आधुनिक विज्ञान के मिश्रण से जो भारतीय सस्कार बना है और बनने जा रहा है वही क्या नहीं सत्य होगा? इस दृष्टि से देखा जाय तो ग्रीस की बड़ी से बड़ी ट्रेजडी के लेखक के बारे में श्री बीम की ही गती भ्रम कहा जा सकता है कि "ग्रीक साहित्य के धृष्ट नाटककार भी मायाजय भ्रममूलक वाता को ही जीवन के गभीरतर प्रश्न समझते रहे। इस परिवर्तनमान जगत् के भातर एक गारवत सत्ता है, एक चिन्मय पुरुष है जो जड प्रकृति के कम प्रवाह से एकदम निनिप्त है यह सहज बात उनके मस्तिष्क में कभी आयी ही नहीं। ट जोन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गये हैं वे कभी जीवन के वास्तविक गामीय तक पहुँचे ही नहीं। वे एक उद्देश्यहीन मायाजान में पड़े दृष्टांते रहे, जहाँ पद पद पर उन्हें परस्पर विरोधी उत्तथों की जनमन सताती रही और अन्त तक वे किसी सामजस्यमूलक व्यवस्था का पता न लगा सके। ग्रीक पौराणिक कल्पना ने नाटकीय दृष्टि को कितना विशृंखल बना दिया है उस बात का ग्रीक नाटका का समूचा इतिहास प्रमाणित करता है।" इत्यादि।

कहना स्पष्ट है कि इस प्रकार भारतीय सस्कारों से रखने पर हम प्राक साहित्य का अधिकांश सौंदर्य लो देंगे और फिर भी अपने विश्वासा के प्रति ईमानदार बने रहेंगे। वस्तुतः यह उचित माग नहीं है। ग्रीक सस्वारा के चश्मे से भारतीय सस्कारों को देखना उतना ही अनुचित है, जितना भारतीय सस्वारा के चश्मे से ग्रीक साहित्य को देखना। दुर्भाग्यवश भारतीय साहित्य को युरोपियन पढ़िना न ऐमे ही देता है और आधुनिक शिक्षाप्राप्त भारतवासी भी वसे ही देखने के अम्भस्त हो गये हैं। आधुनिक भारतीय शिक्षा में भारतीय सस्कारों की अपक्षा पश्चिमी सस्वार ही अधिक हैं। मह ध्यान में रखने की बात है कि ग्रीक काव्य और न जेडी पर उसी प्रकार ग्रीक पौराणिक कथाओं का प्रभाव है जिस प्रकार भारतीय नाटका और काव्या पर भारतीय पुराणों का। ग्रीक पौराणिक कथाएँ ही ट जेडी जसी बीज को जन्म द सकती हैं जहाँ किसी मत्स्यलोकवासी को सुन्दरता कन्य परायणता या कोई और सद्गुण अकारण ही स्वर्ग के देवता के कोष का कारण हो जाता है। भारतीय पुराणों में एक भाँ ऐसी कहानी नहीं मिलेगी। यहाँ प्रत्येक मुख-दुःख का कारण अपना ही कम है। इन विश्वासा को जो लोग सजीवता कहते हैं वे उम विश्वासा को मात्स्य याम कहना भूल जाते हैं।

वस्तुतः काव्य जसी सुकुमार वस्तु की आलोचना के लिए अपने मस्कारों से बहुत ऊपर उठने की जरूरत है, फिर वे सस्कार चाहे ऐंगत हों या ज्ञानगत । भारतीय साहित्यिक समाज व्यवस्था में कोई असामंजस्य नहीं देख सकता था और न ऐसी बातों का उसके निकट कोई मूल्य ही था जिन्हें हम जीवन के गंभीरतर प्रश्न कहा करते हैं । वह ग्रन्थी पर हो सकता है नहीं भी हो सकता है—प्रधान प्रश्न उसके मिद्धान्तों की सजाई जाँच करने का नहीं है (क्योंकि वह अल्प क्षेत्र का प्रश्न है) प्रधान प्रश्न यह है कि अपन विश्वासों से आबद्ध रहकर उसने जो मण्डि की है उसका सौंदर्य कहाँ है ? उसके सौन्दर्य का आदर्श क्या है ? और वह उसकी मण्डि करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है ?

३

साहित्य के नये मूल्य

जीवन्त साहित्य के सम्पर्क में आने से जीवन्त मनुष्य प्रभावित होता है । उन्नीसवीं शताब्दी के अग्रणी साहित्य में अदभुत जीवनी शक्ति उन्मिलित हो रही थी—एक अपूर्व उन्मुक्त भावधारा । इसमें परिपाटी विहित और परम्परामुक्त रसदृष्टि के स्थान पर आत्मानुभूति आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य था । इस विनिष्ट दृष्टिभंगी को अपने ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने उस युग के साहित्य को स्वच्छ दत्तावाद नाम दे दिया है । पर यह गान उस साहित्य की आत्मा को सम्पूर्ण रूप से प्रकट करने में समर्थ नहीं है । स्वयं इंग्लैंड में उस युग के साहित्य को रोमांटिक साहित्य कहा गया है । रोमांटिक अर्थात् वह साहित्य जो वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण विशिष्ट रूप से सका है जो कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वयं भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है । उस युग के क्लासिकल या परम्परा-समर्पित साहित्य में परिपाटी विहित रसज्ञता या रस निष्पत्ति पर जोर दिया गया था । इसीलिये उसमें उस अनासक्तिपूर्ण सौन्दर्य-प्राहिणी दृष्टि का प्राधान्य था जो अधिकाधिक मात्रा में सामान्य होनी है विशेष नहीं । जब कोई सहृदय सौन्दर्य और रसबोध के सामान्य मान को स्वीकार कर लेता है तो उसका ध्यान सामान्य भाव से निर्धारित सौंदर्य व दृश्य और नीति तथा सदाचार के परिपाटी विहित नियमों की ओर केन्द्रित होता है । व्यक्ति की स्वतंत्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होनी है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटी विहित मूल्यों से सब समय उसका सामंजस्य भी नहीं होता । कई बार उसे ऊपरी सतह के सदाचार व विरोध विरोध करना पड़ता है । परन्तु यह विरोध उसका मूल स्वर नहीं होता । हिन्दी साहित्य में छायावादी उत्थान के समय इसी प्रकार की उन्मुक्त आवगप्रधान और कल्पना प्रवण अन्तर्दृष्टि मिली थी । कई कवियों में उसका विरोधमूलक रूप ही प्रधान हो उठा परन्तु यह भलीभाँति समझना चाहिए कि यह विरोध केवल विरोध प्रवण की यथार्थ दृष्टिभंगी व माय परिपाटी विहित रसाम्बानन का सामंजस्य न हो सकने का

वाह्य रूपमात्र है। यदि यही अन्त तक कवि का मुख्य वक्तव्य बना रह जाये तो कवि सफ़्त नही होता। परन्तु जो कवि उसका वास्तविक मूल्य समझता है वह स्थायी और अमर साहित्य का निमाण करता है।

उनीमवी गताष्टी के आरम्भ में अंग्रेजी के जिन साहित्यकारों में उमुक्त स्वाधीन दृष्टि भंगी विकसित हुई थी वे विद्रोही अवस्था में परन्तु वह विद्रोह उनकी नवीन भावधारा का एक बाहरी और तत्काल के लिए आवश्यक रूपमात्र था। केवल परम्परा प्राप्त साहित्य का विरोध करने के लिए या परिपाटी विहित रसज्ञता का प्रत्याख्यान करने के लिए यह साहित्य नहीं रचा गया था। स्मोलिये उसे स्वच्छन्तावाद कहना केवल एक पहलू को ही बड़ा चढाकर कहना है। भारतवर्ष में इसी स्वाधीन चिन्ताधारा का स्पष्ट पाकर नवीन साहित्य निर्मित हुआ था। इससे साहित्य रसिका के हृदय में उमुक्त भावधारा के प्रति सम्मान बढ़ाया इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आज परिपाटी विहित कविता के स्थान पर उमुक्त आवेग और अन्तर्दृष्टि-युक्त कल्पनावाली कविता लोकप्रिय हो गई है। भारतीय सहृदय के चित्त में इस नयी भावधारा ने नया सम्पन्न उत्पन्न किया है। परन्तु इस भी पश्चात्य प्रभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि यद्यपि यह बात पश्चात्य दश के साहित्य के सम्पर्क से ही आई तथापि वह वहाँ भी नवीन ही थी। उसके लिए जिस नवीन ढंग की मानसिक गठन की आवश्यकता है वह नये विज्ञान द्वारा उपस्थापित परिस्थितियों के कारण ही सम्भव हो सका था। जसा कि पहले ही कहा गया है इस नवीन साहित्य की वास्तविक उत्स भूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घनसन्निष्ट निविड आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग य दोनों निरन्तर घनाभूत वस्तुओं ही इस व्यक्तिप्रधान साहित्य रूप की प्रधान जननी हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं। वस्तुतः इनका पृथक् पृथक् नाम देना और स्वरूप बताना केवल आलाचना की चर्चा की सहूलियत के लिए ही परिकल्पित हैं। कान्य की अभिव्यक्ति में ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे में इस प्रकार गुथी रहती हैं कि इन्हें एक-दूसरे से अलग करना कठिन होता है। कवन सहृदय ही यह अनुभव कर सकता है कि कहीं एक की मात्रा अधिक है और कहीं दूसरी की कम कहा वे करीब करीब समान हैं और कहीं एक न दूसरी का एकदम दबोच लिया है। परन्तु जसा कि ऊपर बतलाया गया है उमुक्तता केवल इन दो मनोवस्तुओं का समानांतर घम नहीं है। वह केवल काव्य के क्षेत्र में ही अपने आपको प्रकाशित नहीं करता। जीवन के विविध क्षेत्रों में उसकी सीला विराजने लगती है।

यदि उस युग के इंग्लैंड का वाह्य परिस्थितियों का विवरण किया जाय तो एक और तथ्य भी प्रकट होगा। इंग्लैंड की साधारण जनता उन दिनों बहुत व्यवहारकुशल दुनियादारी में लगी थी रोजगार के नये साधन सामने आ रहे थे दुनिया के कान कौन से ब्रिटिश सिंह का जय निनाम गूज रहा था और घर में अनायास-तन्मय समझि का भरने का प्रयत्न छोटे बच्चे सभी कर रहे थे। यही बिलकुल ऊपरी सतह की बात है किन्तु उस देश के विचारगान लोगो में एक प्रकार की मानसिक अस्थिरता अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट

उन दिना सक्तील कविया क चित्त म ऊपरा सतह की य हलचलें अपनी निश्चित लाइन रेखा छोड़ जाती थी। इन कविया के चित्त म जो रचनात्मक प्रतिभा थी उसमें इन ऊपर से कर्ण दीप्तिनेवान विचारों की कामल अभिव्यजना थी। वस्तुतः यह साहित्य अपने युग की सम्पूर्ण चेतना और विचार सपय की सुन्दर वसामक अभिव्यक्ति है। यह कहना ठीक नहीं है कि यह किसी पुरान विचार का नामांतरमात्र है। इस कथन का अर्थ यदि यह हो कि मूा मानव मनोवृत्तियां वही बनी रहती हैं केवल विभिन्न परिस्थितियों म उनका ऊपरी रूप परिवर्तित होता रहना है तब तो यह बात किंचित् स्वीकरणीय हो सकती है किंतु यदि इसका अर्थ यह हो कि इसी श्रेणा की या यही भावधारा पहले कभी रही और बाद म भी कभी आ सकती है तो यह बात स्वीकार योग्य नहीं होगी। यह कहना कि कबीर का रहस्यवाद ही रवीन्द्रनाथ का रहस्यवाद है या भीरा का रूपांतर ही महादेवी वमा है पूण सत्य नहीं है। ऐसी बातों म विचारगत गम्भीरता का निदर्शन नहीं। इतिहास अपने आप को चाहे तथ्यात्मक जगत् म कभी कभी दुहरा भी लता हो परन्तु विचार की दुनिया मे वह जो गया सो गया मनुष्य का जीवन अपना उपमान आप ही है। इसमे एक बार जो गलती हो जाती है या भटकाव आ जाता है वह अनुभव के रूप म और स्मृति के रूप म कुछ न कुछ नया जोड़ जाता है। इस जुड़ हुए अंग को किसी भी पूर्ववर्ती युग मे नहीं पाया जा सकता। स्वयं रोमांटिक साहित्यकारों म चौथी शताब्दी मे ही विचारगत विभद और वगिष्टय लक्षित होन लगा था। पण्डिता न उनीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण के साहित्य म एक विनोय प्रकार की नयी प्रवृत्ति का सधान पाया है जो इसीलिए संभव हुई थी कि इन दिना क साहित्यकार हम बात मे सचेत हो गये थे कि वे कुछ नया कर रहे हैं और उनके प्रधान अस्त्र आवेग और कल्पना हैं। पूर्ववर्ती साहित्यकारों मे वाला जगत् के प्रति जो एक प्रकार का विस्मय का भाव था वह आदिमानव के उस मनोभाव का सजातीय था जिसने पौराणिक विश्वासों और तांत्रिक आचारों को जन्म दिया था जबकि दूसरे चरण के साहित्यकारों मे उस प्रकार का मनोभाव है जो तांत्रिक आचारों को निर्विवाद रूढियों के रूप म स्वीकार करतवाल मनुष्य म पाया जाता है।

साहित्य विचार म बौद्धिक घपला किया जाता है कि एक युग के विचार को दूसरे युग के विचार के समान माना जाता है। वस्तुतः साधनों के साथ मनाभाव भी बदलते हैं। इसलिए यह समझना कि मनोभाव और संस्कार एक से बने रहते हैं बिनकुल गलत बात है। एक-सी बनी रहती है आदिम शक्तियों जिनका काल रूप बदलता रहता है। पर जीवन की विविध क्रियाओं के मूल्य निरन्तर बदलते रहे हैं और इस प्रकार साहित्य को समझन का ढंग भी बदल रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षण म ऐतिहासिक दृष्टि प्रतिष्ठित हुई है। उसे अस्वीकार कर नये साहित्य को ठीक ठीक नहीं समझा जा सकता। यह बिनकुल गलत बात है कि इस काल म विहारी-सतसई लिखकर कोई उनना ही मफल हो जायगा जितना बिहारी हुए। वस्तुतः बिहारी सतसई इस युग मे नहीं लिखा जा सकती। वह जब लिखी गई थी तभी लिखी जा सकती थी।

यह ध्यान देने की बात है कि जिन दिना भारतवर्ष का निविड संयोग हुआ

स हुआ, उन दिनों इंग्लैंड की माधारण जनता राष्ट्रीयता के नये धम में दीक्षित हो चुकी थी भारतवर्ष उनका अधिभूत देश था। अपने राष्ट्रीय स्वायत्त के लिए इस देश का कसके शोषण किया गया। अंग्रेजी साहित्य के महान आदर्शों और अंग्रेज जाति के इन शोषणमूलक प्रयत्न में बड़ा अन्तर था। शिक्षित भारतवासी के चित्त में इसकी तीव्र प्रति क्रिया स्वाभाविक थी। इसी प्रतिक्रिया ने भारतीय राष्ट्रीयता के रक्षात्मक रूप में आत्म प्रकाश किया। यूरोप की विचारशील सुधी मंडली का चित्त जितना उम्रुवत हुआ था, उतना साधारण जनता का नहीं। पंडितों में भी कई प्रकार के स्तर भेद थे। गुरु गुरु में जिन महान् आदर्शों से अंग्रेज जाति चालित हो रही थी वह अत तक नहीं बनी रह सकी। पहले पहल ज्ञान की साधना अनासक्त चित्त से की जाती थी। जिन यूरोपियन पंडितों ने भारतीय पुरातत्त्व और इतिहास के अध्ययन का काम आरम्भ किया था, वे बहुत ही उच्च कौटिक के आदर्शवादी थे। इनके प्रयत्नों ने भारतीय प्राचीन समृद्धि का प्रकाशित करना गुरु किया। दखा गया कि भारतीय चित्त आज-जसी स्थिति में हमेशा नहीं रहा है। भ्रम से निकले हुए मंदिरा, मूर्तिया, सिलाखण्डा, ताम्रपत्रों ने नये नये रहस्य का द्वार उद्घाटन किया। देश और विदेश से प्राप्त ग्रन्थों के प्रकाशन ने भारतवर्ष के पढ़े लिखे लोगों के चित्त में आत्मविश्वास का संचार किया। बहुत-से पुराने विश्वासों में सुधार हुआ, भूल हुए बौद्ध धर्म के उपदेश अब निषिद्ध नहीं रहे। उसने भारतीय प्रतिभाशाली साहित्यकार को नवीन प्रेरणा दी। नृत्य और संगीत के सम्बन्ध में नवीन भारतीय चित्त में नूतन गरिमा का संचार हुआ। यूरोप की नवीन निष्पन्न भावधारा के साथ प्राचीन गौरव के इन नवाविष्कृत तथ्यों का मणिकाचन योग हुआ। रुदियार्ड टूर्टी, नवीन काव्यलक्ष्मी ने अभिनव गौरव के साथ प्रवेश किया। उधर धीरे धीरे अंग्रेजों में साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति बढ़ती गई और उन्होंने भारतीय इतिहास को भी इसी आसक्त दृष्टि से देखने का प्रयास किया। शिक्षित भारतीय चित्त पर इसकी बड़ी घोर प्रतिक्रिया हुई। कभी कभी इस बात से भारतीय नवीन साहित्य-साधना के स्वस्थ विकास में बाधा भी पड़ची। इन्हीं दिनों हमारे यहाँ ऐसा मानत हैं या नहीं मानते का मोहक मंत्र आविष्कृत हुआ। यद्वृत्ति हुई नवान स्वच्छन्द विचारधारा में स्वभावतः सब प्रकार की बातें थी, हस्की अप्रामाणिक और गभीर भा। विक्टोरियन युग के अंग्रेजी साहित्य में भी ऐसी बातें थी पर वहाँ पराधीनता का अभिशाप नहीं था इसलिए ऐसी अस्वाभाविक प्रतिक्रिया नहीं हुई। रवीन्द्रनाथ, प्रसाद आदि कवियों में नवीन विचारों का प्राचीन विचारों से बहुत ही सुन्दर सम्बन्ध हा रहा था परन्तु सर्वोच्च राष्ट्रीय गौरव बोध की नयी मनोवृत्ति ने हर नवीन बात का इसलिए विरोध किया कि यह बात 'हमार यहाँ' ऐसी नहीं थी। साधारण भारतीय चित्त में हमार यहाँ की वाणी न अपूर्व भाव कल्पन और गुदगुदी पदा की। परन्तु सब मिलाकर इसने स्वस्थ साहित्यिक चिन्तन के विकास में बाधा ही पड़चायी। जागे चलकर 'पाश्चात्य प्रभाव एक आराधन मर रह गया और हमार यहाँ किसी भी विरोधी को घरागायी करने का अमोघ अस्त्र बन गया। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि अपने यहाँ के शास्त्रों का जो विचार किया गया और उसका सहारा लिया गया वह गलत था, बल्कि उनका जसा उपयोग किया, वह

कर सकता है। यदि वह गिथिल-समाधि है तो सहृदय की भी समाधि गिथिल होगी।

समाधि का अर्थ ही है — इन्द्रियों का बाहरी विषयो से निवृत्त होकर अन्तर्मुखी होना। भारतीय आचार्यों के अनुसार जब तक कलाकार के चित्त में स्वयं रसानुभूति नहीं होती तब तक वह सहृदय को भी रसबोध नहीं करावा सकता। कलाकार अन्तरतर की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का बाह्य प्रत्यक्ष करके अन्तर्मुखी होता है। सहृदय के रसबोध की प्रक्रिया कलाकार से ठीक उल्टी दिशा की ओर होती है। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास यह मानते हैं कि सहृदय पहले बाह्य रूप को प्रत्यक्ष करता है और धीरे धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्त्व की ओर जाता है। इस प्रक्रिया को कालिदास के शब्दों में करण विगम कह सकते हैं। यद्यपि कालिदास ने इस शब्द का प्रयोग भक्ति के प्रसंग में किया है परन्तु इसका कलाकृति के प्रसंग में भी प्रयोग किया जा सकता है। किसी सुन्दर वस्तु के रस की अनुभूति करण विगम से ही होती है फिर यदि वह सचमुच सुन्दर हुई तो उसकी छाप मन पर पड़ती है। इसी मानसिक छाप का नाम ही भाव है। यदि चित्रकार ने अथवात्र की अभिव्यक्ति करनी चाही है तो सहृदय का भीतर की ओर जानेवाला व्यापार यही समाप्त हो जाता है। परन्तु यदि कलाकृति और भी अधिक गहराई से निकली है तो अन्तर्मुखी व्यापार या भावन व्यापार और भी अधिक गहराई की ओर बढ़ता है और करण विगम की प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतर होती जाती है। साधारण आचार्यों ने काव्य और नाटक के प्रसंग में ही रसास्वाद की प्रक्रिया को समझाया है। वह कुछ इस प्रकार है।

रस लोकोत्तर अनुभूति है ऐसा सभी आचार्यों का कहना है। इसका अर्थ यह है कि लोक में जो लौकिक अनुभूति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। प्रत्यक्ष जीवन में जो शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम है वह लौकिक है। परन्तु नाटक या काव्यास्वादन से जो दुष्यन्त और शकुन्तला हमारे चित्त में बनते हैं वे उनसे भिन्न हैं। लोक में घट शब्द का अर्थ मिट्टी का बना हुआ पात्रविशेष। किन्तु यह घटा स्थूल होता है। यदि हम इस शब्द का उच्चारण मन ही मन करें तो घटा पद और घटा पदार्थ सूक्ष्म रूप में चित्त में आ जाते हैं। इस प्रकार जो मानस भूति तयार होगी वह सूक्ष्म घटा कही जाएगी। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानस भूति रखने की सामर्थ्य मनुष्यमात्र में है। इसे ही भाव-जगत् कहते हैं। लोक में जो घटा है वह स्थूल जगत् का अर्थ (पदार्थ = पद का अर्थ) है और मानस अर्थ भाव जगत् का अर्थ है। घट नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म है। लोक में प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है। इसलिए लौकिक न होकर अलौकिक लोकोत्तर या भावगम्य है।

ध्वनिवादी आलंकारिक रस को व्यंग्यार्थ मानते हैं। रस विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा व्यञ्जित होता है। न तो विभाव (शकुन्तला दुष्यन्त) न अनुभाव (स्वेद कप आदि ही) और न व्यभिचारी या सचारी भाव ही अपने आप में रस हैं। मीमांसकों ने अभिधा और सङ्घाता इन दो कृतियों के अतिरिक्त इस तीसरी कृति (व्यञ्जना) को स्वीकार नहीं किया। वे मानते हैं कि वाक्य में तात्पर्य नामक कृति होती है जो कहनेवाले के मन में जो अर्थ होता है उसे समाप्त करके ही विरत होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ रस

बोध तक जाकर विध्रात होता है। व्यजनावृत्ति को अलग से मानने की वे आवश्यकता नहीं समझते। मीमांसका के इस मत का मूल है यह सूत्र यत्पर शब्द सङ्गच्छते (शब्द जिसके लिये प्रयुक्त होता है वह सङ्गच्छते होता है)। इसका एक मतलब यह हो सकता है कि जिस अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द प्रयुक्त होता है वह उक्त अर्थ होता है (तात्पर्यत्व), दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि शब्द सम्बन्ध-मर्यादा से मौज्जिम रह कर जिस अर्थ की सूचना देना है वही उसका अर्थ होता है (तत्परत्व)। पहले अर्थ की व्यापकता स्पष्ट है। परन्तु मीमांसक सम्बन्ध मर्यादा को भी मानते हैं। इसलिये जिसे वे तात्पर्य कहते हैं वह सीमित हो जाता है। उससे व्यजनावृत्ति का काम नहीं बन सकता क्योंकि व्यजनावृत्ति समर्ग-मर्यादा से बंधी नहीं होती। दशरूपकार तात्पर्यवृत्ति को पहले अर्थ में लेते हैं। उनकी दृष्टि में तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। वे तात्पर्य और नादृश्य में भेद नहीं करते। ऐसा मान लेने पर भी व्यजनावृत्ति से जो विनिश्चित अर्थ ध्वनित होता है उसका एक विशेष नाम देना आवश्यक हो जाता है। इसलिये इस वृत्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी रस को व्यंग्यायमात्र मानने में कठिनाई होगी। रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। भाव तो विभाव के चित्त में ही उठते हैं। दासक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होना है जिससे वह अपनी ही अनुभूति का आनंद लेने में समर्थ होता है। सभी आलंकारिक आचार्य मानते हैं कि रस शब्दों का वाय होता है और न 'वाच्य'। वह पढ़ने से उपस्थित भी नहीं रहता। जो वस्तु पढ़ने में उपस्थित नहीं रहती वह व्यजनावृत्ति का विषय भी नहीं हो सकती। रस सङ्गच्छते या दशक के चित्त में अनुभूत होता है पात्र के चित्त में नहीं। अतः व्यजनावृत्ति कदा श्रोता या दशक के चित्त में सूक्ष्म विभाव अनुभाव और संचारी भाव को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ कहा जा रहा है उसमें भिन्न जो नहीं कहा जा रहा है या नहीं कहा जा सका है उस अर्थ की उपस्थिति करा सकती है। भरत मुनि के सूत्र का तात्पर्य शब्द ही मकता है कि सहृदयों के चित्त में वासनारूप से स्थित किन्तु प्रभुपुत्र स्थायी भाव ही विभावों से व्यजित होकर रसरूप ग्रहण करते हैं। नाटक में व्यजना के साधन बचन शब्द ही नहीं बल्कि अभिनेता की चेष्टाएँ भी हैं। इस प्रकार नाटक एक श्रोता को कवि निबद्ध शब्दों में रस की व्यजना करता है दूसरी ओर अभिनेता के अभिनय द्वारा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यजना यदि शब्दों के द्वारा और अभिनय-शक्ति मात्र है तो श्रोता के प्रस्तुत भावा को व्यजित भर कर सकती है उस अनुभूति को नहीं व्यंग्य कर सकती जा शब्द और अभिनय के बाहर है और श्रोता या दासक के चित्त में अनुभूत होना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दशक के द्वारा होता है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यजित किया जा सके। इस कठिनाई से बचने के लिए आलंकारिकों ने पुराने आचार्य भरत नायक के मुझाएँ दो व्यापारी—भावकत्व और भोजकत्व—को किसी न किसी रूप में मान लिया है। मतलब यह है कि नायक निबद्ध शब्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टादि में यह सामर्थ्य भी है कि श्रोता या दशक को पात्रा की भावना के माध्यम अपनी भावना का तात्पर्य स्थापित करा दे। ऐसी स्थिति में उसका भीतर पात्रा का विषय रू

नकार माधारणीय रूप (गुण्य स्था) रखा जाता है फिर उगम एक भीतर-व-
 आवाज का जातिर्भाव होना है जोर वट माधारणागत विभावात् जोर उनकी भावनाआ
 त साधारण म गमय हो जाता है ।

रवि या नाटककार का बोल पात्र व विगणीकरण म प्रवृत्त होता है । हम
 उम रवि को ही मफन कवि मानत है जा पात्रा ता विगण वृत्तित्व निरार सक्ता है ।
 परन्तु य विगणीयुक्त पात्र लीरित हात है । गहन्य व चित्त म जो पात्र बनते हैं व उसकी
 अपनी जनभूतियो से बनने के कारण लाकार या जौरित्व होते हैं । अपन सात्त्विक
 अभिनय द्वारा कवि के जतगत भाव का भावन वगत हुए होने के कारण इह भाव कहा
 जाता है । नाटा अभिनय सम्प्र धवान रमा का भावित करान के कारण य भाव कह जाते
 हैं । (नाट्यशास्त्र ७।१) उमग जान पता है नि विभाव द्वारा आहृत अय को अनुभा
 वात् शिवा प्रतीतियोग्य करन के कारण कवि के अन्तम भाव का अभिनयात् द्वारा
 शिवा का विषय बनाने के कारण विविध अभिनयास मय र रसनवान रमा को मुवा
 तित्त या रजित करके के कारण इनका नाम भाव है । तीरा स्थितिया हुइ — (१) कवि के
 भाव (२) विभाव द्वारा आहृत अय आर () अभिनया से दगाव के चित्त म
 नून लवाना रमा । एक को प्रतीतियोग्य करान का काम भाव का है (कवि के अत
 तात्पर्य) दूसरे को भावना का विषय बनाने का काम भाव का है (विभावाहृत अय
 शिवा से रजित या अभिनय करने का काम भाव का है (अनुभूति को) । इत
 भाव रवि के चित्त म स्थित भावा को प्रतीतियोग्य बनाता है विभाव द्वा
 र । न जा को भावनीय बनाता है जोर गहन्य व हन्य म वातनारूप म स्थित स्थायी
 य को भावित वासित या रजित करता है । ये कवन पात्र की मानसिक अवस्थाए न
 * । कवि के भावा की प्रतीति के माधुन अनुशाय पात्र का मन स्थिति के साथ मनुदय के
 मनोभावा का सामजस्य स्थापन और उमने त करण मे प्रसुप्त स्थायी भाव को बहु
 विचित्र रगा और वर्णों से रजित बामन करव जदिक उपभोग्य बनाने के साधन हैं ।
 भान मुनि न भाव शिवा प्रयोग अभिनया का दण्डि म गवकर किया है । उ हाने परि
 भाषा देते समय अवश्य ही मानसिक आवग मयगो के जरा म इमका प्रयोग किया है ।
 इतम जाठ स्थायी हैं आठ मत्त्वज हैं जोर तनीम यभिचारी हैं । वसे तो सभी यभि
 चारी हैं पर जाठ अप साहृत अरिक्त स्थायी गन के कारण स्थायी कहे गए हैं ।

कई शर शिवा मनोभावमात्र गमभन का प्रगलत किया जाता है । यभिचारी या
 गवारा कट गण भाव म वृद्ध तो एम हैं जिसे मानसिक ही चित्त म अपनी ही अनुभूतिया
 व तान वान से भाव जगत व दुष्यत और गकुलता का निर्माण करता है । उही के
 मूम भावा के मिश्रण म इम रम या जनभव करते हैं । इमलिए कवि द्वारा विगोपाहृत
 पात्र सामाज्य मानव अनुभूतिया म पुनर्निमित होकर साधारण कर स्थि जात हैं । सहन्य
 परा म मानम भूमि र शिवा मूम पामा का निमाण करता है । शिवा जरा अध
 अतीरित स्वर पर जाता है ता उमम सामा य मानव अनुभूतिया म निर्मित हान के
 कारण लीरित विगणमात्रा का एक ऐसा रूप बनता है शिवा माधार लीरित रूप
 रहन है ।

भावकत्व जापार कर्ता पात्रा का भावनात्रा क साथ सहृदय का भावनाश्री का तादात्म्य हाता है एसा ऊपर कहा गया है पर यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सबत्र पान क साथ तादात्म्य नहीं हाता। बुद्ध रमा म ज्ञाना का जानम्बल रत्ता होता ह जा आश्रय का। एम प्रकार आश्रय क साथ तादात्म्य सम्भव हाता है पर एम कभी आश्रय ही श्रोता का जानम्बल हा जाता है। जहा आश्रय क साथ श्रापण दगाक का तादात्म्य हो जाता है वहा रस पूणाग हाता है। दूसर प्रकार म रस म अनुभूति रहती है। पहनी स्थिति कवन टूटाग और वार एन टा रमा म नी सम्भव है। य ज्यादा भावात्मर हा ह जवनि अथ रम अधिकतर कल्पनात्मक गत है। एम कारण है कि पूणाग रूपनी म कवल ले हा रम हाते है—बार और टूटाग।

एम ज्ञान का चित्र और मूर्ति क प्रयोग म भी इमा प्रकार विनियोग दिया जा सकता है। चित्र या मूर्ति भी मन म एक मानममूर्ति की रचना करन म समर होत है। वहा भा महृदय दगाक अपना हा मानम भूमि क तान वान म रान टा चित्त की अनुभूतिया का जास्वात्मन करना है। यह ज्ञान करण विगम का प्रक्रिया ग हा मिद हो सकती है।

यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मनुज विन कर्ता प्रक्रिया का निमाण करता है व एम प्रकार की माया ही है। उदात्तरण क विन चित्रविगिन गकुत्तना नहा है काज है रग है और रगा है। उमस नीकिय गकुत्तना का राम नहा वन सकता। दुपत्त न गकुत्तना का जा चित्र बनाया था उस केवर वट म्य एमा गज हाय करने गगा था मानो वह मचमुच हात्मान की गकुत्तना हा। विदूषक न मन नी मन कहा था कि जय य पागन हा गया है। एसा पागनपन से राजा का विवल् करन क लिए उसन राजा से बायाया कि यह चित्र ह। एम पर राजा न क्ता रि हाय गिन। तुमन यह क्या जनथ कर डाता। मरा हृदय ता गकुत्तनामय हा गया था और म उसका साभात् दगात जुभर कर रहा था। तुमन या विनाकर मनी प्रिया का विर से चित्र बना डाता

दगनपथमनुभवत साम्प्रति तमरा रत्यन।

स्मतिकारिणा स्वया मु—पुनरपि चिन्तना गता ॥

यहाँ इगिन से करण विगम की प्रभविणता टियाइ गई है। चित्र क वापरा एम न दगाक क हृदय म गकुत्तना की मानमी मति का निमाण प्रिया रीर गता यह भून हा गया कि व काज रग और रगा रस रगा था। एमरे पुन भा एगल न एक मनाराक वान कहा ॥ उम समय व चित्रफन हाय मल नीक्य था। एम ॥ चित्रज्ञान म उत्पन्न करण विगम का प्रक्रिया गुरु नगा था। उम समय व चित्र पनक का मचमुच ही चित्रफन समभ रगा था। उस समय उगाक मा था। प्रक्रिया य थी रि मरी प्रिया जे साभात् उपस्थित हू था तब ला मने उम रगागि पर अब चित्र म जाँक दुई उगा। तगवीर हा मुन बन जान गया है। य एम—रगा है जवे कोई रगा मरा है न। तो छोकर मयनगा क पाद्य लेन

साक्षात् प्रियामुपगतामपहाम पूर्व
 चित्रापिता पुनरिमा बहुमयमान ।
 स्रोतावहा पथि निकामजनामतीत्य
 जात सस प्रणयवामग तण्णियायाम ॥

यहाँ जो चित्र को मगतपणा कहा गया है उसमें उसकी मायाविनी शक्ति की शर ही इंगारा किया है। मगतपणा का पानी नौकिक पानी नहीं है बल्कि मानस जल का करिपन है। उसी प्रकार चित्र या मूर्ति मास-जगत् म् भावमूर्ति का निर्माण करते हैं। यह बलाकार की मायाविनी शक्ति नहीं तो और क्या है ?

डा० नगेन्द्र की समीक्षा पद्धति

कुमार विमल

डा० नगेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व के कई पहलू हैं और प्रारम्भिक जीवन में कवि रह चुकने के कारण सबसे बड़ी बात यह है कि ये केवल शास्त्रज्ञ आचार्य ही नहीं तद्विद् और आद्वयता रसज्ञ भी हैं। सचमुच कवि-सुलभ रसिकता और सृजन-संवेदना के कारण ही इनका आलोचना शला सद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों ही धरातला पर रसोत्सिक्त है तथा ममस्पर्शी आवजना में पगी हुई है। इसीलिए शास्त्रीय बिस्तपण क क्षणा में भी इनकी भाषा कही कहीं प्रातिम सस्पग से रसम्भरा और घनेतर हो उठती है। अतः इनके निबन्धों में एक सघे गलीकार का पहल किया हुआ अभिव्यक्ति कौशल देखते ही बनता है पाठित्य और फनकारी का दुलभ मत। एक ओर रमशास्त्रीय प्रति माना का सौम्य विनियोग और दूसरी ओर कारयित्री प्रतिभा की अमिसिचित भूमिका। मत तब यह कि शास्त्रनिष्णात आचायत्व और कवित्व का सहस्यति न डा० नगेन्द्र की आलाचना-शला को एक अप्रतिम शक्ति में मण्डित कर दिया है। यथानुरूप शली में शास्त्रसद्द विव्लपण व बीच कुछ भ्रजमान शब्दों के रहने पर भी इनकी गद्य-शली गुरपाक नहीं है। उसमें जहाँ-तहाँ नमनाय लाच है। अपने लेखों को अपने से कई बार सगोधित करके ही प्रकाशित करने व अभ्यास के कारण इनके शास्त्र प्रयोग में निवती पर सुना हुई सटीकता मिलती है शास्त्र का वह अवयव या वागाडम्बर से आत्रात निविड शला का वह मोह नहीं मिलता जिसस गद्य-शला कभी कभी तुदिल हा जाती है और उनके कुछ अंग गलस्तन की तरह ब्यथ हा लटकते दीन पडते हैं। इस प्रकार विग्यता स स्निग्ध विद्वता के कारण इनके आलोचनारमक दृष्टिकोण की रेखाकिन विनेपता यह है कि ये परम शास्त्रनिष्ठ होकर भी आत्मानुभूति को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं। फलस्वरूप इनकी आलोचना अनुभूति के उपधान का कभी परित्याग नहीं करती है और स्वभावन एक चमक या धार के कारण रसनीय तथा पुरअसर बनी रहती है। इसीलिए नगेन्द्र शास्त्रनिष्ठ होकर भी मूलतः रागी आलोचक हैं। निरचय ही इस रागप्रिमता का अधिकांग धेय इनके उस प्रारम्भिक कवित्व को है जिसने रूप रस गद्य और स्पद्य की अनेप चाह का सचारित कर इनसे ऐसी पकितया लिखवा सी हैं—

तुमने नयना म मंदिर उपन य उलमाकर
बौद्धिकता का चिर गव आज दान गण्ड किया।

जोर अचरज यह है कि इस रागप्रियता से वही औचित्य का व्यतिक्रम नहीं हुआ है। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह रागप्रियता ही नगद की आलोचनात्मक कृतियों में मिननेवाले सजनात्मक आग्रह का प्रधान कारण है। डॉ० नगद तो गिदान्तन यह स्वीकार करते हैं कि राग-तत्त्व की उभयनिष्ठ स्थिति के कारण साहित्य मंत्रन और साहित्यालोचन परस्पर विरोधी कम नहीं हैं। इन दोनों में यदि अन्तर है तो पता ही कि साहित्य-सजन में राग-तत्त्व प्रमुख और बुद्धि तत्त्व गौण रहता है तथा साहित्यालोचन में बुद्धि-तत्त्व प्रमुख और राग तत्त्व गौण रहता है। दूसरी बात यह कि साहित्य-मंत्रन और साहित्यालोचन—दोनों का आधार आत्माभिव्यक्ति है। इनका कहना है कि आत्माभिव्यक्ति का तत्त्व ही आलोचना को साहित्य का पद प्रदान करता है। आत्माभिव्यक्ति के तत्त्व से हीन होने पर हम आलोचना को सब कुछ कह सकते हैं परन्तु साहित्य नहीं।

डा० नगेन्द्र का जीवन साहित्य-साधना और शास्त्र चर्चा का अनिच्छ प्रवाह है। इनकी पस्तकावार कृतियों का प्रकाशन १९३७ ई० से प्रारम्भ हुआ। सबसे पहला बन वाला प्रकाशक म आई जिसमें एक भावो छवाममया कहानी और छात्र-जीवन की कई गोविधा संकलित थी। इनका पहला आलोचनात्मक निबंध (हिन्दी साहित्य के इतिहास) भी १९३७ ई० में ही साहित्य मन्त्रेश (आगरा) के प्रथम अंक में प्रकाशित हुआ। तब से १९४४ तक ये साहित्य मन्त्रेश में खूब लिखते रहे। इनकी पहला आलोचना पुस्तक है— सुमित्रानन्दन पन्त। इनके बाद तो मारकेन एक अध्ययन आधुनिक हिन्दी नाटक विचार और विश्लेषण इत्यादि आलोचनात्मक ग्रंथों का ताता बंध गया। आधुनिक हिन्दी नाटक नामक ग्रंथ के रचना-काल से ही इनकी आलोचना पर मनाविज्ञान और मनाविश्लेषणशास्त्र का अध्ययन का प्रभाव दीप्त पड़ता है। इसी अवधि में मन्त्रेश कायद ' क्रोचे रिचर्डम इत्यादि को गहन मनायोग का साथ पढ़ा। फलस्वरूप इनकी प्रवृत्ति व्यावहारिक आलोचना की अपेक्षा सद्धान्तिक आलोचना की ओर अधिक हो गई और ये आलोचना के क्षेत्र में बौद्धिक आभिजात्य व विस्वासी बन गये। इसी बौद्धिक आभिजात्य के कारण इनका सुमित्रानन्दन पन्त साक्षेत् एक अध्ययन और कामायना का अध्ययन की समस्याएँ जसी पुस्तक भी जिनका अधिकतर पाठक निस्मृह कानजा व छात्र जोर अध्यापक है बटकतापिणा पायिया व स्वर से नितान्त भिन्न है।

यह मन्त्र है कि डॉ० नगद उ बहुन किया है किन्तु इनका साहित्य उदरम्भरि उपका । साहित्य की तरह परिमाण में विपुल होकर भी प्रकार में हीन नहीं है। मन्त्रेश कायद यह विवेकता है कि मन्त्रेश वदत चितकर भी उहुत अछा लिखा ह। अन

१ कायद व सिद्धांतों का डॉ० नगद पणत स्वीकार नहीं करते किन्तु इन पर कायद व सिद्धांतों का आंशिक प्रभाव अवश्य है। द्रष्टव्य— कायद और हिंदी साहित्य विचार और विश्लेषण पृष्ठ ५८।

यह विनत गव के साथ कहा जा सकता है कि इन्होंने एक रसनिष्ठ आचार्य के रूप में अपने ढंग से हिन्दी-आलोचना का अभिनियतन किया है। इनकी साहित्य साधना में एक सातत्य है—वह सातत्य जो वशिष्ठ्य का वाहक हुआ करता है। लेखन के अलावा इनका सम्पादन-काय भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनके द्वारा सम्पादित या अनूचित कई ग्रन्थ—अरस्तू का काव्यशास्त्र, काय में उदात्त तत्व इत्यादि—हिन्दी-आलोचना को नवीन आधारगिना देनेवाले ग्रन्थ हैं। आनेवाला युग, सम्भवतः नगेन्द्र की हिन्दी-आलोचना का प्रवर स्वरूपित इसलिए मानना कि इन्होंने हिन्दी आलोचना के स्वरूप या स्थापत्य को गढ़ने का प्रयास किया है। सचमुच हिन्दी आलोचना और शोध को आधारभूत सामग्री देने के लिए इन्होंने एक ओर महत्त-साहित्य के अनमोल ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का भूमिका-महित सम्पादन किया है और दूसरी ओर अरस्तू, लोजाइनस और होरस जैसे पाश्चात्य विचारकों की कृतियों का हिन्दी रूपांतर कर उन पर अभिनव प्रकाश डाला है। इस तरह इन्होंने हिन्दी-आलोचना की जमीन को विभिन्न स्रोतों में सींचा है उस जरखेज बनाया है ताकि आनेवाले लोग अच्छी फसल लगा सकें। लेखन सम्पादन से लेकर टीम तक तक आन में इन्होंने स्पष्टणीय दक्षता का परिचय दिया है। मानविकी कोणों की योजना का कार्यालय इसका प्रमाण है। किन्तु वनबालों से प्रारम्भ कर रस सिद्धान्त जस उत्तम ग्रन्थों की रचना कर लेना भी इनका सज्जन सक्त्त गिणिल नहीं हुआ है। रस सिद्धान्त के प्रकाशित होते होते उनके नयन का आगामी कार्यक्रम निर्धारित हो चुका है। अभी कुछ दिना तक इनका प्रयास सस्मरण एवं यकित्तव चित्र लिखने का है। तदनंतर, अलकार सिद्धान्त पर पुस्तक लिखने की योजना है जिसकी रचना विम्ब प्रतीक आदि काव्य-सज्जना के आधार-नस्त्वा की विवेचना परम्परा को नवजीवन देने के लिए की जाएगी।

डा० नगेन्द्र के अत्यप्यन्त प्रशंसित साहित्य को देखने से यह तथ्य सामने आता है कि इनका प्रमुख क्षेत्र काव्यशास्त्र है तथा इनकी रसप्राह्वता या काव्य चेतना की मामा छायावादी बहिता है कारण छायावादी दृष्टिकोण परधर्ती विवास में इनकी रसप्राह्वता नहीं रस सकी है। गायक काव्यानुशीलन में अत्यस्त हो जाना कारण गद्य साहित्य को आधुनिक विभागा—उपवास कान्ती रखाचित्र रिपोर्ताज न्त्यादि—के अनुशीलन में इनका मन नन्ना रमना है। सम्भवतः इस दृष्टि परिमाण में इनकी रसवादी सत्त्वावेपी दृष्टि का हाथ हागा। किन्तु इस मोमा के बावजूद इनकी आलोचना आचार्य गुवन के द्वारा प्रवर्तित शास्त्रीय आलोचना का परिणत फल है जिसमें गुवन जी में भी अधिक गन्तुनन पक्त्था और शास्त्रीयता है। अतः नगेन्द्र धुक्नोत्तर शिन्दी-समोत्तरा के गौरव गिखर के और उग तत्त्वनिष्ठ आचार्यत्त स मणित करनवान विचारका में अग्रगण्य है। इन्होंने कई दृष्टियों में गुक्नोत्तर समीक्षा को समृद्ध किया है और गुक्नोत्तर समीक्षा में उन मुख्य प्रवृत्तियाँ—शास्त्रीय मौल्यवादात्मक मनोवैज्ञानिक ममाज शास्त्रीय अनिगमिक मदान्तिक और गायपरक—में ग कई प्रवृत्तियाँ को अपन सज्जन गायक परिणत किया है।

यह सब कि गुक्नोत्तर नगेन्द्र से प्रातिभ अ तत्त्विकी मध्यनता में जाग ध

कित्त उनमें एक पूर्वाग्रहयुक्त कट्टरता थी जिसका गिकार क्रांचे व अभिव्यक्ततावादा
छायावाद इत्यादि को बनना पड़ा । सोमाग्य से नगेद्र के साथ कोई ऐसी पवित्रतावादी
मर्यादावादी या नतिक कट्टरता जुड़ी हुई नहीं है । दूसरी बात यह है कि गुवल जी पश्चिम
के प्रति बहुत अनुराग थे । उन्हें साहस करने एक प्रकार के उत्कट स्वदेशवादा (Chau
vinism) का पोषक कहा जा सकता है । किन्तु नगेद्र के पास स्वदेशी साहित्य के प्रति
अडिग अनुराग रहने पर भी पश्चिम के प्रति किसी बद्धमूल वजना की जलित प्रिय नहीं
है । अत आगे चलकर जब विश्व समालोचना (Welt Kritik) स्पष्ट स्वरूप ग्रहण करने
लगेगी तब उसके निर्माण में योग देते समय हिन्दी-आलोचना का प्रतिनिधित्व नगेद्र ही
अच्छी तरह कर सकेंगे क्योंकि शुक्ल जी की अनेक मायताएँ जातीय पूर्वाग्रहों और
हठी आदर्शों के कारण विश्व-आलोचना के सावधानिक सकारण में स्थान नहीं पा सकेंगी ।

रस-ख्याति और आनन्द प्रवित रस-बोध के प्रति अत्यधिक आग्रह रखने के बाद
भी नगेद्र ने कई विचारधाराओं के प्रभाव को वाञ्छित रूप में स्वीकार किया है जिसमें हम
मनोविश्लेषणवाद उपयोगितावादा प्रभाववाद और क्लासिसिज्म का समीकृत प्रभाव
कह सकते हैं । इन विभिन्न प्रभाव-श्रोता के कारण ही इनकी आलोचना पद्धति एक साथ
शास्त्रीय प्रभाववादी तथा वनानिक है । स्वदेशी विज्ञान के बीच नगेद्र पर आचाय
गुवल की रसवादी दृष्टि का निरिक्त प्रभाव है क्योंकि नगेद्र भी रसवाद को काव्य
शास्त्र की अन्तिम परिणति के रूप में स्वीकार करते हैं और रसवाद को काव्य अथ के
माध्यम से आत्मसाक्षात्कार का सिद्धान्त मानते हैं । किन्तु गुवल जी की रसवादी धारणा
से प्रभावित होकर भी नगेद्र कुछ बातों में उनसे असहमत हैं । जैसे इन्होंने गुवल जी को
आधुनिक युग में भारत का सर्वप्रथम रसवादी आलोचक मानकर और उनके प्रति अत्य
धिक आनन्द भाव प्रकट करके भी उनकी सगुण रस धारणा अर्थात् रस के साथ सगुण
भावना के प्रकृत सम्बन्ध की अनिवायता का खण्डन किया है ।^१ इस प्रसंग में इन्होंने
अभिनवगुप्त और प्रसाद के मत का समर्थन किया है । दूसरी बात यह है कि शुक्ल
जी से प्रभावित रहकर भी इन्होंने उनकी अतिरिक्तता को अस्वीकार किया है । अति
नतिक दृष्टिकोण के प्रति इनका भकाव गायद वसति नहीं है कि ये आनन्दवादी
मूल्या के विन्यासी हैं और अपने साहित्यिक व्यक्ति व के निर्माण-काल (१९३२ ई से
१९३७ ई० तक) में छायावादी और रामाटिक कविता से विशेषतः प्रभावित रह चुके
हैं । इसलिए स्वभाव में आनन्दवादी होने के कारण इनका व्यक्तित्व प्रवर्तितमय है जिसे
आचायत्व और अध्यापन के पेशे ने गहन-गम्भीर बना दिया है । इसलिए इनके सस्कार
मूलतः जडभूत नतिक आनन्दवादी की अपेक्षा सहज मानव मूल्या के अधिक अनुकूल हैं ।
किन्तु इनमें यह नहीं मममना चाहिए कि इन्होंने नतिकता की नितात अवहेलना की है ।
भरा मममस यह कहना उचित होगा कि इन्होंने नतिकता को मानवता के साथ स्थान
दिया है कारण उनकी निर्रान्त मत है कि मानवता का महत्त्व नीति-सहिता से अधिक
है और जीवन मूल्या की साधकता नतिक होने में नहीं मानवीय होने में है । इनकी

डा० नगेन्द्र की समीक्षा-प्रवृत्ति । २०३

भारम्भिक कृतियाँ में तो निश्चय ही नतिक मूल्यों के प्रति निविड अनुरक्ति का कोई संकेत नहीं मिलता है। इधर आकर नतिक मूल्यों के प्रति यद्यु उदार होते जा रहे हैं क्योंकि इनका अतिप्रिय रस सिद्धान्त भी तो अन्ततोगत्वा नोतिगास्त्र की दार्शनिक आनन्दवादी धारा के ही अन्तगत आता है। तीसरी बात यह है कि इन्होंने रस सिद्धान्त के निरूपण में आचार्य गुणक की तरह लोकमगल और सामाजिक सद्म पर बहुत अधिक बल नहीं दिया है। साथ ही इन्होंने गुणक जो वे असद्ग रस सिद्धान्त के निरूपण में वर्षाविक चेतना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को नूतन प्रतिष्ठा दी है।

यद्यपि इन्होंने रसवाद को उसके रूढ़ रूप में स्वीकार नहीं किया है और उसको आधुनिक युग-बोध एवं परिवर्ण के सद्म में देखने का प्रयास किया है तथापि अपनी आनन्दपरवसायिनी रस निष्ठा के कारण वे पुराने आचार्यों के बीच भट्टनायक और अभिनवगुप्त से विशेष प्रभावित रहें हैं। भट्टनायक से प्रभावित होने का मुख्य कारण यह है कि भट्टनायक ने साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना के द्वारा प्रेक्षणीयता से मरद उपस्थित किया है। इसी तरह अभिनवगुप्त ने प्रभावित होने का मुख्य कारण यह कि अभिनवगुप्त ने समष्टिगत रस की प्रकल्पना के द्वारा सामाजिक वस्तानुभूति और सामूहिक रस चेतना का अभूतपूर्व व्याख्यान उपस्थित किया है।^१ इस तरह विभिन्न प्रभाव-स्वाता में निर्माजित अध्ययन की गम्भीर व्यापकता अभिव्यक्ति की प्राजलता और वचारिक प्रौढ़ि ने मिलजुनकर इनकी आलोचना को आवश्यक वगिष्ठ्य तथा इनकी समीक्षापनामा को गान्त्रीय पृष्ठाधार प्रदान किया है।

एक शास्त्रनिष्ठ आचार्य समय चिन्तक और रससिद्ध समीक्षक के रूप में आधुनिकों के बीच नगेन्द्र की कुछ उपनयिया बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए आचार्य गुणक से लेकर अपनी पीढ़ी तक के आलोचकों के बीच इन्होंने श्रोत्रे की सबसे अधिक ज्योती तरह समझा है और श्रोत्रे के मतध्यों की सर्वाधिक सन्तुष्टि एवं गुलके हुए ढंग में उपस्थित किया है। इसी तरह छायावाद के मूल्यांकन को उचित दिना दन वाते आनाचकों में मन्दुनारे बाजपेयी की तरह इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। तदनतर नगेन्द्र ने सबसे प्रथम रस सिद्धान्त की 'याम्या में आधुनिक मनोवैज्ञानिक अपेक्षित महत्त्व दिया है और कुछ दूर तक रसवाद का मनोवैज्ञानिक अर्थापन भी किया है। इस प्रकार आधुनिक काव्यानामन का सिद्धान्त-सहितता को गन्त में इनका उत्त्थेयनीय योग है। इस दृष्टि से इनकी उपनयि का प्रवच है—सन्निष्ठ काव्यानामन का उन्नयन। एक और

१ डा० नगेन्द्र ने भट्टनायक की इस ऐतिहासिक महत्त्व की उपलक्ष्य पर यह भावो व्यक्तिसमयी टिप्पणी दी है—'मिरी धारणा है कि विश्व के आलोचनाशास्त्र में भट्टनायक से पूर्व इस मूल प्रश्न का ऐसा प्राणात्मिक समाधान किसी आचार्य ने प्रस्तुत नहीं किया।'

इन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र और हिन्दीतर भारतीय भाषाओं व काव्यशास्त्र व तुलनात्मक अध्ययन तथा श्लेषशास्त्र जन्तुगीतन की एक नयी शिखा का निर्माण कर भारतीय बहुरूप के क्षेत्र में भावनात्मक ऐक्य को स्थापित करने का प्रगमनीय प्रयाग किया है और दूसरी ओर जगदी साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन का नाम उठात हुए इन्होंने बभवाली मसूत साहित्यशास्त्र के विषय का पूरा उपयोग किया है। अतः य पौरस्त्य और पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के प्रबुद्ध समवाय व रूप में आधुनिक शिखा आलोचना व समय उन्नायक हैं। विगत दशकों के मय भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समन्वय से एक ऐसा पूणतर काव्यशास्त्र का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें काव्य-सजन और काव्यशास्त्र का व्यापक विवेचन हो। अतः य कहना केवल सत्य को स्वाकार करना है कि ज्ञान विस्तार और यज्ञान जाव यकताओं के अनुरूप हिन्दी-साहित्य में जिन नवीन सन्निध काव्यशास्त्र का उन्मय हुआ है उस विकास के नान मनीषिया का पविन में आचार्य गुवन व वाद डा नगद ही दूसरे गौरव गितर है। अतः साथ यह बुयाग रना है कि य अपने आलोचक पविनत्व व निर्माण क्रम में पविचम से पूरव आए और स्वभावतः बहुत अगा में समन्वयवाता हो गय फनस्वरूप रस अन्कार रीति ध्वनि आदि का किञ्चित नवीन याख्या या पुनराध्याय करने में सफल हा मक। इस सन्निध काव्यशास्त्र व प्रति अपने हचि विवाम का ध्यान करते हुए इन्होंने हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रथम संस्करण के वकनध्य में लिखा है— काव्यशास्त्र क अध्ययन में या ज्या मन प्रवग किया है त्या त्यो यह एक तथ्य मरे मन में स्पष्ट हाता गया है कि भारत तथा पविचम व दाना की तरह यहाँ के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे व पूरक हैं और पुनराध्याय आदि व द्वारा उनके आधार पर हमारे अपने साहित्य की परम्परा व अनुकूल एक सन्निध आधुनिक काव्यशास्त्र का निर्माण सहज-सम्भव है। अतः इस धारणा का व्यावहारिक आवय हिन्दी काव्यशास्त्र और हिन्दी ध्वन्यालोचन की पाठ्य प्रश्नर भूमिकाओं में तथा रस सिद्धान्त व कनिपय पृष्ठा में उपस्थित किया है। अतः कहना है कि वतमान साहित्य जगत में पाश्चात्य आलोचना के मान प्रतिमान के अन्तर्गत रम गए हैं। क आज का साहित्य मनीषा उन्ही क माध्यम में चिन्तन और मूल्याकन करता है। अतः प्राचीन काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों की यथावत अवतारणा की अथ ता उनका नयी आलोचना पद्धति में विचार विवेचन करना आवश्यक हा गया है। अतः अतः प्रायः प्रत्येक भाषा का प्रबुद्ध आलोचक व म स क म नान चार शास्त्रों का सह मनोयोग व माय सम क्त य का पानन कर रहा है जिसके फलस्वरूप एक नय सन्निध काव्यशास्त्र का उन्मय हा रहा है। इस प्रवृत्ति का भी सर्वाधिक विकास हिन्दी और मगदी में ही हुआ है और अतः वाद बगला का नाम आता है। अतः आता है अ नगद सन्निध काव्यशास्त्र का निर्माण में अतिशय हचि र्ग और पौरवाय तथा पाश्चात्य कला सिद्धान्तों का समन्वय का अवयण कर विन्व मस्कृति की साथे ज्ञान व आलोचना व अन्तर्भाव मान रना का निर्धारण करेग क्योकि साहित्य तथा कला की

मूलवर्ती धारा इतिहास भूगोल एवं परम्परा की अनक उच्च मीमित वयारिया म
बन्कर भी ए नत्व को प्रवाहित करती है जिसकी परल व निए अब तक किमी
मावमौम नित्य का जभाव है ।

उपयुक्त विवचन से स्पष्ट है कि डा० नगेद्र का मतप्राही (पत्नवप्राही नहीं)
परम्परा के आधार पर भारतीय तथा पाश्चात्य कायगाम्य का सामग्र्यपूर्ण पुनराख्यान ।
विनु नम अभीष्ट की मिद्धि म कुट्ट बाया इमनिए हो सकती है कि डा नगेद्र क काय
बाध की मीमा छायागामी वाक्य चतना है। उनकी रुचि प्रगतिवा प्रयागवा नयी कविता
एव गद्य की अनक आधुनिक विधाया म पूरी तरह नहीं रम सकी है। दूसरी बात यह है कि
इनके आलोचनात्मक विनयण म समाजशास्त्रीय चतय का वाछित मात्रा म समावा
नहीं है अर्थात् य अपनी साहित्यिक धारणाया के निर्माण-काल म प्रगतिवा आलोचक
प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त के निरूपण म रह चुके हैं । यदि य मनोविश्लेषणास्त्र व
अनपान म समाजशास्त्रीय चतय पर नी उचित बन दे पान ता उनकी आलोचना
आर अधिक परिपूर्ण होती । तीसरी बात यह है कि शास्त्र चचा म तीन रत्त रहत य
उम उपरम्परित चिन्तन मे नगभग विमुख हो जाते हैं निमम नया आविष्कारताया व
अनुसंधान आलोचना व नवीन मानक तयार होत हैं। अत इनक कुछ विचरण मित्रा न
यह मकन किया है कि इनका चिन्तन-पद्धति दिनानुदिन शास्त्रग्रन्थ और गणकमिक हाता
जा रही है । माघ हा स्वानुभूति तथा आत्म प्रीति प्रतीति व आधार पर आनाध्य कृति
व विनयण और मूल्यांकन की प्रवृत्ति जो इनक पाम पहन पर्याज मात्रा म धा
धीर धीर घटती जा रही है । चौथी बात यह है कि प्राचान काव्यशास्त्राय सम्प्रदाया
या वागों व बीच रमना के प्रति इनका आग्रह पक्षपात स बन्त दूर नहीं है । जा
ओचित्य मिदालन वनागाम्याय दष्टिकोण से अय सम्प्रदाया या मिदान्त की अपना
अधिक पापन और कला-मयुज है वह इनके रमवादी आग्रह के कारण नसे उचित आगमा
नग पा सका है। इयार बाकर इहने रमानिन ओचित्य की दष्टि से ओचित्य मिदान्त
व प्रति योगी अनुकूल धारणा व्यक्त की है। रमाश्रित ओचित्य इमनिए कि इनका
दृष्टि म ओचित्य मिदान्त रम मिदान्त से ही निकला है। अत ओचित्य इनके अनुसार
एक प्रकार स रस का अंग है और रम की परिधि म ही ओचित्य की गता या मायकना
है। इय तरह य स्पष्ट है कि इहने अपन रमनाया आग्रह का विनम्र बनाने का चला
नहीं की है। फलस्वरूप इन आग्रहा की गभा के निए इहने रम मिदान्त की नीमात्रा
का अपाकरण करत हुए रस सिदान्त को कुछ दूर तक शास्त्र रुद्धिया स मुक्त कर अपन
रम उपरिष्ठत किया है। तभी ता इहने रस परिवर की पूणता का रमवता का सावत्रिक
प्रमाण नहा मानकर मगटा रमवादा आलोचका का माव-गद्य वात्री प्रकल्पना तक या
स्वीकार कर लिया है।

अत तब नी प्रकाशित वृत्तिया म रम मिदान्त इनका साहित्य मायता का
उतमाग है और नर। नगभग तीन रमना की निरूपण गाम्य चर्चा का विशिष्ट
परिणति । इहने रम ही स्वीकार किया है कि यह रस मिदान्त इनक लिए कोष्ट

गाम्त्र विनोद नो है बल्कि साधुकाव्यनिपवण स निर्मित अत्र मस्कारों की सहस्र संहति है। इस ग्रन्थ के द्वारा इन्होंने आचार्य गुबन व स्वप्न को साकार करने की चेष्टा की है क्योंकि आचार्य गुबन रस सिद्धान्त को भारतीय काव्यगाम्त्र का मेरुण्ड ही नहीं मानते थे बल्कि उसे एक सावभौम साहित्य सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे जिसे व अस्वस्थता एवं अमानसिक निधन के कारण नहीं कर सकें। अत्र इस ग्रन्थ ने आधुनिक काव्यशास्त्र के गौरवपूर्ण विकास व इस तृतीय चरण की रस सिद्धान्त का स्वयं-युग बना लिया है। मधुसूदन त्रिभूवन रस सिद्धान्त का चरम विकास आनन्दबोधन भट्टनायक अभिनवगुप्त महिमभट्ट भास्करराज इत्यादि आचार्यों ने अपनी दार्शनिक प्रौढि के आधार पर किया था उगवा पुनर्विक्रम डा० नगद्व ने मानव ज्ञान की अत्याधुनिक उपलब्धियों व जालोक में बहुत ही निर्भ्रान्त ढंग से किया है। इन्होंने बहुत पहले साहित्य के मानस्य शीघ्र निबन्धन निबन्धा था रस की कल्पना वस्तुतः अत्यन्त व्यापक आधार पर की गई है। आत्र की शब्दाबली में उसका पुनराख्यान कर आधुनिक काव्यालाचन के सभी मान उसकी परिधि में आ जाते हैं। यूरोप के आधुनिक सौन्दर्यवादियों की भाँति वह जीवन से असंपृक्त नहीं है—वह तो जीवन के स्थायी भावों पर ही मूलतः निर्भर है। ननिक मूल्य भी अपन उदात्त रूप में रस में अन्तर्भूत हैं क्योंकि रस सिद्धान्त नीति विरोधी नहीं है—नीति विरोधी तत्त्वा को रसभास रूप में अभिज्ञासित कर वह जीवन के स्वस्थ-नतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है।^१ अतएव इनका विनम्र मत है कि साहित्य का चरम मान रस ही है जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि सौन्दर्य और उपयोगिता शाश्वत और सापक्षित का अन्तर मिट जाता है अथ कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्यान हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।^२ अपने इसी रसवादी दृष्टिकोण का विस्तृत पल्लवन और विवेचन इन्होंने रस सिद्धान्त नामक ग्रन्थ के शक्ति और सोमा शीघ्र अध्याय में किया है ताकि मानव मूर्तों पर आश्रित रस सिद्धान्त की सावभौमता एवं सावकालिकता सिद्ध हो सके।

डा० नगद्व को रस सिद्धान्त में इतनी गहरी आस्था इसलिए है कि रस सिद्धान्त में साहित्य के मूलभूत प्राण-नन्व—अनुभूति के कल्पनात्मक आस्वाद की जो सश्लिष्ट एवं सर्वांगपूर्ण धारणा सन्निहित है वह अत्यन्त दुर्लभ है। इतना ही नहीं रस वह व्यापक तत्त्व है जिसमें काव्यगत सम्पूर्ण भाव-सम्पत्ता का अन्तर्भाव है। यानी रस साक्षात् भाव साग है—भाव के अभिपक्ष^३ स उत्थित। इही कारणों से नगद्व की अडिग रस निष्ठा रस सिद्धान्त की शक्तिमत्ता एवं व्यापकता में इतना विश्वास रखती है कि रस सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक युग तथा प्रत्येक देश के साहित्य का मार्मिक मूल्यांकन किया जा सकता है। किन्तु इनका रस सिद्धान्त रस-सम्प्रदाय की शास्त्रीय सूत्रियों तक सीमित नहीं है। यह तो मानव संवेदनाओं और रागात्मक बलियों पर निर्भर एवं विकासशील

१ विचार और विनयन प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३

२ विचार और विनयन पृष्ठ ३

डा० नगेन्द्र की समीक्षा पद्धति । २०७

सिद्धांत है। अतः नगेन्द्र की दृष्टि में रस सिद्धांत किसी तालाब का बघा हुआ जल अथवा विराम पर पहुँची हुई रुढ़ि नहीं है। यह तो स्थितिस्थापक है लोचदार है और सवासन व्यक्ति अथवा समुदाय के रागबन्ध और समजित आस्वाद के सतत विकास पर विभर है। मतलब यह कि नगेन्द्र की दृष्टि से रस मानव सवेदना का पर्याय रूप है रस धारणा विकासशील मानव सवेदना का चरम सत्य है और इसलिए रस सिद्धांत का विकास मानव-सवेदना के विकास के साथ समगति का निर्वाह करता है।

तीन निबन्ध

आचाय नगेन्द्र

८

रस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप और उनका समाधान

रस सिद्धान्त का विकास और प्रसार निर्विघ्न नहीं रहा। प्रायः आरम्भ से ही समय समय पर उसके विरुद्ध अनेक प्रकार के आक्षेप हाते रहते हैं। उन आक्षेपों का सार सप्रति इस प्रकार है

१ रस का जागतिक जनभूतियों से संबंधातिरक्षण—अलौकिक तथा ब्रह्मास्वाद महोदर माना गया है। मध्ययुग में इस प्रकार की कल्पना सम्भव थी परन्तु आज के मानवतान्त्रिक युग में वह कबे ग्राह्य हो सकती है? मनोविज्ञान के द्वारा प्रत्येक अनुभूति का निवचन सम्भव है—फिर रस ही अनिवचनीय कैसे हो सकता है?

२ रस सिद्धान्त का पूरा बल भाव पर ही रहता है परिणामतः काव्य के अर्थ का साय साय नहीं हो पाता जो पाठक की कल्पना को चमत्कृत या उसके विचारों का उद्घाटन कर जयवा गाय म वसात्मक चमत्कार उत्पन्न कर अपनी सायकता सिद्ध करत है। प्राचीन युग में जलकार रीति ध्वनि तथा वक्त्रोक्ति आदि सिद्धान्त इसी तर्क का आधार पर उठ खड़े हुए थे और वर्तमान युग में अनेक आलोचकों ने भी नवीन धारणाएँ म इसी आ रूप की आवृत्ति की है। उनका तर्क यह है कि काव्य के अनेक प्रयोग जन है—भाव के उद्बोध की अपेक्षा पाठक के मन में सुन्दर चित्र की उदबुद्धि या नवीन सा साय बाध आदि भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आज के बुद्धिप्रधान जीवन में हमारी अनुभूतियाँ गढ़ सागात्मक नहीं रह गयी हैं उनमें विचारसूत्र अनिवायत गुंथे रहने हैं। अतः काव्य में भी आज बौद्धिक अनुभूतियाँ का ही प्राधान्य हो गया है। रस सिद्धान्त में साय बाध का इन नवीन रूपाँ का उचित मूल्यांकन की व्यवस्था नहीं है।

३ रस सिद्धान्त का अतगत भावों की बंधी हुई सख्या है जो काव्यवस्तु की परिधि को सीमित कर देता है। मानव मन तो जयाह सागर के समान है जहाँ असह्य भारें निरन्तर उठती गिरती रहता हैं। उठ नी या ग्यारण स्वाधी भावाँ और तँतीस सधारियाँ म सीमित कर देना सशया असंभव है। युगधुन का काव्य में व्यक्त मानव चेतना अमध्य तरण चयन गणनाभार तथा परम्पर सकीण वृत्तियाँ न रस की पारिभाषिक

गान्धर्वी म चय सकती हैं और न उनका साथ पाय हो सकता है। विश्व के काव्य का—स्वयं भारतीय भाषाभाषी क आधुनिक काव्य का जा रस सिद्धान्त का पष्ठभूमि म नही लिखा गया पर्याप्त अण ऐसा है जिसम रस निणय करना सम्भव हा नहा हा मरुता। कौन कह मरुता है कि हमलट या गौगन का कुक्षेत्र मा वस् लड का अगी रस क्या है? इसका कारण यह है कि आदिम वासनाभा पर ही आघत होन क कारण रस सिद्धात अपर्याप्त है। अवचेतन मन क रहस्य-लोक का उद्घाटन हो जान पर ता उनका अपघा प्तता और भी बढ गयी है। निरन्तर विकसनशील मानव चेतना ओर उमकी वत्ना हुई जटिलताभा के लिए इसम कोई पवस्था नहीं है।

४ रस की सिद्धि के लिए एक परिपूर्ण काव्य विधान की अपेक्षा रत्ता है जा काव्य के प्रबध रूप के अतिरिक्त अयव प्राय कठिन ही हाता है। भारतीय मुक्क की कल्पना भी प्रबध क लघुतम रूप म ही की गयी है अत वहाँ भी यह विधान बढ जाता है। किन्तु ऐस भी अनक छन्द या सूक्तिया मिलती है जहाँ कोई अत्यन्त सूक्ष्म भाव गध या अत्यन्त तरन अनुभूति चित्र हा कवित्व का मार सबस्व हाता है। बहा रस का सिद्धि कस मानी जा सकती है?

५ रसा के विरोध और अविरोध की स्थिर धारणाओं के कारण रस क धन का और भी अधिक परिमोमन हो गया है। मानव चेतना ओर उमकी अनिन्यत्रितया अन्तर्विरोधा का पुज हैं। जीवन का चित्र जितना अधिक प्रबल एव परिपूर्ण हागा उमम अन्तर्विरोध उतने हा अधिक हाए—ओर कवि तथा काव्य के विषय म भी यही सत्य है। भारतीय वाङ्मय मे महामारत और पाञ्चात्य वाङ्मय म गेक्सपियर का नाटय माहित्य अपनी समग्रता मे जीवन क अनन्त अन्तर्विरोधा को समेटे हुए हैं। वास्तव म वहाँ तो काव्य का गौरव ही इन प्रबल अन्तर्विरोधा के कारण उभरता है। रस सिद्धात का कसौटी पर तो यह महत्व दीप बनकर रह जाएगा।

६ रस सिद्धात की एक बडी सामा यह है कि वह रस का केवल सहृदयनिष्ठ मानकर चलता है जिसके कारण कविगत रस और का पगत रस की मधया उपेक्षा हो जाता है। परिणामत जहाँ किसी प्रकार के पूर्वाग्रह आदि के कारण सहृदय की ग्रहण शक्ति बाधित हो जाता है वहाँ सरस काव्य का भी उच्चिन्त मूल्यावन नहीं हो पाता। इसक अतिरिक्त यह भी सदा आवश्यक नहा होता कि काव्य या नाट्यगत स्थायी भाव और सहृदय के स्थायी भाव मे सबत्र तादात्म्य ही हा—कभी कभी दोनो म केवल असंगति ही नहा, विरोध तक उत्पन्न हा जाता है। उदाहरण के लिए एक ऐसा दृश्य लीजिए जहा नायक नायिका किसी निविड जगल में नर मास मक्षण का दृश्य देखते हा। इन परि स्थिति म नायक क हृदय म (यदि वह वीर पुरुष है) क्रोध नायिका के हृदय म भय और प्रधक या पाठक के चित्त मे जुगुप्सा का हा उदय होगा।^१ इस प्रकार काव्य म वर्णित स्थायी भाव के साथ सहृदय के स्थायी भाव का तादात्म्य न होने स रस का

१ देखिए श्री मडॅकर का मत आधुनिक हिन्दी तथा मराठी में काव्यशास्त्राय अध्यायन पृष्ठ २८४

परिपाक कमे होगा ? रस सिद्धान्त की यह एक अत्यन्त स्पष्ट विसंगति है ।

७ रस की अभिव्यक्ति मानना सगत नहीं है।—रसक। अथ यदि काव्यास्वास् है ता उसको प्राय निमित्त ही होता है। रस या काव्यास्वास् किसी एक भाव की शुद्ध एक अभिव्यक्ति न होकर अनुभूतिया का एक विधान ही होता है जिसका उद्बोधन होकर निर्माण ही सम्भव है। अत रस सिद्धान्त जिसके अनुसार वामनास्य स स्थित किसी एक स्थायी भाव के अभिव्यक्त रूप का ही नाम रस है काव्यास्वास् के सच्चे स्वरूप का निरूपण नहीं करता ।

८ आत्मवाद की दृष्ट भूमिका पर प्रतिष्ठित होने के कारण रस सिद्धान्त स्थायी मूल्या का ही आधार लेकर चलता है। किंतु यद्यत्मान जीवन में तो स्थायित्व की भावना का ही पूणत विघटन हो गया है। आज तो परिवर्तन ही साथ है जिसमें कबल क्षण की ही सत्ता स्वाकाय हो सकती है। अत आज की कविता कबल अनुभूयमान क्षण की ही अभिव्यक्ति कर सकती है। उसके विपरीत रस की सिद्धि के लिए स्थायी भाव की सत्कार रूप में स्थिति अनिवार्य होती है—भाव की सद्य अनुभूति अथवा अनुभूयमानरूप के निरूपण का आस्वाद रस नहीं हो सकता। इसलिए समसामयिक कविता के सही मूल्यांकन के लिए रस सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है ।

९ रस सिद्धान्त में आनन्द पर विनापकर आनन्द की सिद्धावस्था पर अनावश्यक बल दिया जाता है। काव्य के अथ भव्यतर प्रयोजन जमे चारित्र्य का निर्माण सत्कर्म में प्रवृत्ति चेतना का उत्कर्ष आदि उपक्षिप्त हो जाते हैं और रजन पक्ष प्रमुख बन जाता है। बनावल के इस प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विषय से काव्य और जीवन दोनों की क्षति हो सकती है और दृढ़ है ।

रस सिद्धान्त के विरुद्ध प्राय ये अथवा इसी प्रकार के आक्षेप किये गये हैं और किये जा रहे हैं। पहला आक्षेप रस की ब्रह्मानन्दमहोत्तरता को लेकर किया जाता है—यह सबसे सरल और बहुचर्चित आक्षेप है जिसका प्रयोग रस की मायता के विरुद्ध कोई भी किया जा सकता है। ब्रह्मानन्दमहोदर विशयण केवल इस तथ्य पर प्रकाश डालना है कि रसानुभूति सामान्य ऐन्द्रिय अनुभूति नहीं है वह भावा के साधारण सुख दुःख आत्मक अनुभव से भिन्न है रागभय से मुक्त हान के कारण उसका स्वरूप सामान्य विषयानुभूति की अपेक्षा अत्यन्त उन्नत और अवदात होता है। अद्वैतवादी आचार्यों ने केवल रस की नन्वा आनन्द के प्रत्यक्ष रूप की कल्पना ही आत्मानन्द के सम्भ में की है क्योंकि आनन्द अन्तर्गत के अनुराग आत्मा का ही स्वरूप है मन तथा अथ ज्ञानेन्द्रिया का विषय नहीं। अपने अत्यन्त सूक्ष्म-परिष्कृत रूप के कारण काव्य का आनन्द विषयानन्द से दूर और आत्मानन्द के निकट है—ब्रह्मानन्दमहोदर का अथ इतना हा है। यदि आत्मा में आस्था नहीं है तो आप चेतना का प्रयोग कर सकते हैं और रस का चेतना की समाप्ति मान सकते हैं। कल्पना का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मानन्दमहोदर विषयण एक विविक्त चिन्तन प्रणाली का पारिभाषिक नाम है—उस कल्पना ऐतिहासिक सद्भ में ग्रहण करना चाहिए और आज का प्रणाली यदि ब्रह्म अथवा आत्मा की धारणा को ग्रहण या स्वीकार न कर सकता तो वह नाम का आधुनिक आलोचनाशास्त्र की प्रणाली में आख्यान करना चाहिए। मैं स्वयं रस को आत्मानन्द के सम्भ में ग्रहण नहीं करता इसलिए

नहीं कि आत्मा क अनस्तित्व के विषय म मैं मवका आवृत्त हो गया = वरन इमलिए कि आत्मान्त का धारणा उनभा और विवादप्रस्त है जबकि रस क विषय म मया या प्रत्यक हृदय का अनभूति सबया अमश्रिप है। अत मैं रसाहस्य म प्रयुवन पारिभाषिक गतावती —सत्त्वोक्त, आमविधानि ब्रह्मान्तसहोत्तर आति—का विवक सम्मत जय हा ग्रहण करता हू—वरना चान्ता हू। जीवन क मूखतत्त्वा का धारणाए ताकाल-परिवृद्ध जोर व्यक्ति सामिन न ताजर विदासगत ही जाना = इसी रूप म मवभावभीम एव सावत हो सवता हैं। ववन रस सिद्धात का हा नहा भारताय कायगास्युका यह तुर्भाग्य रहा है कि जिसन उन पता और समभा है वह प्राचान धारणाभा का एवम् रूढ मान बठा है और जिसन कभा पत्ने और समभन का प्रयत्न नही किया बह कुट्ट उन्ता हुई वाना को लजर अनगल आलोचनाए कर रहा है।

दूसर आक्षेप का उत्तर ध्वनि और अन्कार क क्षय अन्तरग सम्बन्ध स्थापित कर रस मिद्धान्त आज मे एक सहन्या पूव = चुका है। काव्य म ध्वनि की प्रतिष्ठा वस्तुन कपना-नस्व की प्रतिष्ठा है और अन्कार भी बिम्ब विधान का पर्याय है। इनमें म ध्वनि ता रस का अनिवाय माध्यम है ही अलकार भी उपलगीय नहा है—और रसका प्रमाण यह है कि प्रबल से प्रबल रमवाणी आचार्य ने ना अपन गाम्य ग्रन्थ म अन्कार का सविन्तार वणन किया है। उमन रस को काय का जावित मानन हुए भा वागवन्धु के महत्त्व को मुक्त कण्ठ स स्वीकार किया है। इस प्रकार बुद्धि-नस्व का भी रस क विधान म त्याग नही किया गया। उत्कृष्ट कोटि के सरस काय क लिए भाव-वभव क साथ साथ अप-गौरव का भी अपना अनिवायन रही ह। अत कपना और विचार का रस मिद्धान्त म अस्वाकृत नही किया गया गन ववन तना है कि य जाना ही अनुभूति का विषय वन पर जान चाहिए। अनुभूत कल्पना और अनुभूत विचार रस क अग वन जात हैं और वदत कल्पना या वेवस विचार अर्था अननुभूत कपना और विचार ता काय के हा विषय नर्ग रहने।—रस सिद्धात म अगर उमके लिए स्वतन्त्र म्यान नहीं है ता उमका क्या गाय ? वास्तव में अपने व्यापक अर्थ म रस सौन्दर्य का ही पचाय है सौन्दर्य अपन उच्चरूप में रमणीय अक्ष-बोध का नाम है—और रमणीय वह है जिसम सहृदय का चित्त रमण बने अर्था जा उसका जानन् चेतना का विषय हो। इम प्रकार सौन्दर्य की कल्पना रस के बिना नहीं हा सकती—सुत्तर और सरम म भेद नहा किया जा सकता।

रस-सस्यान से सम्बद्ध आक्षेप विषय के अल्पबोध पर ही आश्रित है। हम आरम्भ म ही स्पष्ट कर चुक हैं कि सस्या का प्रश्न रस सिद्धान्त का अत्यन्त गौण विषय है। इममें सन्देह नहीं कि अधिकांश आचार्यों न रस भावादि की निश्चित मस्या को ही स्वीकार किया है परतु यह विषय अत तन विवादास्पद ही रहा है और सरसा को बडान पतन क प्रयत्न निरन्तर चलने रहे हैं। साथ ही यह आगाऊ भी बराबर उठती रही है कि रसा और भावा की सस्या का परिमाणन अधिप मगा नहीं है—प्रत्यक भाव स यहाँ उच्चरिमात्तिक भाव म भी रस की सिद्धि सम्भव है। उधर रसामास भाव भाजाभास भागीय, भावगान्ति भावसाधि भावगबलता आति का भी रस में अन्तर्भाव होन स पर सबया निश्चिन हा जाता = कि रस मिद्धान्त रसा और भावों की बधा हुई सस्या

का कायल नहीं है। सामान्य सिद्धांतों और विषयों का निर्धारण करना प्रत्येक गार्स का कर्तव्य काम है और उसके लिए वर्गीकरण आदि की प्रणाली नाम रूप सत्या आदि का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। अभी किता गार्सकार ने भे प्रस्तार या गणना का एकांत निश्चित एवं अन्तिम नहीं माना—जब कभी भे-वणन का प्रसंग आया है सभ्य के आचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि ये भे उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् ईदृक्ता के ही द्योतक है इयत्ता के नहीं। ऐसी स्थिति में बड़ी हुई सभ्या और नीक का आराप दुहराते रहना या ता दुराग्रह का द्योतक है या अल्पबोध का। अतः हमलट या गार्सन में कौन-सा रस है यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि परम्परानिष्ठ रसवाद के लिए हेमलट या वस्तु लैण्ड गोदान या शेषर—किसी में भी नियम के अनुसार रस निणय करना कठिन नहीं है फिर भी समस्या का समाधान हम यह नहीं मानते। गलर में कौन-सा रस है यह प्रश्न ही रुद्धिवादी दृष्टिकोण का परिचायक है और इसका उत्तर भी उभी दृष्टिकोण में तुरंत दिया जा सकता है। परन्तु हमें ता प्रश्न और उत्तर दोनों का ही महत्वहान मानते हैं—रस सिद्धांत का गलर यह सिद्ध करने में नहीं है कि इन ग्रन्थों का अग्रा रस कौन सा है वरन् यह सिद्ध करने में है कि इनमें से प्रत्येक की आस्वाद्यता का मूल आधार (म अथवा रागात्मक प्रभाव या अनुभूति की समृद्धि ही है।

उपयुक्त समाधान में गलर आक्षेप का उत्तर भी जन्तभूत है। रस कबल परिपाक अवस्था का ही नाम नहीं है। यह कहा नहीं कहा गया कि रसवतः के लिए मवत्र रस का पूरा पक्कर ही प्रस्तुत रहना चाहिए। यभिचारी भाव के नहीं केवल अनुभाव व चित्रण से भी रस की सिद्धि हो जाती है जो अवयव वर्णित नहीं हैं उनका आश्रय हो जाता है। विभावादि के विधान पर रसशास्त्र में बल इसलिए दिया गया है कि उनकी प्रोद्य न या प्रकट सत्ता व आधार व विना भाव की कल्पना भी सम्भव नहीं है अनुभूति तो दूर की बात रही। भाव की निराधार या निरपेक्ष सत्ता रसशास्त्र में ही नहीं मनी विज्ञान में भी सवथा अमाय है और आधुनिक मनाविज्ञान ता भाव की स्वतंत्र कल्पना के विषय में और भी शकाल होता जा रहा है। मराठी के रसवाद आलोचकों ने इसी आश्रय का प्रतिवाद करने के लिए भाव से भी मू मतर भाव-मय की कल्पना की है। रस सिद्धांत में और भी आग बढ़ने का अवकाश है रस का स्थायी धर्म है गुण जो चित्त की शक्ति दायि और दायि आदि अवस्थाओं का वाचक है। अतः ऐसी उक्ति भी जहाँ भाव का स्वरूप स्पष्ट न हो जो केवल चित्त का स्पर्श ही करती हो सिद्धांत पर स्थापित विभाव अनुभाव सवारी भाव आदि की दृष्टि बचाकर अनुभूति के मात्रवल से समझ में अनायास ही प्रविष्ट हो जाती है। एक उदाहरण देकर मैं अपने मन्त्र का स्पष्ट करना चाहता हूँ—

सोन मछनी

हम निहारते रूप

काँच व पीछ

हाँप रही है मछनी ।

रूप-रपा भी

(और काँच के पीछे)

है जिजीविषा ।

अक्षय की यह कविता नयी कविता है और सुन्दर भी । इसके आक्षेप का रहस्य क्या है ? सुन्दर चित्र ? हाँ पवित्रता द्वारा प्रमाणा की कल्पना में उद्बुद्ध चित्र निश्चय ही अत्यन्त आकर्षक और सजीव है । काँच के पीछे अपनी प्राण रसा के लिए लल म धिर कती हुई सोन मछरी का चित्र एकत्र आँसु के सामने नाच उठता है—चमकती हुई मछली की तरंगित आकृति माना जिजीविषा शब्द के व्ययित उच्चारण के माध्यम से प्रकृत हो जाती है । इन कम शब्दों में ऐसा सजीव चित्र प्रस्तुत कर देना निश्चय ही नये हुए कलाकार का काम है । परन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या यह शब्द चित्र ही इस कविता की अंतिम सिद्धि है ? क्या प्रस्तुत शब्द चित्र को रसमय बनाने की संवेदना जाकेत्र मानव-धनना का ही वर्णन रूप में प्राप्त है ? इसकी चाम सिद्धि नहीं है ? चित्र निश्चय ही कला की सिद्धि है पर उस चित्र को जीवन करनेवाला तत्त्व तो मानव धनना का रूप ही है और उमा का नाम रस है ।

एक अक्षेप आक्षेप रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध को लेकर किया गया है । इसकी मूल ध्वनि यह है कि रस सिद्धान्त में भावा का परस्पर सम्बन्ध सवया निश्चिन मान लिया गया है परिणामतः अती रुढ़ता में रस प्रक्रिया इतनी मरत और मुनमी बन जाता है की अन्तर्धान की शक्तियों जार गुणवत्ता के लिए उममें अवकाश नहीं रह जाता । हमारा निवेदन है कि यह आक्षेप भा अल्पमान का ही प्रमाण है । जमा कि हम यथाप्रमग स्पष्ट कर चुके हैं रस सिद्धान्त में रसा के परस्पर विरोध रसा के विवेचन के साथ साथ उनका गमन का भी अत्यन्त विस्तार में वर्णन किया गया है । और गमन के म उपाय इन अधिक एक विभिन्न हैं कि मानसिक जीवन के सभी प्रकार के महज अन्त विरोध उनमें समाहित हो जाते हैं । केवल एक रस के सम्बन्ध में ही विचार करें तो भी रस प्रक्रिया पर अन्त का आरोप मगत नहीं है क्योंकि शृंगार रसे रस के वत में एक दूसरे से सवया भिन्न और परस्पर विरुद्ध प्रायः सभी भावा का मुखन मचरण शास्त्र-सम्मत माना गया है । शक्यपिपर के जिन न्यूनता की दुर्गाई देकर अक्षय के विद्वाना न रस सिद्धान्त पर प्रस्तुत आक्षेप किया है उनमें भी उमा प्रमग शब्द ही हो जहाँ भावो-के विरोध का रस-शास्त्राय नियमा के अनुसार परिहार न हो सके । और यदि कती य नियम लागू नहीं होते तो भी कुछ अन्तर नहीं पटना—क्यापि एक ता विरोध-व्यपना रस सिद्धान्त का मौलिक अंग नहीं है और दूसरे यह स्थित न रहकर काव्य के विकास के साथ साथ विकासशील रही है अथवा हममें समय समय पर आवश्यक सन्धान भी होने रहे हैं । यस्तु रस-नक्षत्र की भाँति रस विरोध की वर्णना भी रस सिद्धान्त का अनुपम सिद्धि माय है यद्यपि उमा की भाँति इमका भी मनावज्ञानिक आधार अपने आप म काकी पुष्ट है ।

रस को केवल महान्यनिष्ठ मान लेना न रस-व्यपना में बाध्यगन रस और कवि की रस चेतना की उपाया की गया है—रस आक्षेप पर कई पहलुका में विचार किया जा सकता है । रस का अक्षेप यदि मलन काव्याभ्यास है तब तो उमका सिद्धि महान्य म

माननी पत्नी क्याकि आम्बान्त की चतन क्रिया व्यक्ति म हा सम्भव है वस्तु म नहीं । कवि काय और महृदय व प्रन म काय जड पत्न्य है अत आम्बान्त की क्षमता उमम नहीं है ? हा वह आम्बान्त का निमित्त अवश्य ही गता है । कवि भी व्यक्त रूप म रम का मृष्टा है—गास्त्राय गतावना म रम व अभियजक काव्य का कर्ता है । अन रम अधान काय व आम्बान्त का भावना वस्तुन महृदय हा है रमका निपथ कमस कम व्यवहार म नहीं किया जा सकता । तत्त्वच्छि रे भा प्रमाता व अनिरिक्त पत्न्य म रम का स्थिति प्रमाणित करना असम्भव नता ता कठिन अवश्य है । भारताय तथा पाश्चात्य गता का समस्त उद्घापान जभा तर जन्त स अधिक प्रामाणिक कल्पना नहीं कर सका । परंतु हम रस विवाद म आपना नही उतमाना चाहत क्याकि काव्य व मत्या का हम दान और तत्गास्त्र का उपक पताजा ग यमसम्भव दूर रचकर काय व परिप्रश्य म ही समझना चाहत हैं । किंतु यहाँ एक दूसरा प्रन सामन जाता है कि काव्य का इम रस से क्या सम्बन्ध है ? रसका स्पष्ट उतर यह है कि काय रम रम का प्रकया निमित्त कारण है । स्वय अभिनव न गुणालकारमय गता (= काय) व महृत्व का उच्छ्वास मय वाणा म निवचन किया है यत् गुणालकारमय गता हा विभावादि व साधारणीकरण—आधुनिक गतावना म भावात्मक रूप म उपस्थापन—द्वारा सहृदय व स्थायी भाव का नेकाल की सीमा एव व्यक्तिगत रागत्प से मुक्त करता हुआ रस म परिणत कर ता है । अभिनव व अनुपार स्थायी भाव की निविधन प्रताति हा रम है—इम प्रतीति का भावना निश्चय हा सहृदय है परंतु प्रस्तुत मत्भ म रम निविधन करन का एकमात्र साधन गुणालकारमय गताथ या काय हा है । अन काव्य का महृत्व रम मिश्रान्त मे गौण नहीं है ही भी कम सकता था उसका ना जमभूमि या जागरभूमि ही काव्य है जिसक बिना उमका अस्तित्व ही कारपनिक बन जाता है । रमम सदेह नही कि सहृदय की प्रण गक्ति की विधनता रम का मवमे बडा गित्त है किंतु इमका यह अर्थ नहीं है कि उममे काय मौल्य का अस्तित्व ना नष्ट हा ताग है । रमविधना व प्ररुण म इम रमका का निवारण किया जा चरा गता विधि म कवि या काव्य का दोष नही होता यहाँ ता सहृदयता ना दुष्ट हा जाना है । यथा नक नो हर्ष प्रमानगत रस की वान वस्तुगत रम-कल्पना का भा भारताय रम गास्त्र म जभाय नता ग । रसत ताल्लत् और गकुन गग प्रतिपात्ति रम निश्चय ना वस्तुगत है—उमका रममव पर काय-कीशन तथा नाटय कोशल व तारा मति गता है और वह आस्वाद्यरुण न होकर आस्वाद्य ही होता है । उतर जन आचार्या न भी रम का स्थिति कायगत भाय सामधी म नी मानी है । इसी प्रकार कविगत रम का कल्पना भा नया नही है अत जानन्वजन नटटनायक अभिनव गति मभा मृदय रगाचार्यों न जयत स्पष्ट गता म उम स्वीकार किया है—

वचरानगत भाव भावयत भाव उयत ।

—अथान जा रवि वा अनुभूति ग भायन कराना है शास्त्र म उमका नाम भाव है ।

यथा बाजात् भवत् वया व तान पुप फत यया ।

तथा मूर रसा मर्दे तेभ्यो भावा यवस्थिता ॥ नाटयशास्त्र ६ ७

—अर्थात् जिस प्रकार बीज में वृक्ष होता है और वृक्ष में पुष्प तथा फल हीन है वही प्रकार [कविगत] रस ही मूल हैं और उनके द्वारा ही भावों की स्थिति होता है।

भरत द्वारा उद्धृत इस श्लोक की व्याख्या करते हुए अभिनव नानन्दवर्धन का प्रमाण देकर, कविगत रस का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है—

‘उसी कविगत माधारीभूत रससञ्चितमूलक काव्यक द्वारा नट का व्यापार होता है। और वही [कविगत] सविन् वास्तव म [मूलभूत] रस है। उसकी प्रतीति के योग्यभूत उस [कविगत रस से प्रभावित] सामाजिक का अपोद्वारबुद्धि अर्थात् अवयव परिवर्तक आदि के द्वारा वाद का विभावादि की प्रतीति होता है। इस प्रकार मूल बीज के स्थान पर कविगत रस [भावादि का मूल कारण] है। कवि सामाजिक के समान ही है। इसीलिए ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है कि यदि कवि ठगारी है तो सारा जगत रसमय हो जाता है और वह यदि बीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है इत्यादि। उस [बीजस्थानीय कविगत रस] से वक्षस्थानीय काव्य (उत्पन्न) होता है। उसमें पुष्पस्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फलस्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए [सामाजिक के लिए] सारा काव्य जगत रसमय ही होता है।’^१

कविगत रस की इस व्याख्या के उपरान्त श्री मठेकर के आक्षेप का सहज ही निराकरण हो जाता है। मासभक्षण के उपयुक्त प्रमाण में कवि की अनभूति ही मूल रस है सद्दय की अनभूति (= रस) का निणय उमा के अनुसार होगा। वायगत स्थायी भाव से अभिप्राय प्रत्येक पात्र के स्थायी भाव का नहीं है वरन् कविगत स्थायी भाव का ही है। कवि का भाव यदि जगुप्सा है तो सद्दय को भी जगुप्सा (बीभत्स रस) का अनुभव होगा। कवि का भाव यदि क्रोध है तो क्रोध (रौद्र रस) का और यदि भय है तो भय (भयानक रस) का।

रस की अभिव्यक्ति का विरोध भी भारतीय काव्यशास्त्र के लिए नया है। ध्वनि की स्थापना से पूर्व लोल्लट तथा शकुन्त ने आरंभ उसका भी भट्टनायक महिमभट्ट धनजय आदि ने रस की अभिव्यक्ति का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विरोध किया है। स्वयं भरत का मत ही उसका विरुद्ध है। भरत के अनुसार निष्पत्ति का अथर्वस्तुत निर्मित ही है। निष्पत्ति का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उन्होंने पादवादि रस का जो दृष्टान्त दिया है उमम यह सन्नेह नहीं रह जाना कि उनके मत से रसास्वाद एक मिश्र अनुभूति है जिसमें आधारभूत स्थायी भाव के साथ काव्य तथा नाट्य सौन्दर्य की अनुभूतियाँ का भी मिश्रण रहता है जिस प्रकार पादवादि रस के आस्वाद में अन्न के स्वाद के साथ द्रव्य अन्न हीन जायसि आदि का स्वाद मिला होता है। वाचन न भी उपचिन्ति की प्रकृति का द्वारा इमा मत का पापण किया है और भट्टनायक ने अभिव्यक्ति का खण्डन करते हुए भविष्य का कल्पना इसी आधार पर की है—भट्टनायक के मत के अनुसार भी सद्दय रसरूप में जिन स्थायी भाव का योग करता है वह अभिन्न रसाभिन्न होकर रसानुभव अर्थात् वाचन-मौख्य और

चतुर्विध अभिनय अथवा नाट्य-मौल्य की अनुभूति न सञ्चित होना है वह पाश्चाय का-यास्त्र में निरूपित कथारमक भाव का ही पर्याय है। अतः निर्मिति की धारणा रम्याम्ब्र में जनान नहीं थी। किन्तु इसके साथ यह कहना भी सगत नहीं है कि रसा भिन्न-विन्न का सिद्धांत मयथा अमाय है। जिस आधुनिक आचार्य न अत्यन्त निर्भ्रान्त नाट्य में काव्यास्वात् को शुद्ध अनभूति न मानकर अनभूतियों का एक विधान माना है उमा के विन्नेपण व आधार पर अभिव्यक्ति की भा सिद्धि हो जाती है। डा० रिचर्ड म ने का-यास्वात् की प्रक्रिया का विन्नेपण करते हुए उमक छह अवस्थान मान हैं चाण्य मवेत्न (विम्ब विधान) सम्पद्ध विम्ब विधान स्वतत्र विम्ब विधान विचार भावोद्बोधन और दृष्टिकोण का निर्माण। इस विन्नेपण के अनुमार—किमी मुक्ति या निमित्त कविता का अध्ययन करने पर पाठक के मन में पहुँचे तो अम्भरा व विम्ब उभरने के फिर उनका स्फाटितया और नाट्य में सम्बद्ध विम्ब तब दन अक्षरा द्वारा निमित्त नाट्य के प्रचलित वाच्याय में सम्बद्ध विम्ब उभरकर आत के जो अपभाङ्गन स्वतत्र हान है अम्भ उपरात् नन नाट्य क वाच्याय क समविन्न रूप द्वारा पाठक की कल्पना और विचार जाग्रत होउठते हैं जिनके फलस्वरूप उमक भाव उदबुद्ध हो जात हैं—और अन्त में अम्भ प्रक्रिया का समुक्त परिणाम होता है एक विन्नेप मनोत्पा का निर्माण। इस प्रकार कविता द्वारा प्रमाता के भाव का उद्बोध तो मनोवज्ञानिक ढो भी माय है मनोविज्ञान भी भाव की उद्बुद्धि का निषध नहीं करता क्योंकि वहाँ भी मानव चेतना की कुछ प्रवृत्तियाँ की स्थिर बलियाँ के रूप में कल्पना की गयी है। कविता के द्वारा प्रमाता की चेतना में जिस भाव या भाव गवतना का उद्बोध होता है वह निश्चय ही उसका अपना भाव या अनुभव होता है कवि का भाव या अनुभव उसका अंगक या निमित्त कारण अवश्य होता है परन्तु कवि के भाव का ही यथावत् सचरण या-स्थानान्तरण प्रमाता के चित्त में नहीं होता—नहीं तो सकता। यही हम अभिव्यक्ति तथा सप्रेषण या सचार सिद्धांतों के सिद्धांत का सीमाभा में प्रवेग कर जाते हैं और हमारे सामने एक बार फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्यानुभूति अथवा रस का सचरण (सप्रपण) होता है अथवा अभिव्यक्ति? इस प्रश्न का समाधान भी हम यथाप्रसंग कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही पाना न हागा कि अभिव्यक्ति सिद्धांत के अतगत प्रमाता के चित्त में जिस अनभूति व उन्मय की कल्पना निमित्त है वह कवि की अनभूति से स्वतत्र एवं भिन्न नहीं हाती उमका मूल कविगत अनुभूति हा है अतः वह कविगत अनुभूति के बहुत कुछ समान तो पाता है। अमा तन्म सचरण का भी यह अभिप्राय नहीं है कि प्रमाता के चित्त में कवि का अनुभूति का अथवा यथावत् सप्रपण का स्थानान्तरण हो जाता है और प्रमाता अपनी अनभूति का नहीं कवि की अनभूति का अथवा आम्वात्न करता है। आर्द० ए० रिचर्ड म ने अत्यन्त निर्भ्रान्त नाट्य में अमा जनगत कल्पना का प्रतिपाद किया है। सचरण सिद्धान्त का भी प्रतिपाद य। ह कि कविता कविता की पदकर प्रमाता व चित्त में उक्त कविता में व्यक्त कवि का मय भावना व समान अनभूति का ही उन्मय हाता है—ठीक वही अनभूति

प्रमाणा क चित्त म सचरित नही हो जाती हो ही नहीं सकती । अतः सप्रपण और अभिव्यक्ति का विरोध प्रायः ग्रास्त्रीय ही है व्यवहार म दोनों मे विरोध भेद नहीं रह जाता क्योंकि दोनों म समान अनुभूति की कल्पना ही निहित है । न तो सप्रपण मित्रान यह दावा करता है कि काव्य के आस्वादन मे प्रमाणा केवल कवि की ही अनुभूति का आस्वादन करता है—उसमे प्रमाणा का अपनी अनुभूति का योग नही होता और न अभिव्यक्ति वा यह प्रस्तावना करता है कि प्रमाणा कवि की अनुभूति मे स्वतंत्र शुद्ध स्वानुभूति का ही आस्वादन करता है । कहने का तात्पर्य यह है कि निर्मिति तथा सप्रपण की स्थापनाओं के द्वारा अभिव्यक्ति का खण्डन करने मे रम सिद्धान्त की अमायता सिद्ध नहीं हो जाती क्योंकि एक तो रम की अभिव्यक्ति का एकांत निषेध असम्भव है दूसरे अभिव्यक्ति की कल्पना में निर्मिति और सप्रपण की कल्पनाओं का भी अभाव नही है ।

अब केवल दो आक्षेप गण रह जाते हैं । इनमें से एक तो यह है कि रम सिद्धान्त के साथ आज के साहित्य की मूल बेतना की संगति नहीं बढती । रम सिद्धान्त जीवन के न्यायालयों पर आघात है जबकि आज तो स्वायत्त की धारणा ही विघटित हो गयी है । आज क जीवन मे आस्था का पूणतया विघटन हो गया है अतः आज की कविता के लिए आनन्दवादी मूल्यों पर आघात रम सिद्धान्त निरर्थक है । आस्था का प्रश्न एक व्यापक प्रश्न है जिसका का य म ही नहीं करन सम्पूर्ण जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसमे मन्त्र नहीं कि आज जीवन के लिए जितना खतरा पडा हो गया है उतना इतिहास क युग म नही था और जब मानवता का अस्तित्व ही प्रतिक्षण खतरे मे है तो आस्था क लिए अवलम्ब ही क्या रहा ? इसलिए यह अनास्था—और तज्जय विपाद—आज का अनुभूत तथ्य है जिससे कोई सच्चा कलाकार बच नहीं सकता । फिर भी मैं पूछना हू कि क्या आज वास्तव म ही आस्था का विघटन हो गया है ? या ऐसा है तो प्रभाव विस्तार शक्ति-संगठन शक्ति और सुरक्षा क विश्व-यापी प्रयत्नों का आधार क्या है ? क्या सवनाश का-यह खतरा हा हमारी जिजाविया को तीव्र नहीं कर रहा और क्या जिजाविया की तीव्रता ही आस्था की अनिवायता को सिद्ध नहीं करता । क्या आज की सम्भावनाओं में केवल प्रलय की सम्भावना ही काम्य है ? सवनाश के भय से एकत्र मानव-समाज के सावभौम संगठन की सम्भावना का कोई मूल्य नहीं है ? सम्भावनाएं शान्त ही हो सकती हैं अब यह आप पर निर्भर करता है कि किमती चयन करें । यदि आप यही मानन का आग्रह करत हैं कि प्रलय का खतरा हा आज एकमात्र सत्य है और उसी की अभिव्यक्ति सच्ची कला है तो रम सिद्धान्त का क्या दाव ?—यद्यपि यह आत्मघाती निराशा भी रस का परिधि मे बाहर नहीं पडती और यदि आप म मचमुच ही इस निराशा को युद्धरत प्रदान करन का क्षमता है तो रस सिद्धान्त की यन्त्रुन आपकी शान्त या मूल्योक्त कर सकता है । फिर भी व्यापक दृष्टि से रस विषय म म बचकर यह निवेदन करना चाहता हू कि जिसकी चेतना अधिक अनावित और विचारणा अधिक स्वतंत्र है—आपका सम्मन नही है । जब तक जीवन है तब तक आस्था अनिवाय है और यदि जीवन म ही विचार नहीं है तो क्या क प्रति विरुद्ध करन है क्या सिद्ध

होगा / हमी आशय का दूसरा पहलू यह है कि रस व परिपाक व लिए स्यायी भाव की सग अनभूति की नटा वरन जतीत अनुभूति व सस्कार या वामना की भावश्यकता होती ह जरकि वतमान जीवन म केवन ण ही सत्य है और आन की कविना मय अनुभूति की भी नह। वरन अनुभूयमान क्षण की ही कविता है। किन्तु यह केवल वाग्विसास है सिद्धान्त का कल्पनात्मक प्रतिपादन है जो तथ्य म भिन्न है। जीवन व किमी भी क्षण म अनुभूति और कम भोग और सजन की यगपन सत्ता नही हानी—यह प्रकृति का नियम है। अत काव्य की सष्टि भी अनुभूति के भोग की अवस्था मे असम्भव है। जब अनुभूत क्षण का गद-बद्ध करना हा तना कठिन होता है ता अनुभूयमान क्षण को आप ग म कैसे बाध मकते है ? अनुभूयमान भाव की सवेना मे अधिक कोई म्यिति नही — इसमे सदेह नही कि सूक्ष्मचता कनाकार की कल्पना न भ्ररूप सवदनो का रूप देने का प्रयास करती है परंतु ज्यो ही य सवना रूपायित होत हैं ता ही अनुभूत भी हो जाते है अनुभूयमान की रूपायिति ही अनभूति है जहाँ क्षण अतीत वन जाता है। श्रोच ने इसे ही सहजानुभूति माना है। श्रोच के अनुसार यह सहजानुभूति ही कला है। परंतु कला के व दा रूप मानते हैं—एक आतरिक रूप और दूसरा शवहारिक रूप। सहजानुभूति कला का अन्तरिक रूप हो है जो अवग भाव से कनाकार की चतना म घटित हो जाता है—यवहार-रूप से यह कला की प्रकल्पना है कला नश व्यवहार म हम जिसे कला कत है जो विवेचना का विषय है वह इम सहजानुभूति की मून उपकरण द्वारा प्रस्तुति का नाम है जिस कलाकार स्व-छा स अपनी अतीत सहजानुभूति के आधार पर हा सिद्ध करता है। अत जनभूयमान क्षण की अभिव्यक्ति की कल्पना असिद्ध है अनुभूत की ही मजना या पुन मजना सम्भव है। इस प्रकार पहल अमम्भव की कल्पना कर और फिर गण को ज्ञानादि कालस मानव जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे समथ साधन रहा है सर्वाधिक वध्य उपकरण कहकर असाध्य साधन के यका भागा बनना बुद्धि का चमत्कार ता माना जा सकता है किन्तु काय-मत्य के रूप म उसके लिए मायता प्राप्त करना सम्भव नही है।

रम मिट्ठात के विद्व अन्तिम आक्षय यह है कि उसक कारण काव्य म पूरा बल आन पर ही पड जाता है जिसस भोग-वक्ति की प्रोत्साहन मिलता है और उगत वक्तिमा का उपमा हो जाती है। यह आशय मलत नतिक है और भिन भिन युगो मे तरह तरह क रूप धारण कर जीवन तथा काव्य म आन-वा का विरोध करता रहा है। इसका एक उत्तर तो यह ह कि भारतीय दर्शन और कायशास्त्र मे आन-व जिस रूप की कल्पना की गया है वह मानव चेतना व परिपूण विकास का पर्याय है—मानव-व्यक्तित्व क सर्वांग उत्कृष का भावात्मक रूप या आस्वाद ही जानद है। यह विषय भाग सुख मनारजन प्लडर या लरडत का पर्याय नही है। आनन्द की इसी सर्वांगपूण कल्पना पर आधन होन क कारण रम का परिधि म मानव चतना की मधुर और कटु सुखमय और दुःखमय मभा प्रकार की वक्तिया का सहज रूप म अन्तभाव कर लिया गया है। उसमे आन-व की मिट्ठावस्था ही नटा साधनावस्था की भी पूण स्वीकृति है। अत रस के वन्तविक स्वरूप का गान हा जान पर न्य प्रकार का आशय न्ी लगाया जा सकता—

और इसका प्रमाण है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रस विवेचन जिन्होंने 'आनन्द का विरोध करत हुए भा रसवाच' का हा काव्य का सबसे अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त माना है। इसके अनिश्चित बदा आनन्द अपन आप में ही कल्याणकर नहीं है—क्या कल्याण का भी चरम सिद्धि आनन्द तथा है ?

उपयुक्त प्रश्नों का समाधान के पश्चात् रस सिद्धान्त की महत्त्व प्रतिष्ठा बनाया जात हो जाती है। शास्त्र सृष्टियोंसे मुक्त रस सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप मन्वाय का सावधीम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के मजनात्मक साहित्य का मजनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इसकी प्रकल्पना इतनी सखीगीण है कि मानव चेतना की मूल बलित—राम—को घरी बनाकर यह अय मभी प्रमुख तत्वा की उचित रूप म स्वीकार कर सकता है। अत जीवन का समस्त रूपों तथा विविध मूल्या के साथ रस सिद्धान्त का पूर्ण सामञ्जस्य है जिसम विभिन्न वादा के अन्तर्विरोध समाहित हो जात हैं। कारण वास्तव म यह है कि रस सिद्धान्त मानववाद के दृढ आधार पर प्रतिष्ठित है यह मानव को उपवीर्य और आत्मा गति और सीमा तथा समस्त रागद्वेष के साथ स्वीकार करता है इसलिए मानव के अज्ञात बतमान तथा भविष्य के साथ इसका अभिन्न सम्बन्ध है। जिस प्रकार मानववाद मानव को अन्तिम सत्य मानकर जीवनक विकास क साथ निरंतर विकासशील है उसी प्रकार मानव-संवेदना को चरम सत्य मानकर रस सिद्धान्त भी निरन्तर विकासशील है। जम जम जीवन की गतिविधि बलनी जाती है जम जमे मानव वाद की प्रकल्पना म भी सखीगीण होता जाता है ठीक इसी प्रकार जम जैसे साहित्य की गतिविधि म परिवर्तन होता जाता है बस बसे रस का स्वरूप भी व्यापक होता जाता है। जीवन की निरन्तर विकासशील धारणाओं और आवश्यकताओं का आवलन जिस प्रकार मानववाद म ही हो सकता है इसी प्रकार साहित्य की विकासशील चेतना का परिपोषण भा रस सिद्धान्त का गारा ही हो सकता है। जीवन की भूमिका मे जब तक मानवता म महत्तर सत्य का आधिभाव नहा होता—और साहित्य की भूमिका म जब तक मानव संवेदना से अधिक रमणीय सत्य की उद्भावना नहीं होती तब तक रस सिद्धान्त स अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।

२

साधारणोकरण

काव्य में वर्णित विभिन्न रामादि पात्रों के 'भाव' स्वभाषाया या वम ग वम सहृदय गाधारण क आम्वाय क विषय किम प्रकार हो जाते हैं?—काव्यमानव का यह अत्यन्त कोनिक प्रश्न है। काव्य मानव-जीवन का अत्यन्त प्राचीन एवं मूल्यांकन उपकरण है वह महत्तरी श्या मे सन्तुन मानव की आत्माभिव्यक्ति तथा आत्मावाद का मुन्तर भाष्यम रहा है। ज्यों ही चिन्तनशील मनुष्य ने जीवन और जगत के अनेक तथ्यों के साथ

साथ काव्य के आस्वाद के विषय में विचार आरम्भ किया होगा पढ़ता प्रश्न यही उठा होगा कि राम और दुष्यत आदि से हमारा क्या सम्बन्ध ? जब देग और काल का प्रश्न व्यवधान हमारे और उनके बीच विद्यमान है तब उनसे भाव हमारे आस्वाद्य किम प्रकार बन जाते हैं ? इस प्रश्न का सबसे प्रामाणिक समाधान है साधारणीकरण सिद्धांत जिसके बीज तो नाटयशास्त्र आदि में भी मिल जाते हैं—यथा एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यते अर्थात् जब इन भावों को सामान्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो रसों की निष्पत्ति होती है^१ पर नु निश्चिन्त उल्लेख भट्टनायक के उद्धरणों में ही पहली बार मिलता है ।

भट्टनायक के उद्धरण का अभीष्ट अर्थ इस प्रकार है—

विभावादिसाधारणीकरणात्मना × × × भावकत्वव्यापारेण भावमानो रस × × × भोगेन परभूयते इति ।

—अर्थात् विभावादिके साधारणीकरणरूप भावकत्व नामक व्यापारद्वारा भावमान स्थायीभावरूप रस × × × भावकत्व व्यापारक द्वारा आस्वादिनि किया जाता है । इसका विशेषण करने पर निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं

(क) साधारणीकरण विभावादिक का होता है ।

(ख) यह साधारणीकरण ही वस्तुतः भावकत्व व्यापार का प्राण है—अर्थात् दोनों एक ही हैं ।

(ग) भावकत्व व्यापार द्वारा भावमान स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है । भावमान को काव्यप्रकाश के टीकाकार ने साधारणीकृत का ही पर्याय माना है और इसमें विप्रतिपत्ति के लिए विशेष अवकाश नहीं होना चाहिए ।

(घ) साधारणीकरण रसास्वाद से पूर्व की प्रक्रिया है यह वह प्रक्रिया है जो रस के विभिन्न अवयवों को अपने अपने विशेष्य से मुक्त कर आस्वाद्य रूप में प्रस्तुत करदेती है ।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत में संशोधन कर साधारणीकरण के प्रसंग को अपने अर्थ में प्रस्तुत किया है उनके उद्धरण इस प्रकार हैं—

तस्या च यो मगपोतस्त्रिभिर्भक्ति तस्य विशेषरूपत्वाभावादभीत इति त्रसक व्यापारमाधिकत्वाद् भवेत् पर शकान्तरानिमित्तम् ।

—अर्थात् काव्य की उम प्रतीति में जो मगभावक आदि विषय रूप से भासता = उमरि भाव रूप में जाने से यह भीत है यह ज्ञान तथा त्रसक (दुष्यत आदि) के वास्तविक न होने से मय ही त्रसक आदि से पूणत असम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि आशय और जानम्बन का साधारणीकरण हो जाने से स्थायी भाव ही त्रसक का बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—

तत्र एव भावात् ह भावात् यत्रानुभवस्या मध्यम्या वा इत्यादि प्रत्ययभ्यो दु खसु
छान्तिन्ननुद्वयत्तरोपनिवमवस्थाया विघ्नबहुलभ्यो विलम्बे निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्य
/ X X भयानकौ रस ।

—इसलिए मैं भीत हूँ यह भीत है या अनुमित्रजयवातदस्यभीत है इत्यादि
सुख दुःखकाराज्यप्रत्यया (पान) को नियमित उत्पन्न करने के कारण विघ्न-बहुल प्रतीतिया
संभिन निर्विघ्न प्रतीति रूप में ग्राह्य [भय स्थाया भाव ही] भयानक रस बन जाता है ।

अपान का उभय स्थाया भाव सभी प्रकार के व्यक्ति मर्णा से मुक्त हो जाता
है—य व्यक्ति-मर्णा अपना परिमित के कारण दुःखान्ति के कारण हात है अतः इनस
मुक्ति का आनन्द है हात है लौकिक दुःख-सुख आदि की स्वतन्त्रता सम्भिन ।

यह साधारणत्व परिमित न होकर सबव्याप्त होता है—अनाति संस्कारा म
चिन्तित चित्तवाते समस्त सामाजिक की एक-जसी वासना हान के कारण मभा को एक
जसा हा प्रतीति पाता है—

तत एव न परिमितमव साधारण्यमपि तु विततम् धनएव सबमामा
जिकानामकधनमवयव प्रतिपत्ति सर्वेषामनादिवासनाचिन्तादृत्तचनमाम वास
नामवात् ।

—इस प्रकार, एकाग्रचित्त होने के कारण समस्त सामाजिक जय का रगमच पर
उत्सिक्त नत्त गीत आति सुधामागर के समान प्रतीत होते हैं—

तथा ह्यकाग्रसकलसामाजिकजन खलु । नत्त गीत सुधामारसागर वन मयते ॥
इन उद्धरणों के आधार पर अभिन्न के अनुसार—

(क) साधारणीकरण विभावादि का ही नहीं होता स्थायी भाव का भी होता
है । जिस प्रकार विभावाति स्थायी भाव के कारण होते हैं उसी प्रकार विभावादि का
साधारणीकरण भी स्थायी भाव के साधारणीकरण का कारण होता है ।

(ख) स्थाया भाव के साधारणीकरण का अर्थ है दृष्टकान्त के अधिन व्यक्ति
समय आति सम्भित । व्यक्ति चेतना के कारण हा भाव की प्रतीति में सुख-दुःखात्मकता
का सामावण रहता है उसके अभाव में द्रिय सुख-दुःख की भावना भा नष्ट जाता है ।

(ग) कना के अधिन भाव का साधारणीकरण व्यक्तित्व नही बरन सामूहिक
रिया है कवन एक प्रमाता का हा भाव मुक्त नही हाता—बरन समस्त सामाजिक एका
ग्रचित्त होकर मुक्त भाव का सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं ।

(घ) अतः साधारणीकरण का मार है स्थाया भाव का साधारणीकरण ।
उपयुक्त साधन के प्रकार में वाच्यप्रकाश के टोकाकार गाविंद ठक्कर न
भट्टनायक के साधारणीकरण सिद्धान्त का संक्षिप्त एवं स्वच्छ रूप में इस प्रकार उप
स्थित किया है—

भावकत्व साधारणीकरणम् । तत्र हि व्यापारेण विभावात् स्थायी च
साधारणीकियन्ते । साधारणीकरण अतदेव यस्मात्तानि विभावाणां कामिनीत्वानिमामाय
नापस्थिति । स्थाय्यनुभावादीना च सम्बन्धि विभावात्तन्निवृत्तत्वेन ।
१ काव्यप्रकाश, निर्णयसागर प्रस, पृष्ठ ६६

—अर्थात् भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण । इस व्यापार के द्वारा विभावादि का और स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है । साधारणीकरण से अभिप्राय है सीतादि विष्णु पात्रों का कामिनीं आणि सामान्य रूप में उपस्थित होना । स्थायी भाव और अनुभाव के साधारणीकरण का आगम है विष्णु सम्बन्धों से मुक्ति ।^१

इस व्याख्या के अनुसार विभाव अर्थात् आगम आत्मस्वरूप और उदात्त अनुभाव स्थायी या संचारी (स्थायी के द्वारा संचारी का भी यजना स्पष्ट ही है) — सभा का साधारणीकरण होता है । उदाहरण में स्थिति और भी स्पष्ट हो जाएगी—

१ इस प्रसंग में कुछ विप्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं । (देखिए रसगणायक का शास्त्रीय विवेचन पृ० १५४-१५८) । विषय के निर्भरित ज्ञान के लिए उनको समाधान कर लेना चाहिए । एक विप्रतिपत्ति तो यह है कि साधारणीकरण भावकत्व की जात्मा या मूल तत्त्व है पर्याय नहीं है । इसके समर्थन में दो तर्क दिए गये हैं—(१) भट्टनायक ने साधारणीकरणात्मना पद का प्रयोग किया है साधारणीकरणरूपेण का नहीं (२) भावकत्व व्यापार का काय विभावादि का साधारणीकरण भाव नहीं है निजमोहसङ्कटा का निवारण भी है । हमारा विचार है कि इतना बारीक बातने से मूल सिद्धांत के प्रतिपादन में बाधा पड़ती है । पहला तर्क शाब्दिक अधिक है वाच्य पदों के मूल अर्थ में विष्णु भेद नहीं है दूसरे तर्क का उत्तर यह है कि निजमोहसङ्कटा का निवारण भी तो साधारणीकरण प्रक्रिया का ही अंग है जिसके आधार पर आग चलकर स्थायी भाव के (निर्विघ्न प्रतीति रूप) साधारणीकरण की व्यवस्था की गयी है । दूसरी विप्रतिपत्ति भट्टनायक के ही कुछ ऐसे वाक्यों को लेकर उपस्थित की गयी है जो उपपन्न स्थापनाओं के विरोधी प्रतीत होते हैं । ये वाक्य इस प्रकार हैं—

न च सा प्रतीतियुक्ता । सीतादेरविभावदेवात् । स्वकान्तास्मत्पक्षवन्नात्
देवता ० साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समलघनादेरसाधारण्यत्वात् ।^२

अर्थात् वह प्रतीति भाग्य नहीं है । वास्तविक सीतादि के विभावरूप में उपस्थित न होने से । अपनी स्त्री जादि को स्मरति अभिनय-काल में न होने से । दरताद (सीता पावनीं आणि पूजनीया देविणा के साधारणीकरण के अयोग्य होने से । समलघन जादि के असाधारण होने से । (हि०अ भा० पृ० ४६२-६३) इन वाक्यों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो भट्टनायक को अलौकिक पात्रों और कार्यों का साधारणीकरण भाग्य नहीं है । किन्तु स्थिति विरुद्ध विपरीत है भट्टनायक का उग मानकर होखलनह और धूर्ति इनका साधारणीकरण सिद्ध है इसीलिए रस की [प्रपञ्च] प्रतीति अस्मिन् हो जाती है । उनका तर्क स्पष्ट है यदि रस की प्रत्यक्ष प्रतीति मान ली जाए तो सीतादि देवियों का और समलघन आदि देवकाया का साधारणीकरण नहीं हो सकता परन्तु धूर्ति इनका साधारणीकरण सिद्ध है इनाएण रस की प्रतीति अस्मिन् है ।

भूष बागु बर देखेउ आई । जहँ बमत गितु रहा नोभाई ।
 लाग विटप मनाहर नाना । बरन बरन बर बेनि बिताना ।
 नव पल्लव फल मुमन सुहाए । निज सम्पति सुरम्ह लजाए ।
 चातक कोकिल वार चकोरा । ब्रजत त्रिहग नन्त कल मारा ।
 मध्य बाग सह सोह सुवावा । मनि सापान बिचित्र बनावा ।
 विमल छत्रिलु मरमिज बहुरगा । जन-न्यग ब्रजत गुजत भगा ।

× × ×

तहि अवनर माता तहे आई । गिरिजा पूजन जननि पठाई ।

× × ×

कवन किंकिनि नूपुर धुनि मुनि । कहत लपन सन रामु हृदय गुनि ।
 मानङ्ग मन्ग दुद्रुमी दाहा । मनमा बिम्ब विजय कहँ काही ।
 अम कहि फिरि बितए तेहि ओरा । मिय मुख समि भए नयन चकोरा ।
 भए बिलासन चार अचचल । मनहु सकुचि निमि तज दगचल ।
 दधि साय सोभा भुषु पावा । हृदय सराहत बचनु न आवा ।

× × ×

मिय सोभा हिअँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि ।

बाले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि ॥

तात जनकतनया यह साई । धनुपजन जेहि कारन हाई ।

पूजन गौरि सखी ल आई । करत प्रकाम पिरहि फूलवाँ ।

जामु बिलोकि अनीकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।

मो सबु कारनु जान बिधाता । फरकहि मुभग अग सुनु भ्राला ।

× × ×

बरत बतवही अनुज सन मनु मिय रूप लाभान ।

मुख सरोज मकरद छवि कर मधुप द्रव पान ॥^१

यहाँ राम आश्रय हैं सीता आलम्बन हैं वागन्ती वधव से समुद्र जनक-त्राणिका उद्धारण है राम क पुलक आदि अनुभाव हैं रति स्वामी है और हृष वितक मनि आदि सचारी हैं । उपयुक्त-पाश्या के अनुसार प्रस्तुत प्रमग की रसान्वादन प्रक्रिया म इन ममी का साधारणीकरण हो जाना है । आश्रय राम क साधारणीकरण का अर्थ यह है कि व राम न रहकर रति भुष्य सामाय पुण्य बन जात है—उनक दग और काल तथा उनम अनुबद्ध बणिष्य तिरामूत हो जाते हैं और नारी क सौम्य म अभिमूत सामाय किशोर मन उभरकर मामन आ जाना है । आलम्बन सीता के साधारणीकरण का अर्थ भा बहून कुछ पमा हा है ।—अथवा उनका भी देगकालावच्छिन्न बणिष्य ममाप्त हा जाता है और सामाय कामिनो रूप गण रू जाता है । अनुभाव क साधारणीकरण म अभिप्राय यह है कि राम की चल्या राम से मन्वद न रहकर सामाय मुग्ग पुण्य की चेष्टाए बन

जाती है । इसी प्रकार रत्याग्नि स्यामी भाव और ह्य वित्तक आग्नि गचारी भाव भी एक ओर राम सीता स और दूसरी ओर सहृदय तथा उसके आत्मन् से सम्बद्ध नहीं रह जाते—वे व्यक्ति क राग-य से मुक्त हो जाते हैं । उपयुक्त प्रसंग में जा रति स्यामी भाव है वह न राम की सीता व प्रति रति है, न सहृदय की सीता व प्रति और न सहृदय की अपन प्रणय पात्र क प्रति—यह तो निमुक्त रति भाव है जिसमें स्व-पर की चेतना निगोप हा चुकी है । मूलत यह सहृदय का ही स्यामी भाव है परन्तु साधारणीकृत क कारण यन्नि चेतना स निमुक्त हो गया है । इस प्रकार रस क अवयवा म जो मृत हैं व विगोप से सामान्य बन जाते हैं और जो अमृत भाव रूप हैं वे यन्नि-ससर्गों स मुक्त हो जाते हैं— विभावा की दशकाल व बधन से मुक्ति होती है और भावा की स्व-पर की चेतना से ।

संस्कृत के परवर्ती शास्त्रकार प्राय ःमी मत का आवृत्ति करत रह—वेवल दो आचार्यों—विश्वनाथ और जगन्नाथ—के द्विद्वेचन म वचिश्य व कुछ सक्त मिलत हैं । विश्वनाथ न वस तो स्यामी भाव और विभावादिसभी का साधारणीकरण माना है—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ।

परस्य न परस्येति ममति न ममेति च ॥ सा० द०—३ १२ ॥

तदास्वादे विभावादे परिच्छेदो न विद्यते ।

३ १३ का पूर्वाध ॥

—शृंगारादि रसों के स्यामी भाव रति आदिक भी काव्य-नाट्याग्नि में सामान्य रूप से प्रतीत होते हैं । रसास्वाद के समय विभावादिकों का ये (विभावाग्नि) मरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं—अय के हैं अथवा अन्य के नहीं हैं इस विगोप रूप से परिच्छेद अर्थात् सम्बन्ध विगोप का स्वीकार अथवा परिहार नहीं होता है ।

किन्तु उहाने आ यय व साथ प्रमाता के अभेद या तादात्म्य को औरो की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है—

यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति ॥ ३ ६ ॥

तत्प्रभावण यस्यामपाथोधिप्लवनादय ।

प्रमाता तन्भेदन स्वात्मान प्रतिपद्यत ॥ ३ १० ॥

उत्साहादिसमुत्बोध साधारण्याभिमानत ।

नशामपि समुत्पन्निलघनादौ न दुष्यति ॥ ३ ११ ॥

—यही साधारणीकरण विभावादि का विभावन नामक व्यापार है । इसी क प्रभाव से उम समय प्रमाता अपन को समुत्पन्न करनेवाले हनुमान आदि से अन्निन्न समझने लगता है । (हनुमान आग्नि के साथ) साधारण्याभिमान अर्थात् अभिमान जान हा जान पर मनुष्या का भी समुत्पन्न जादि म उत्साह दूषित नहीं है ।

ःमका साराण यह है कि साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव स प्रमाता का आश्रय व साथ तादात्म्य हा जाना है—सामान्य आ यय व साथ ही नहीं बरन अतीविक शक्ति मय्यन्न दवाग्नि व साथ भा । उगहरण व निण लौकिक परिस्थिति म सामान्य

जन के लिए समुद्रलघन क उल्लाह का अनुभव सम्भव नहा है, किन्तु काव्य-नाटयादि म साधारणीकरण के प्रभाव से उसका हनुमान आदि क साथ तादात्म्य हो जाने के कारण इम प्रकार का उल्लाह भी सहज सम्भव हो जाता है। यह प्रसंग अभावात्मक रूप म भट्टनायक ने भी उठाया था—विश्वनाथ ने भावात्मक रूप म उस और भी उभारकर सामन रखा है। पंडितराज जगनाथ ने भी नयनायक क जालोक मे प्रकारान्तर स आशय क साथ तादात्म्य का ही कथन किया है, किन्तु इस सदभ मे उहाने 'दोष शब्द का प्रयोग अधिक गुद्ध माना है—

'काव्ये नाट्ये च, कविना नटन च प्रकाशितपु विभावादियु व्यजन यापारेण दुष्यतादौ शकुन्तलादिरनौ गहीतापामनन्तर च सहृदयतोरलासितस्य भावनाविशेष एषस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यतत्वावच्छान्तिने स्वात्मन्यनानावच्छिन शुक्तिका शकल इव रजतखण्ड, समुत्पद्यमानोर्जनवचनीय साक्षिभास्यशकुन्तलान्विषयकरत्यादिरैव रस । १

—इसका अभिप्राय यह है कि पहल तो हम काव्य और नाटक म कवि तथा नट द्वारा प्रस्तुत विभावादि का ज्ञान होता है। फिर व्यजना व्यापार के द्वारा यह प्रतीति होती है कि दुष्यत शकुन्तला के प्रति अनुरक्त है। इसके उपरान्त सहृदयता क कारण हमारे चित्त में एक प्रकार की भावना उत्पन्न हो जाती है अर्थात् हम अपनी सहृदयता के कारण दुष्यतादि के विषय मे पुन पुन अनुसंधान करने लग जाते हैं। यह भावना एक ऐसा दोष है जिससे हमारी आत्मा कल्पित दुष्यतत्व आदि से आच्छादित हो जाती है अर्थात् उस समय हम अपने को दुष्यत समझने लगते हैं— और जब हम अपने का दुष्यत समझ लेते हैं तब हम अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने म कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोष क कारण कल्पित दुष्यतत्व स आच्छन्न आत्मा म कल्पित शकुन्तलाविषयक रति भी भासित होने लगती है जस दूरत्व आदि दोषा क कारण जब सीपी के टुकड अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविक रूप म नहीं समझ पडते तब उन टुकडा म ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकडे उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीपी के टुकडे चाँदी के टुकडे प्रतीत हाने लगते हैं। यद्यपि १ हमम शकुन्तला आदि की रति वास्तविक रूप म रहती है न सीपी के टुकडा म चाँगी पन, तथापि साक्षी आत्मा उनका मान करा दती है ।^२

१ हिंदी रसगंगाधर प्रथम अध्याय पृष्ठ १०१

२ वस्तुतः पंडितराज ने सामान्य रूप से साधारणीकरण की स्वीकार नहीं किया—

यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनकृतम् तदपि काव्येन शकुन्तला विना शकुन्तलात्वादिकप्रकारकबोधजनक प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादियु दोषविशेष कल्पन विना दुष्प्रभावम् ।

११. —अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि क साधारणीकरण का कथन किया है फिर भी यह बात दोष विशेष को कल्पना के बिना बन नहीं सकती

बात यह भी वही है जो विश्वनाथ न कही है किन्तु इस पर दगन का धम चढ़ा हुआ है। पण्डितराज के दार्शनिक विधान में साधारणीकरण के लिए स्थान नहीं है—यहाँ तो 'भ्रम है भावनादोष है। किन्तु दगन के आवरण को हटाकर देखें तो ये भी आश्रय के साथ प्रमाता के तादात्म्य और सहानुभूति की ही बात कर रहे हैं। कवि की भावनारूढ़ कल्पना से सामाजिक की सहृदयता (भावना कल्पना) उद्बुद्ध हो जाती है और वह आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ समान भाव की अनुभूति करता है। लौकिक अलौकिक का व्यवधान यहाँ नहीं रहता—दुप्यत व साथ तादात्म्य होने से जिम प्रकार वह (कल्पित) रति का अनुभव करता है इसी प्रकार हनुमान की भावना से आच्छादित होने के कारण वह समुद्रलपन के उत्साह का भी अनायास ही (कल्पित) अनुभव कर लेता है।

पण्डितराज के बाद गम्भीर दार्शनिक विवेचन का प्रथम प्रायः समाप्त ही हो गया। हिंदी के रीति-कविता का अनुराग काव्यशास्त्र व रोचक एवं सरल प्रसंगा तथा कवि शिक्षा तक ही सीमित रहा—साधारणीकरण आदि तात्त्विक विषयों के प्रति उनके मन में कोई आक्रमण नहीं था। अतः काव्यशास्त्र के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विषय का विवेचन गतिरुद्ध पड़ा रहा और लगभग तीन शताब्दियों के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने प्रसिद्ध नव साधारणीकरण और व्यक्ति वचिप्रवाह^१ में सहसा इसका पुनरुद्धार किया। शुक्ल जी का यह लेख भारतीय काव्यशास्त्र विषयक अनुसंधान का परिच्छेद या अंग होकर स्वतंत्र चिंतन का ही परिणाम है। उनकी दृष्टि अतीत पर न होकर वर्तमान पर ही स्थिर है और उन्होंने इस प्राचीन सिद्धान्त की अपन अभिमत तात्त्विक सिद्धांत व समयन मही उद्धृति एवं व्याख्या की है। अतः इस लेख में साधारणीकरण सिद्धांत का शास्त्रीय विवेचन नहीं पुनराख्यान ही प्रमुख है और इसी रूप में इसकी स्थापना का प्रत्यावन करना चाहिए।

विवेच्य विषय से सम्बद्ध शुक्ल जी के उद्धरण इस प्रकार हैं—

१ जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उन्नी भाव का आत्मम्बन है सब, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूरी गति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।^२

२ (क) काव्य का विषय सदा विषय हाना सामान्य नहीं वह व्यक्ति सामने साना जानना।

क्योंकि काव्यो में शकुंतला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुंतला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शकुंतलात्व न शकुंतला आदि के घोषक है फिर काव्यत्व न उनका घोषक ही सक्ता है? (हिंदी रसगगाधर प्र० भा०, पृष्ठ १०५) कहने का आवश्यकता नहीं कि यह अस्वीकृति कवन शाब्दिक या सद्भाषितक है व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहाँ भी नहीं है।

यह लेख प्रथम बार सन १९३३ में त्रिबदी-अभिनवन प्रथ में प्रकाशित हुआ था।
वितामणि भाग (१) १९५७—पृष्ठ २२७ २३०

(ख) साधारणीकरण का अर्थप्राम्य यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष प्राती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' क भाव का आत्मम्बन हाती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आत्मम्बन हो जाती है।

(ग) जिस व्यक्तिविशेष क प्रति किसी भाव की व्यञ्जना कवि या पात्र करता है पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्तिविशेष ही उपस्थित रहता है।^१

३ कल्पना में मूर्ति तो विशेष ही की होगी पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आत्मम्बन हो सके जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भाँजगाय जिसकी व्यञ्जना आश्रय अवस्था कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आत्मम्बनत्व पद का हाता है।^२

४ 'व्यक्ति तो विगण है रहता है पर समम प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य घम की रहता है जिसे साक्षात्कार में सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उष्ण घण्ट या बहुत होता है। X X X विभावानि सामान्य रूपसे प्रतीत होते हैं इसका तात्पर्य यहाँ है कि समान पाठकों के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आत्मम्बन मरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय सोकका सामान्य हृत्प हो जाता है।'^३

५ साधारणीकरण में आत्मम्बन द्वारा भाव को अनुभूति प्रथम कवि में चार्प्ट किर उसके वर्णित पात्र में और किर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है वह तभी चरिताय होता है।^४

उपयुक्त उद्धरणों के आधार पर कतिपय तथ्य प्रकाश में आते हैं—

साधारणीकरण की विवेचन करते समय मन्नायक और अतिनवगुप्त के नाम मत युक्त जीके सामने नहीं थे—कवल विवनाथ का मन ही उनका सामन था। उभका उन्हाने शास्त्रीय विवेचन न कर कवल स्वतन्त्र चिन्तन या अपने सिद्धान्त के अनुकूल प्रयोगमात्र किमा है। पहला तथ्य युक्त जी की सामयिक परिसीमा का दातक है और दूसरा उनकी मौलिक प्रतिमा का।

वे मूलतः आत्मम्बन का साधारणीकरण मानत हैं। आत्मम्बन का अर्थ है भाव का विषय। उसका साधारणीकरण इस प्रकार होता है कि पहले वह कवि के भाव का विषय बनता है और किर समस्त-सहृदय समाज के भाव का विषय बन जाता है।

आत्मम्बन के साधारणीकरण का अर्थ यह नहीं कि उभका व्यक्ति व हा तिराति हा जाता है—अर्थात् वह व्यक्ति न रहकर जाति बन जाता है। उसका व्यक्तिव तो बना रहता है पर उभमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश हा जाता है जिनके कारण वह समस्त सहृदय-समाज के उभी भाव का विषय बन जाता है—अर्थात् गीता का मिनोमात्र बन कर रह जाती है यह बात नहीं धरने के अपने शान्त-मौन्दय आनि सामान्य गुणा क

१ चिन्तामणि भाग (१) १९५७—पृष्ठ २२७-२३०

२ ३ चिन्तामणि, भाग (१) १९५७—पृष्ठ २२७-२३०

४ रत्न-भीमाता पृष्ठ ६६

कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती है। आलम्बन का यकित्तव बना रहे और फिर भी उसका साधारणीकरण हो जाए—इस विषयता का समाधान करने के लिए शुक्ल जी अपनी मूत्र स्थापना में थोड़ा संशोधन करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण वस्तुतः जालम्बन घम का होता है अर्थात् उन सामान्य गुणा का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती हैं। यहाँ कई बातें उलझ जाती हैं सीता केवल कामिनी नहीं हैं—यकित्त हैं वे रामकी प्रिया हैं किंतु राम के प्रेम का आधार उनके शील-सौंदर्य आदि ऐसे सामान्य गुण हैं जो समस्त सहृदय-समाज में रति भाव उत्पन्न करते हैं सीता राम की प्रिया हैं किंतु प्रेम का आधार चूँकि सीता के सामान्य गुण ही हैं अतः वे सहृदय समाज को भी प्रिय हैं—अथवा सहृदय समाज के प्रेम का विषय सीता व्यक्ति नहीं बरन उस यकित्त के शील-सौंदर्य आदि गुण हैं। शुक्ल जी के सामन वास्तव में अपने दा सिद्धांतों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गयी है (१) काव्य का विषय (आलम्बन) विशिष्ट होता है और (२) काव्य का आस्वात्न भाव की सामान्य भूमिका पर होता है। इस समस्या का समाधान उन्होंने अपने बुद्धि बल से इस प्रकार कर लिया है आलम्बन के दृष्टिकोण की रक्षा करते हुए समय कवि जिसे लोक हृदय की पहचान होती है सामान्य गुणा के आधार पर उसका साधारणीकरण करता है। निदान सहृदय सीता के प्रति अनुरक्त हो जाता है परन्तु उसके हृदय में यह भेदभाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम का जालम्बन है मा, उसके अपने प्रेम की। सहृदय का चित्त व्यक्ति चेतना से मुक्त हो जाता है।

पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है फिर वह आश्रय के द्वारा उसे प्रकट करता है और अंत में काव्य का आस्वादिता समस्त सहृदय समाज उस भाव का अनुभव करता है। अभिनव के गुरु भट्टराज का भी यही मत है— नायक रूप के श्रोतु समानोऽनुभवस्ततः।

शुक्ल जी के मत का सार कदाचित्त यही है—यहाँ हमने जहाँ के मत को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है उसके सत्यासत्य का निष्पत्ति बाद में करेंगे।

यह मत भारतीय काव्यशास्त्र के शास्त्रविद पण्डिताने ? इसीलिए

शुक्ल जी के इस मन्तव्य का अर्थ मिथ ने

साधारणीकरण से यही यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि का

साधारण अथवा उद्देश्य में सामान्य होना। स्वल्पतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक नहीं होगा क्योंकि उस अवस्था में विभाव अनुभाव आदि सीमित और शृंखलाबद्ध ही पार्थक्य और काव्य का व्यापकता नष्ट हो जायगी। परिणामतः अन्तिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भा दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या दृढवादी विमल काव्य का नैतिक और द्रव्यतक के द्वन्द्व के भांतर दृष्टा जाता है और नैतिक पक्ष का समास्वात्न किया जाता है और दूसरा मनावतानिक ध्वसात्मक अथवा कलात्मक

जिसमें नतिकता का प्रश्न पृथक नहीं रहता ध्वनि में अवसित हो जाता है। इतम पहला प्रकार मट्टनायक के भुक्तिवाद के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से सम्बंधित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त विद्वान पहले प्रचार के समय तक हैं किन्तु हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बंध रखता है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।^१

केचव जी ने अपना मतव्य अन्त में सबधा स्पष्ट कर दिया है। वे अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण से अभिप्राय चित्तवृत्तियाँ के साधारणीकरण का ही मानते हैं महत्त्व का चित्त जब एकतान हो जाता है तो उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। विभाव का साधारणीकरण ही वास्तविक एव पूण है। अभिनव ने अपने अद्वैत सिद्धान्त के आधार पर इसी अल्प चेतना में साधारणीकरण का अनुसंधान किया था। विभाव पर बल देने का अर्थ है विषय की सत्ता की महत्त्व प्रतिष्ठा अर्थात् द्रव्य की प्रतिष्ठा और द्रव्यवादी रस कल्पना का आधार मूलतः बौद्धिक एव नतिक ही रहेगा। इस प्रकार केचव जी आचार्य गुक्त की रस-दृष्टि को द्रव्यवादी भट्टनायक के भुक्तिवाद के साथ सम्बद्ध कर उसे उतने ही अनुपात में अपूण मानते हैं। अभिनव के अनुसार रस आध्यात्मिक प्रक्रिया है और केचव जी भी इसी आध्यात्मिक कल्पना में रस दृष्टि की पूणता मानते हैं। उनके आक्षेप का सारांश यह है विभाव बद्ध या सीमित है, भाव भुक्त या असीम अतः विभाव का साधारणीकरण अपूण एव सीमित है—वह बौद्धिक एव नतिक है जबकि भाव का साधारणीकरण चित्त की भुक्ति अथवा सविद्विभ्रान्ति का पर्याय है अतः वह पूण है। प० केचवप्रभा मिश्र का विवेचन अत्यंत सूक्ष्म एव सार्विक है। उन्होंने आचार्य गुक्त की विभावनिष्ठ दृष्टि तथा नतिक चेतना के सम्बंध का उद्घाटन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है और अन्ततः उसे अभिनवगुप्त के अद्वैत की अपेक्षा भट्टनायक के द्रव्य सिद्धांत के सन्निकट माना है। फिर भी उनके सभी निष्कर्ष यथावत् ग्राह्य नहीं हैं। यह तो ठीक है कि प्राचीन आचार्यों में भट्टनायक के दृष्टिकोण में द्रव्य का आधार होने से विषय की सत्ता की स्वीकृति है और कि उहने ही सबसे पहले रसास्वाद के प्रसंग में नतिक प्रश्न उठाया है अतः यह भी कल्पना सगत ही है कि उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक या शुद्ध आनन्दवादी न होकर नतिक आधार लिए हुए है। ये दोनों तत्त्व ऐसे हैं जो भुक्त जी के दृष्टिकोण में भी विद्यमान हैं अतः उनका मत भट्टनायक के अनुकूल है, यह निष्पत्ति भी अशुद्ध नहीं है। किन्तु भट्टनायक और गुक्त की वक्तव्यों में कुछ स्पष्ट भेद भी हैं—(१) उदाहरण के लिए भट्टनायक ने सभी का साधारणीकरण माना है, आलम्बन पर बल नहीं दिया। (२) निजकालास्मृति की सत्ता को उहने रसास्वाद की प्रक्रिया में मगधा अस्वीकृत कर दिया है पर भुक्त जी विवक्षित रूप में यह भी मानते हैं कि 'यदि किमी पाठक या श्रोता का किमी सुन्दरी से प्रेम है तो शृंगार रस की पश्यत उक्तियाँ सुनने के समय रह रहकर जालम्बन रूप में उसकी प्रयत्नी की भूति ही

उसकी कल्पना में आएगी। (३) भट्टनायक कर्णादि समस्त रमों की अनुभूति को आनन्दमयी मानते हैं परन्तु गुबन जी की रम-कल्पना हृदय की मुक्ततावस्था का ही पयाय है अर्थात् वह भट्टनायक के भावकत्व-व्यापार जय निजमोहमकटतानिवारण' पर ही समाप्त हो जाती है भोग तक नहीं पहुँच पाती।

प० केशवप्रसाद मिश्र के उपरांत भी यन् विवेचन प्रम चला और डॉ० गुप्तावराय तथा प० रामदीन मिश्र आदि ने प्रस्तुत प्रसंग पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये, किन्तु उनके विवेचन में विषय की प्राख्या का ही प्राधान्य है—कोई नवीन विचार हमारे सामने उपस्थित नहीं होता।

माराश

इस सम्पूर्ण विवेचन का सारांश यह है

१ रस व समस्त अवयवा—विभाव अनुभाव स्थाय, और सचारी का साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण की प्रक्रिया में घोडा-सा (अमलस्य) क्रम रहता है—विभावादि का साधारणीकरण पहले होता है और स्थायी का उसके परिणामस्वरूप बाद में। यह भट्टनायक का मत है और इसमें विषय तथा विषयी दोनों पक्षों का सन्तुलन है।

२ मूलतः रस में विभावादि समस्त अवयवा का ही साधारणीकरण होता है और विभावादि का साधारणीकरण का फलस्वरूप ही स्थायी का साधारणीकरण होता है जिससे महदय की चेतना व्यक्ति-समर्पण से मुक्त एतान हो जाती है। परन्तु स्थायी का यह साधारणीकरण—अर्थात् महदय चेतना की निम्बित ही अन्ततः मुख्य हो जाती है और शेष ज्ञान (सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार का) उसमें लीन हो जाता है। यह अभिनव गण्ट का मत है और इसमें अन्ततः भाव एवं विषयी पक्ष की ही स्वीकृति है।

तीसरे मत के अनुसार भी साधारणीकरण तो सभी का माना गया है किन्तु यहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया में आशय का साथ तादात्म्य को रेखांकित कर लिया गया है—प्रमाता की चेतना विकसित होकर हनुमान् की चेतना के साथ तादात्म्य कर समुद्र सघन जैसे अलौकिक कार्यों के प्रति भी उत्साह का अनुभव करती है। यहाँ हनुमान (विभाव) का उत्सानी पुरुषमात्रक रूप में साधारणीकरण नहीं माना गया, बरन सम्पूर्ण प्रमातवर्ग का अलौकिक शक्तिमन् हनुमान के साथ तादात्म्य स्वीकार किया गया है। इस रूप में यह भट्टनायक और अभिनव के मत से किञ्चित् भिन्न है।—यह मत विष्णुनाथ का है जगन्नाथ न भी ज्ञान की गंगातली में इसे ही प्रस्तुत किया है उनके चिन्तन में भी (अभिनव ही मत) आशय के साथ तादात्म्य ही मुख्य किया है।

४ चतुर्थ तो व मत में साधारणीकरण मूलतः आनन्दन या आलम्बन-प्रथम का होता है अर्थात् कवि आनन्दन का रस प्रकार यथन करता है कि वह अपने विधिपथ की रस करत दृग् भा साधारण घर्माक कारण सभी पाठका के मत में वसा ही भाव उदबुद्ध करता है जसा कि काय प्रसंग के अनन्त आशय में मन में आता है। रस प्रकार भाव के साधारणीकरण को गुबन जी भी यथायन् स्वीकार करते हैं किन्तु यथ उनका विभाव अमान प्रानन्दन या आनन्दन प्रथम रसाधारणीकरण पर हा है।

५ साधारणीकरण की प्रक्रिया में तीन बिंदु हैं कवि, नायक (आश्रय) और श्रोता। इन तीनों के भाव-साक्षात्कार में साधारणीकरण पूर्ण हो जाता है। यह भट्टोत्त का मत है, आशय शुद्धता भी इसे सहायक सामग्री प्रदान करती है।

विवेचन

इन विकल्पों में से कौन सा सत्य है साधारणीकरण वस्तुतः किमका होता है? मूल प्रश्न यही है—जिसका समाधान किये बिना साधारणीकरण का वास्तविक आगम और महत्त्व स्पष्ट नहीं हो सकता।

मानस' के जनक-धाटिका' प्रयोग का अध्ययन करते समय दो मतों विद्यमान रहती हैं—एक वस्तु या विषय की और दूसरी प्रमाता या विषयी की। विषय के अतन्त्र विभाव अर्थात् आशय और आलम्बन उद्दीपन अनुभाव और संचारी आनंद है विषयी स्वयं सहृदय या प्रमाता है। भट्टनायक'के मत में विषय व समस्त अंग का साधारणीकरण होता है और परिणामतः प्रमाता के स्थायी भाव का भी। यही मौलिक सिद्धान्त है, परंतु मूल सिद्धान्त की समीक्षा करने में पूरे अंगों के विषय में प्रस्तुत समाधानों पर विचार करना अधिक उपयोगी होगा।

आश्रय के साथ साक्षात्कार—साधारणीकरण का प्रक्रिया में जहाँ हमें व समस्त अवयवों का साधारणीकरण होता है आश्रय का साधारणीकरण भी अन्तर्भूत है—अर्थात् जसा कि हमें ऊपर स्पष्ट किया है आश्रय का साधारणीकरण भी समस्त प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है। किन्तु आश्रय के साधारणीकरण और प्रमाता द्वारा आश्रय के साथ साक्षात्कार का अनुभूति में अंतर है। पहले का अर्थ यह है कि राम या हनुमान् अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति न रहकर सामान्य पुरुष बन जाते हैं और दूसरे का अर्थ यह है कि प्रमाता उन क्षणों में अपने को राम या हनुमान् समझने लगता है और धनुष अथवा समुत्तपन्न जगत् अलौकिक शक्तियों के प्रति अंगक मन में उत्साह जागृत हो जाता है। एक में राम या हनुमान् का सामान्य मानस धारणन पर उतरना विवक्षित है तीर दूसरे में प्रमाता का उत्कर विषय अलौकिक धरातल पर पहुँचना। किन्तु आश्रय का साधारणीकरण का आगम यह नहीं है कि वह अपने गौरव से अविचलित होकर जनसाधारण के स्तर पर उतर आते हैं। ऐसा मान लेने पर तो काव्य द्वारा साधारणीकरण का सिद्धान्त ही खण्डित हो जाएगा। साथ ही उमरा यह अर्थ भी नहीं है कि काव्य में व्यक्ति का नहीं जानि या वगैरे का चित्रण होता है और आश्रय अपना व्यक्तित्व स्वीकार वगैरे या जातिगत गुणों का प्रतीक मान रहा जाता है क्योंकि इस प्रकार तो काव्य भावनाओं में रहकर विचार का विषय बन जाएगा और उसका प्रभावी शक्ति नष्ट हो जाएगा। इसका अर्थ यह है कि आश्रय के गौरव का अविच्छेद—अंगका अक्षय—तिरोहित हो जाता है और सामान्य मानवों के आश्रय उभरकर सामने आ जाता है जो सहृदय-समाज के स्तर पर भी निगमन विद्यमान है। फिर भी 'प्रमाता का आश्रय के साथ साक्षात्कार यह नहीं है क्योंकि साक्षात्कार की प्रक्रिया में आश्रय का उतरना भी नहीं विवक्षित है कि अनुभूति प्रमाता अपने में अनुभूति का अविच्छेद धारण कर लेता है—यही तब कि समस्त अंगों में

के प्रति भी उसमे उत्साह जग जाता है। यह स्थिति प्राचीन मत के अनुसार ग्राह्य नहीं है याम्बव म इसी प्रकार के अलौकिक पात्रा और उनके कार्यों को सामान्य पाठक के लिए ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से ही तो साधारणीकरण की आवश्यकता और भी होती है। इसके अनिरीकृत आश्रय शब्द का अर्थ तो बहुत आश्रय है। यहाँ आश्रय का व्यक्तित्व प्रिय और भाव मधुर होने के कारण हम थोड़ी देर के लिए सह्य म पड सकते हैं परन्तु राम और दुष्यन्त या हनुमान और अगद ही नहीं रावण और गूणलता भी तो आश्रय हो सकते है अर्थात् आश्रय तो घणित क्रूर भिन्नलिंगी नीच—हमारे व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है हम उसके साथ वहाँ तक तानात्म्य करते फिरें ? यदि प्रिय चरित्रा को ही लें तब भी तादात्म्य सबत्र ग्राह्य नहीं हो सकता मृतवत्सा शब्धा के साथ तादात्म्य तो शोक का कारण ही हो सकता है रस का नहीं। पण्डितराज के अनुसार भावना-दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व द्वारा सहृदय चेतना के आच्छादन की प्रकल्पना को भी यदि यथावत स्वीकार कर लें तब भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। कल्पना के बीच में जा जाने में वास्तविक शोक का आघात कम तो हो सकता है पर इस कल्पित शोक की रस म परिणति नहीं हो सकती। पण्डितराज भी काव्य के चमत्कार क अनिरीकृत इसका कोई-कसम्मत उत्तर नहीं ले सक। अत आश्रय के साथ तादात्म्य की स्वतंत्र या प्रमुख स्थिति अग्राह्य है साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के अग्ररूप म ही तानात्म्य माय हो सकता है।

आश्रय के प्रसंग म ही नायक का प्रश्न भी उठाया जा सकता है। नायक के साथ प्रमाता का तानात्म्य होता है— नायकस्य कवे श्रोतु समानोऽनुभवस्तत (तोत)। इसमे क्या आपत्ति है ? आपत्ति स्पष्ट है। सस्कृत-काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित होना था कि उनके साथ तानात्म्य करना प्रत्येक सहृदय के लिए सहज और स्पष्ट थीय था। काव्य के मूल अर्थ की अभिव्यक्ति कवि प्राय नायक के माध्यम से ही करता था अर्थात् कवि स्वयं नायक से तानात्म्य स्थापित कर लेता था जत सहृदय-समाज का भा उनक साथ सहज तानात्म्य हो जाता था। इस प्रविधि का उपयोग आज भी होता है और नायक की परम्परागत गरिमा आज भी नष्ट नहीं हुई। किन्तु स्थिति म थोडा परिबन्धन ला ले हो गया है। आज अनेक प्रथम श्रेणा क उपयोगाम म नायक का रूप उक्त आश्रय के विरुद्ध विपरीत मिलता है जिसक साथ तादात्म्य सहृदय के लिए न सहज होगा न स्पष्टणीय। उदाहरण के लिए एक साम्यवादी उपवासकार किसी हृदयहीन पूजीपति को नायक के रूप म हमारे सामने लाकर अपनी सम्पूर्ण घुणा को उसके व्यक्तित्व म पुजाभूत कर लेता है। उपवासाम यकिनप्रधान है क्याकि उसका उद्देश्य पूजीवाद की मूल धेतना—ध्विन्नवा—के प्रति घणा जगाना है। नामन असशिक्ष रूप स वही घणित स्थिति है। परन्तु क्या आप उमक माय तादात्म्य कर सकें ? यदि ऐसा कर सकें तो यह उपवासकार की घाट विषयना होगी। इस तरह नायक के साथ तादात्म्य भी मत्रधा सिद्ध नहीं होना और रस परिपाक के लिए नायक का साधारणीकरण भी आश्रय के साधारणीकरण के समान हा (यद्यपि उनना नहीं) अपर्याप्त हा रहता है।

आनम्बन या आनम्बन घम का साधारणीकरण—आनम्बन घम के साधारणी

करण का अर्थ यह है कि वाक्य में वर्णित भाव का विषय—व्यक्ति या वस्तु—यद्यपि विधेय रूप में ही प्रत्येक सहृदय के मानस पटल पर अंकित होता है, फिर भी वह अपने कुछ सामान्य अर्थान् सभी को प्रायः समान रूप से प्रभावित करनेवाले गुणों के कारण समस्त सहृदय-मनोभाव के चित्त में प्रायः एक-सा ही भव जगाता है। इस प्रकार साधारणीकरण मूलतः आलम्बन के उन गुणों का होता है जो सम्बद्ध भाव की आप्रति के कारण हैं। सीता का सीतात्व तो नष्ट नहीं होता पर उनके ऐसे सामान्य गुण उभरकर सामने आ जाते हैं जिनके कारण व केवल राम के ही नहीं सम्पूर्ण सहृदय-अमुदाय के अनुराग की भाजन बन जाती हैं। मैं समझता हूँ कि आचार्य शुक्ल के मत का और अधिक स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। परन्तु क्या यह मान्य है ?

इस विषय में कुछ बातें बिल्कुल साफ हैं। एक तो यह कि प्रस्तुत मत मट्टनायक तथा अभिनवगुप्त दोनों के मतों से भिन्न है केवल विश्वनाथ के मन्तव्य से ही इसमें परिणामी समानता है। मट्टनायक और अभिनव दोनों ही आलम्बन आदि के व्यक्तित्व का विगलन मानते हैं—उसके बिना न विभाव का और न भाव का ही साधारणीकरण पूरा हो सकता है। इस स्वतः स्पष्ट तथ्य को स्वीकार करने में परेशान होने की जरूरत नहीं है—शुक्ल जी के युग की अपनी मर्यादाएँ थीं क्योंकि अभिनवगुप्त आदि के प्रायः उस समय सुलभ नहीं थे और साथ ही उनकी चिन्तन पद्धति भी एकान्त रूप से गहनबद्ध नहीं थी। दूसरी बात यह है कि विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए आलम्बन के साधारणीकरण की मिथि वास्तव में नहीं हो सकती। स्वयं शुक्ल जी को इसकी प्रतीति हुई है इसीलिए वे आलम्बन से हटकर आलम्बनत्व या आनम्बन धर्म तक पहुँच गए हैं—और फिर उन्हें उसको नतिक आधार प्रदान करना पड़ा है। ऐसा आलम्बन शुक्ल जी को प्राप्त नहीं है जिसका आधार नतिक न हो क्योंकि उसका तो साधारणीकरण ही नहीं हो सकता। यहाँ आप देखें कि कठिनाई किस प्रकार बढ़ती जा रही है—आलम्बन फिर आलम्बन-धर्म और फिर उसका औचित्य या नतिक आधार। यह सब इसलिए हो रहा है कि भाव के विषय को भाव से अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और साधारणीकरण की प्रक्रिया में एक अंग स्वतंत्र हो गया है। तीसरा आधार यह किया जा सकता है कि इस प्रकार आलम्बन का क्षेत्र सीमित हो जाता है और परम्परा द्वारा निर्धारित आलम्बन ही वाक्य में वाक्य हो सकते हैं—अर्थान् रामान् सन् प्रीतिकर भावो के और रावणात् अप्रीतिकर भावो के हा आलम्बन बन सकते हैं। अतः यह सम-दृष्टि परम्परागत नतिक मूल्या से परिवर्द्ध है। सामान्यतः परम्परा एक नतिक मूल्या का अनुशासन थपस्कर ही होता है और वाक्य मूल्य उससे सवधा स्वतंत्र नहीं हो सकते फिर भी नतिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य पर्याय नहीं बन सकते। इस तरह तो भाव-क्षेत्र का विकास ही रुक जाएगा और मेघनाथ वध जस महान् वाक्या की रगवत्ता ही लम्बित हो जाएगी। वास्तव में परम्परा और नीति सहिता का बड़ा महत्त्व है परन्तु मानवता उनसे भी बड़ी है। अतएव परम्परा और नीति विधान के प्रति निष्ठावान रहते हुए भी वाक्य-मूल्या को तो मानवीय और सार्वभौम ही बनना पड़ेगा। प्रस्तुत सिद्धान्त को यथावन् स्वीकार कर लेने पर उस का क्षेत्र सामित हो जाता है—मानवार्थता की वाक्य-व्यक्ति, जा प्रथा और नीति के

आवरण को चीर जीवन के असाधारण क्षणों में बाँध जाती है। इस रम-दृष्टि के धरे में नहीं आती और वेदों में माइनेल के साथ ही नहीं। सूर और तोस्मतीय जैसे कलाकारों के साथ भी आया हो जाता है।

सहृदय की चेतना का साधारणीकरण—सहृदय की चेतना का साधारणीकरण या निम्नित रसास्वादन की अंतिम एवं आधारभूत त्रिणा है। किन्तु यह परिणाम है विभावादि के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने से अतः प्रमाता की चेतना भी स्वयं पर की भावना से मुक्त—एकतान—हो जाती है। स्वर्गीय प० के. व. प्रसाद मिश्र ने अभिनवगुप्त के प्रमाण से इसी को प्रधानता दी है। चित्त के एकतान और साधारणीकृत होने पर उसे (प्रमाता का) सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।^१ किन्तु यह साधारणता या असाधारणता नहीं है—चित्त की एकतानता ही तो सविद्विजान्ति है और वही रस है अतः वह साधारणीकरण का कारण नहीं हो सकती वह तो काय या परिणति है। चित्त के एकतान होने पर तो प्रमाता अभिनव के अनुसार आत्मास्वाद रूप रस का अनुभव करता है उस समय उसे अत्यन्त प्रमाणों की साधारण प्रतीति के लिए अवकाश ही नहीं रहता। साधारणीकरण रसास्वादन का समरूप सहचारी या सचारी नहीं है वह तो कारण है। अतः यह स्थापना भी मन्थना माय नहीं है कि प्रमाण चेतना की एकतानता ही वस्तुतः साधारणीकरण है।

सर्वांग का साधारणीकरण—अन्त में हम धूम फिखर भट्टनाथ के 'मन्तव्य' पर लौट आते हैं कि साधारणीकरण वास्तव में सर्वांग का ही होता है। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत 'जनक वाटिका' प्रसंग में आश्रय राम आलम्बन मीता, आश्रय की चेष्टा—अनुभाव जनकवाटिका का रमणीय वातावरण—उद्दीपन राम के मन में संचरण करने वाले हृषीकेश आदि भाव सभी साधारणीकृत हो जाते हैं। दूसरे प्रसंगों में मन्मथ प्रसंग ही विगिष्ट देवकाल-बद्ध घटना न रहकर साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी 'यदिन-समर्था' में मुक्त—साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काय प्रसंग तो अपने आप में जड़ वस्तु है—इसका चतय अतः इसका अर्थ है और यह अर्थ क्या है? कवि का संवेद्य—कवि की अनुभूति सामान्य भावानुभूति नहीं सजनात्मक अनुभूति भाव की कल्पनात्मक पुनः सजना की अनुभूति—भारतीय काव्यशास्त्र का 'सावली' में भावना। इसी का शास्त्रीय नाम ध्वनय है जो एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है और दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में सामान्य अर्थ को उद्बुद्ध करता है। काय प्रसंग इसी का मूल रूप या बिम्ब है। अर्थ के अनुरूप ही यह बिम्ब मग्न अथवा मदिन हो जाता है—प्रायः सन्निष्ट ही होता है। उपयुक्त बिम्ब निश्चय ही सन्निष्ट है उममें अनेक लघु बिम्बों का समन्वय है। राम के विषय में कवि की भाषात्मक कल्पना आश्रय राम के रूप में विम्बित हुई है साताविषयक भावना आलम्बन मीता के रूप में उनके प्रथम भ्रमण के पावन रमणीय वातावरण की भावना उद्दीपक जनकवाटिका के रूप में और राम के मन में उद्भूत भावनाओं की कल्पना हृषी

मत्रि आन् मचारियों के रूप में विन्वित हुई है। य छोटे छोटे विन्व मिलकर एक मन्त्रिष्ट विन्व का निमाण करत हैं जा राम-सीता प्रथममिलन विषयक कवि का मन्त्रिष्ट भावना को सङ्ग-भूत करना है। अत काव्य प्रसंग और कुछ नहीं कवि की भावना का विन्व मात्र है—यह काव्य प्रसंग या विन्व शरार है और कवि भावना उसको प्रकाशित करन वाली चतय आत्मा है और चूकि साधारणीकरण जड यात्रिक क्रिया न होकर चतय क्रिया है, अत काव्य प्रसंग या रम के समस्त अवयवों का साधारणीकरण भावन का अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान^१ क अधिक अनुकूल है। मट्टनायक की विषयप्रधान धारणा और अभिनव की विषयप्रधान धारणा—दोना क साथ इसको सगति बठ जानी है वस्तुत यह दोनों के बीच अनुस्यूत सम्बन्ध-भूत है और वनमान युग में रम-मिद्वान्त के सबसे समय प्रतिष्ठापक आचार्य गुक्ल को भी इसम काइ आपत्ति नहीं है।

पिछले दशक में मेरी इस स्थापना को लेकर काफी विवाद हुआ है और उसके विरुद्ध अनेक प्रकार क तक एक सकारण व्यक्त की गया है। इसमें से अनेक आक्षेप तो पूर्व ग्रह अथवा व्यक्तिगत निष्ठा पर आश्रित हैं अत उनके पीछे तक अथवा सत्यावपण का आग्रह इतना नहीं है जितना कि शुक्ल जी क प्रति अतक्य विवास तथा गुह्योद्घी क प्रति आश्रित है। ये अबोध तार्किक और उनके मन्त्राज्ञा दया के ही पात्र हैं क्योंकि ये नहीं जानत कि य क्या कहना चाहते हैं और क्या कह रहे हैं। किन्तु दो आक्षेप ऐसे हैं जिनका समाधान विषय क स्पष्टाकरण क लिए आवश्यक है। एक आक्षेप स्वर्गीय डॉ० गुलाबराय का है—वे यह स्वीकार नहीं करते कि सम्पूर्ण काव्य प्रसंग (आश्रय-आलम्बन तथा उनसे सम्बद्ध घटना आन्) कवि की अनुभूति का प्रतीकमात्र है, उसकी स्वतन्त्र वस्तु स्थिति नहीं है

यद्यपि यह बात किसी अंग में ठीक है कि राम-सीतादि का रूप विभिन्न कवियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति पर ही आश्रित रहता है तथापि जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारा स एक सामान्य भावना बनी रहती है वही आलम्बन का विषयगत अस्तित्व है। जा बात सब क मन में वतमान हा वह मानसिक रहती हुई विषयगतता (objectivity) धारण कर लेता है।^२

बाल्मिक म वाङ्मयी के रूप में व्यक्त का मेरी स्थापना स कोई विषय विरोध नहीं रह जाना क्योंकि अन्तत व नी आलम्बन आन् का अस्तित्व मानसिक या संस्कारगत ही मान लेते हैं। एक जनकवाग्नि का प्रसंग 'प्रमन्नराषक म है और दूसरा 'रामचरितमानस' में— वाग्नीकि रामायण म वह है ही नहीं। ऐसी दशा में उसका वस्तुस्थिति क्या रही ? वाङ्मयी कहेंगे कि जनमानस में रम प्रसंग का जा साधारण सम्कार-विद्यमान है—वही उसका वस्तुगत आधार है। किन्तु यह साधारण संस्कार भी तो कवि की अनुभूति म ही

१ कुछ परिचित प्रकार मनोविज्ञान से ही घिरे हुए ह पर इसमें न तो मनोविज्ञान का दोष है और न मेरा।

२ मिद्वान्त और अक्षयन शिरोद संस्करण पृष्ठ २१३

बना है—अथवा यो कहिए कि यह अनेक कविया की अनुभूतिया का मधान ही तो है । और फिर मानस का जनक-वाटिका प्रमग जनमानस व साधारण स्स्कार का बिम्बमात्र नहीं है—तुनसी के तद्विषयक मनोबिम्ब का शब्द रूप है । इसलिए बाबूजी द्वारा प्रतिपादित विषय सत्ता भी अन्ततः विषयिगन ही सिद्ध हा जाती है और उनका मनभेद मूल सिद्धात से न रहकर बलायन मात्र तक सीमित रह जाता है—अर्थात् उन्हें एना गगा है जैसे मैंने पूरा बल कवि की विशिष्ट अनुभूति पर ही केन्द्रित कर साधारण स्स्कार की उपेक्षा कर दी हो । परन्तु ऐसा तो है नहीं—मैंने तो कही भी कवि की अनुभूति को विनिष्ठा या व्यक्तिगत अनुभूति नहीं माना ।

दूसरा जा तप यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित करना हमारे लिए सम्भव नहीं है इसी प्रकार प्रत्येक स्थिति में कवि के साथ तादात्म्य करने में भी कठिनाई हो सकती है । जिस प्रकार आश्रय की भावनाएँ हमारी भावनाओं के सबया विपरीत हो सकती हैं इसी प्रकार कवि की भी । उदाहरण के लिए यदि कोई प्रगतिवादी कवि विद्रोह की उग्र भावना से अभिभूत होकर भारतीय परम्पराओं का उपहास करता है या चिरन्तन प्रयोगशीलता का आग्रही कवि जीवन के शाश्वत मूल्यों पर व्यग्य करता है तो उसके साथ हमारा तादात्म्य कस हो सकता है अर्थात् उक्त प्रगतिवादी या नये कवि की अनुभूति का साधारणीकरण कैसे माना जा सकता है ? साम्प्रदायिक भक्त-कवियों के सम्प्रदाय में भी यही समस्या सामने आती है । उनके 'सहचरी भाव' का साधारणीकरण किस प्रकार हो सकता है ? इस समस्या का समाधान भी कठिन नहीं है । ये सभी परिस्थितियाँ वास्तव में ऐसी हैं जहाँ स्वयं कवि अपनी भावना का साधारणीकरण करने में असमय रहता है—साम्प्रदायिक चेतना अथवा राजनीतिक या साहित्यिक पूर्वग्रह के कारण उसकी अनुभूति विशिष्ट ही रहती है और जब कवि स्वयं ही अपनी अनुभूति के साधारणीकरण में असमय रहता है तब पाठक या पाठक समाज के चित्त में समान अनुभूति का उत्प्रेषण वह कैसे कर सकता है ? इस प्रकार मूलतः असाधारणीकृत या साधारणीकरण के अयोग्य कवि अनुभूति का उदाहरण देकर हमारी स्थापना को असिद्ध नहीं किया जा सकता । वास्तव में उपयुक्त उदाहरणों में तो अनुभूति व्यक्तिगत ही रह जाती है बावशानुभूति बन ही नहीं पाती क्योंकि कवि अथवा या कहें कि कवि क्रम में रत व्यक्ति स्वयं अपने चित्त को एकतान नहीं कर पाता—वह तो अपने व्यक्तिगत (व्यगगत या सम्प्रदायगत) भाव को ही बाणी दे रहा है और व्यक्तिगत भाव को अभिव्यक्ति कविता नहीं होती । इसके विपरीत जहाँ उसका कवि-क्रम सफल हो जाता है जैसे कि मेघनाद वर्ध' में वहाँ साधारणीकरण हो जाता है और हिन्दू पाठक भी अपने व्यक्तिगत या जातिगत स्स्कारों से मुक्त होकर शुद्ध सहृदयता की भूमि पर कवि के साथ कुछ समय के लिए तादात्म्य कर सता है ।

अतएव निष्कर्ष यही निकलता कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होना है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है

१ व्यग चेतना और साम्प्रदायिक चेतना भी व्यक्ति चेतना का ही प्रत्ययणमात्र है ।

कि वह सभी क हृदय में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति बतमान है। अनुभूति सभी म होती ह सभी यकिन उसे यत्किंचित व्यक्त भी कर लेते हैं परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब में नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होत हुए भी सब कवि नहीं होते। कवि वह होता ह जो अपनी अनुभूति-का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दा में जिसे लोक हृदय का पहचान हो। यहाँ आकर य सभी बाधाएँ आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत ह या कोई नायक हमारी घणा और श्रौघ का विषय ह अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भावविशेष अनुचित ह। आश्रय रूप रावण यदि कही राम की भत्मना करता है तो क्या हुआ ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हमारे अन्तर म तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माइकेन को रावण से सहानुभूति है इसलिए मघनाद वध का यह प्रसंग हमारे हृदय म रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छभाव जाग्रत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घणा है तो यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास्य या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बनाकर राम के प्रति हमारी भक्ति जाग्रत करेगा। हमको रस दोनों ही अवस्थाओं म आएगा। आश्रय यदि भिन्नलिंगी है—पुरष पाठक के सामने खण्डिता का बिरह निवेदन या नारा पाठक के समक्ष खलनायक की मनुहारा का वणन है तब भी कोई अंतर नह। पडता क्योंकि हम न खण्डिता से तादात्म्य करते हैं और न खलनायक से। हमारा तादात्म्य तो इन बिम्बा द्वारा व्यक्त कवि भाव के साथ होता है। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपमास का पूजापति नायक अपनी कुत्साआ म जघन्य है तो हुआ करे हम उससे तादात्म्य थोड़े ही स्थापित करते हैं। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं। अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घणा और श्रौघ जाग्रत कर उपमास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता म हमारी परम्परागत पूज्य-वृद्धि है तो हो। यह सीता नहीं है यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक ह। तुलसी को यदि उसने प्रति अभिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा मिश्रित रति की अनुभूति होती है तो हमको भी वसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न करके तुलसी से ही तादात्म्य कर पाएँगे। ऐसी दशा में हमको रसानुभूति तो होगी पर अभिश्रित शृंगार की नह। इसके विपरीत कुमारसम्भव या रीतिकालीन राधा-कृष्ण प्रेम प्रसंगाँ को पढ़कर यदि हमें अभिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी ने विपरीत बालिदास या रीति-युग के कवि की तद्विषयक अनुभूति अभिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमें कोई मानसिक प्रिय नहीं थी। यह सीधा सत्य है जिस एक ओर साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक और अभिनवगुप्त भारत की अभिव्यक्त काव्य परम्परा के कारण और दूसरी ओर आधुनिक आलोचना म उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्ल जी अपनी वस्तुपरक या नैतिक रस-दृष्टि के कारण अभिज्ञ होते हुए भी सबथा स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाए।

अगर आप उब न गए हो तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर

लिया जाए। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार सम्भव होता है? वह किस प्रकार अपनी अनभूति का साधारणीकरण करता है? स्वदेश विदेश के पण्डितों ने इनके दो उत्तर दिए हैं—१ साधारणीकरण भाषा या काव्य भाषा का घम है २ साधारणीकरण का मूलधार मानव-मुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एकतार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर में भटटनायक और अभिनवगुप्त की ध्वनि है। भटटनायक काव्य (काव्यमय शब्द) में ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप से आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनवगुप्त शब्द में भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सबप्रधान शक्ति यजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव प्रतीका का समूह मानते हैं जो उन विषय ज्ञान-खण्डों और भाषा को समान रूप से सबकी चेतना में जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव में एक-दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो सस्यान हैं। ज्ञान पहला सस्यान है भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक विशेष हमारी चेतना में किसी वस्तु का ज्ञान मात्र ही जगाकर रह जाता है और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार में करते हैं दूसरा केवल भाव-शील क्षणों में—जब हमारे अपने भाव प्रतीका पर आरुढ़ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें मुग्धता के हृदयों में समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन की शक्ति मूलतः हमारे भाषा से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरा के हृदयों में समान भाव कस उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चतन्य है। मानव मानव के हृदय में (भारतीय दान तो चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समस्त भ्रूत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गंध आए, परन्तु मनोविज्ञान, गरीरशास्त्र और अध्यात्म अभी हमसे आगे नहीं बढ़ पाये हैं।

अतएव साधारणीकरण का आधार है भाषा का भावमय प्रयोग। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोजिता की अपनी भाव-शक्ति पर निर्भर रहता है और प्रयोजिता व भाषा को सर्वोत्तमशक्ति का आधार है—मानव-मुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोड़ी-बहुत सभी में होती है अथवा जीवन की स्थिति ही सम्भव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेष रूप से समृद्ध हो जिसकी अनुभूतियाँ विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा व भावमय प्रयोग कर सकता है अर्थात् अपने समस्त भाषा व बल पर वह उनके प्रतीका को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरा के हृदयों में भी समान भाव जगा सकें। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।^१

१ 'चैतिकाव्य की भूमिका' में उद्धृत।

३

कामायनी का महाकाव्यत्व

ज्या ही मैं कामायनी का मूल्यांकन करने के लिए प्रयत्न होता हूँ मुझ लीजाइ नस की यह प्रसिद्ध उक्ति अनायास ही याद आ जाती है—

“महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूरहोता है। क्योंकि सर्वांगीण गुडता म अनि वापत शुद्धता की आगवा रहती है और औदार्य म कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जात है।”

कामायनी के शिल्प विद्यान में निश्चय ही अनेक छिद्र रह गए हैं—उसका वास्तु शिल्प अपनी पूणता को नहीं पहुँच सका, उसकी आधारभूत प्रकल्पना म जो अखडता ह उसका प्रतिफलन वस्तु विन्यास में नहीं हो पाया—अगा की समविति कई जगह टट गई है अमिव्यजना में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं जो परकरण और काव्यशास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं, कुछ विश्व अचूरे रह गए हैं—अलकार छिन भिन्न हो गए हैं चण्डा के फूलों की जाली मपन के कोमल स्पर्श की साज-सँवार नहीं है कहानी में मयिलीकरण गुप्त की प्रबन्ध-कला की गठन और प्रवाह नहीं है—आदि आदि। उसके दोषों की अन्वेषणा आज कुछ अधिक व्यग्रता से की जा रही है। आलोचक उसके गौरव के प्रति जितना आकृष्ट हो रहा है, आज का छट्पाकलाकार उसकी अपूणता के प्रति उतना ही आप्रहशील हो उठा है। इस प्रकार कामायनी आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद और विवादा व रहते हुए भी कदाचित् सबसे महान उपलब्धि है।

कामायनी की रचना प्रसाद ने महाकाव्य के रूप में की है। आमुख म मनु-व्रदा की कथा के ऐतिहास्य रूप को सिद्ध करने के लिए उहाने जो उरकट आप्रह व्यक्त किया है उसका मुख्य प्रयोजन यही है। अत महाकाव्य के रूप म ही कामायनी का मूल्यांकन करना कवि के मौलिक उद्देश्य के अधिक निकट रहगा। स्वदेश विशेष के काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य के लक्षणों का गणना प्रस्तुत सदभ म क्वाचित अधिक सायक न होगी। इसलिए मैं महाकाव्य के उन्ही मूल लक्षणों को लेकर चलगा, जा दशकान सापेक्ष नहीं हैं जिनके अभाव म किछी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सम्भाव म परम्परागत शास्त्रीय लक्षणा की बाधा होने पर भी किसी कति की महाकाव्य के गौरव से अचित नहीं किया जा सकता। ये मूल लक्षण हैं—१ उदात्त कथानक, २ उदात्त काव्य अथवा उद्गम, ३ उदात्त परित्र, ४ उदात्त भाव और ५ उदात्त शली। अर्थात् औदार्य ही महाकाव्य का प्राण है। किन्तु इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि औदार्य और माधुम म किसी प्रकार का प्रकट या प्रच्छन्न विरोध है। इस भ्रान्ति का निवारण करने के लिए मैं आधुनिक आलोचक ए० सी० ब्रह्म के औदार्यमर्दपी प्रसिद्ध लेख की ओर इंगित करूंगा जिसमें उहोंने उदात्त का सौन्दर्यशास्त्र का स्पष्ट मानते हुए उसे व्यापक अर्थ में सौन्दर्य का ही एक रूप माना है। उनके अनुसार स्मृतत सुन्दर के पाँच भेद बिये जा सकते हैं—

उदात्त मन्म मधुर मनोरम और सति। इनमें तदा की है उदात्त और
 है सति। मत्त तो संसार की दुःख के जीवन और उदात्त में भी कोई सति
 है—मधुर की स्थिति तो उदात्त के मोर भी सति निक है। भारतीय दान दे
 की कल्पना और भारतीय वास्तुशास्त्र में भी उदात्त मानव की कल्पना
 मन्म तथा उपसृष्ट विरोध का गहन करती है। कामनी का पूजा करने के
 इस भ्रान्ति का निराकरण आवश्यक है।

उदात्त कथानक

कथानक का अर्थ है घटनाओं का समन्वय। जो उदात्त या महान् कथानक
 अथ वृत्ता महान् घटनाओं का समन्वय। घटनाओं की महत्ता का मापक है उदात्त
 भाव तथा देशकाल में विस्तार। इस प्रकार महान् कथानक का निर्माण दोषों का
 नाश से होता है अन्तर्भाव प्रभाव एवं स्थायी हो और देश तथा काल दोनों में विस्तार
 विस्तार हो। इसी साथ ही उदात्त कथानक के लिए यह भी आवश्यक है कि उदात्त रूप
 प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में व्यवहार में होकर स्थायी हो—उदात्त परिणाम और
 मंगलमयी हो। इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध करना कठिन नहीं है कि कथानक
 की घटनाएँ अत्यन्त उदात्त एवं महान् हैं किन्तु उनका क्षण बहाना नहीं है किन्तु
 मानव आत्मा या मानव चेतना है। परम्परागत महान् कथानक की आधारभूत घटनाओं—
 युद्ध आदि—की भाँति उनका विस्तार भौतिक जगत् में सति नहीं होता—उदात्त
 विस्तार होता है मानव चेतना के भीतर जहाँ पतित होकर वे समय मानव जीवन का
 गहरा और स्थायी प्रभाव हासिल हैं। कामनी की प्रमुख घटनाएँ हैं स्वायत्त बहुराज्य
 पराभव, पुरुष और नारी का प्रथम मिलन नारी का स्वयं-समर्पण पुरुष और नारी के
 प्रणयपूर्ण मेल से सति विकास पुरुष की अबाधित अधिकार भावना—उत्तरे तिर
 बुद्धिबल से भौतिक सम्पत्ति और अधिकार क्षेत्र का प्रसार अतिचार एवं कुठा बद्धि परपूज
 अधिकार करने का उदात्त प्रयत्न और उसके परिणामस्वरूप मानव चेतना की पूर्ण विकसता
 इस विकसता के मूल कारण की अवगति और अन्त में सामरस्य तथा उसके फलस्वरूप पूर्ण
 नद की सिद्धि। मानव के अधिमान्तिक जीवन में इन सभी घटनाओं का महत्व अणुगत
 है। विश्व में होनेवाली प्रबल घटनाएँ नाश और निर्माण के समस्त दुःख, भौतिक सम्पत्ति
 और विकास के विभिन्न रूप इन्हीं घटनाओं के प्रतिबिम्ब हैं। अवचेतन मनोजगल के उदात्त
 घटना और तत्सम्बन्धी अनुसंधान से यह स्पष्ट हो गया है कि भौतिक जगत् का विराट
 घटनाचक्र मानव चेतना के अतल गह्वरों में होनेवाले घटना चक्र की छायामान है। कामनी
 यनी के कवि न इस महत्त्व को समझा है और वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपनिषद् का
 उपयोग करते हुए अपने महाकाव्य में इसका प्रतिफलन किया है। कहने का अभिप्राय यह
 है कि कामनी की घटनाओं में निश्चय ही महाकाव्यात्मित प्रबलता और आध्यात्मिक है किन्तु
 यह प्रबलता और आध्यात्मिक अर्थात् आध्यात्मिक अर्थात् आध्यात्मिक नहीं है—चेतनागत तथा
 आध्यात्मिक है।

नीतिक जगत् की सघनता का सर्वत्र अभाव है। जहाँ कथा का विकास मूल जगत् की पृष्ठभूमि में होता है, वहाँ परम्परागत महाकाव्य की घटनाओं की सघनाता एवं विस्तार भी पर्याप्त विद्यमान है। उदाहरण के लिए आरम्भिक मग से देव दम्भ और प्रलय के बीच अथवा 'सघय' मग से सारस्वत नगर के यभव के बीच प्रजा के साथ मनु के द्वन्द्व का चित्रण प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी कामायनी के कथानक की गरिमा इन प्रयोगों में उतनी नहीं है जितनी कि मनु (मानव) के अहंकार के विस्तार में अथवा बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने के लिए मानव-चेतना के निर्बाध प्रयास में, अथवा आत्मा की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक त्रिलोक के दान में मानव चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि में। वास्तव दृष्टि से देखने पर ये घटनाएँ अपनी अमूर्तता के कारण अनावृत्त प्रतीत होती हैं किन्तु वर्तमान युग में जिस प्रकार मानव चेतना बुद्धि पर अबाध अधिकार प्राप्त करने का दुर्दम प्रयास कर रही है उसे देखते हुए इससे प्रबलतर घटना की कल्पना करना सम्भव नहीं है।

सामाजिक रूप से विचार करने पर भी कामायनी के कथानक में अपूर्व आयाग है। वह केवल एक महापुरुष की जावन गाथा नहीं है एक राजवंश का वृत्त-वर्णनात्मक नहीं है एक युग या राष्ट्र की कथा नहीं है वह तो सम्पूर्ण मानवता के विकास की गाथा है—अप से इति तक। अथ महाकाव्य जहाँ मानव-सम्यक्ता के सब चित्र प्रस्तुत कर रह जाते हैं वहाँ कामायनीकार ने उसका समग्र चित्र प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण प्रयास किया है। यह प्रयास पूर्ण नहीं हुआ किन्तु इसका परिधि विस्तार इतना अधिन है कि अपनी अपूर्णता में भी यह अद्भुत है—असामान्य है।

उत्तम काय

कामायनी का काय है भाववृत्ति व समवृत्ति तथा ज्ञानवृत्ति के सामग्रस्य द्वारा समग्रता और उसके फलस्वरूप आनन्द की सिद्धि। कवि ने इस काय की सिद्धि के लिए त्रिलोक के प्रतीक की उदभावना कर अत्यन्त बौद्धानुपूर्वक उसे दिग्गन्त विस्तार प्रदान कर दिया है। आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी दुपटना है इच्छा क्रिया और ज्ञान की विभक्तता। मानव-चेतना के इतिहास में जब जब इन तीनों में असामञ्जस हुआ है जीवित विनाश अवच्छेद हो गया है—संसार में अराजकता और अज्ञानि फल गयी है। आज के नीतिक जीवन का भी सबसे बड़ा अविद्याय यह है कि हमारे धर्म और सृष्टि की शिखा एक है राजनीति की दूसरी और विज्ञान की तीसरी—त्रय भाव, क्रिया और ज्ञान के ये प्रतिरूप एक-दूसरे से असम्बद्ध हैं। इसका परिणाम है वर्तमान अज्ञानि—जो वास्तविक युद्ध अथवा धीरे-धीरे आदि के रूप में व्यक्त हो रही है। इस भीषण संकट पर समाधान है—मानवता के प्रति अदृष्ट शब्दा रखते हुए जीवन की इन तीनों प्रवृत्तियों में एकात्म्य स्थापित करना। ज्यों ही मानव-कल्याण को सदैव बनाकर हमारी सृष्टि हमारी राजनीति और हमारा विज्ञान एकात्मित हो जायेंगे तुरन्त ही इस युग की विषम समस्या का समाधान हो जाएगा। इस प्रकार कामायनी में वर्तमान के आधार-फलक पर प्रयत्न करने मानव-जीवन की उस मूल समस्या का चिरन्तन समाधान प्रस्तुत किया है जो सामाजिक होकर भी शाश्वत है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक और एकात्मिक तथा सर्वगोप्य का य-

एकीकरण महाकाव्य का प्रधान लक्षण है और इस लक्षण का निर्वाह जिस भव्य रूप में कामायनी के अन्तर्गत हुआ है वसा अन्यत्र नहीं। इस प्रकार कामायनी का काव्य सदा उदात्त है। ऐसी गरिमा और ऐसा विराट आयाम और जिस महाकाव्य के काव्य म है ?

उदात्त भाव

कामायनी का मूलवर्ती भाव अथवा महाभाव भी जिस काव्यशास्त्र की गण्यवली में अग्री रम कहा गया है अपने प्रतिपाद्य के अनुरूप ही है। जिस प्रकार कामायनी का कथानक जीवन को अलङ्कृतता में ग्रहण करता है और जिस प्रकार कामायनी का प्रतिपाद्य जीवन की एकांगी सिद्धि न होकर सर्वांगीण सिद्धि ही है इसी प्रकार कामायनी का अग्रिम भी एकांगी गान्त या शृंगार नहीं है वरन् अलङ्कृत आत्मरस है। इसी को महारस या आत्मरस कहा गया है।

उदात्त चरित्र

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्य का नायक धीरोदात्त होना चाहिए और धीरोदात्त के लक्षण हैं महामत्त्व अतिगम्भीर क्षमावान् अबिकल्पित स्थिर निगूढ अहङ्कारवान् और दृढव्रत । इन लक्षणों के आधार पर स्पष्टतः मनु धीरोदात्त नायक सिद्ध नहीं होते। धीरोदात्त नायक के व्यक्तित्व का निर्माण जहाँ मानव-सभ्यता की अत्यन्त विकसित स्थिति में ही सम्भव है वहाँ मनु का व्यक्तित्व विकास मानव चेतना के विकास का प्रतीक है। मनाविज्ञान तथा विकासवाद (जिनको प्रसाद ने आधाररूप में ग्रहण किया है) — दोनों के ही अनुसार आदि पुरुष मनु का चरित्र पूर्ण विकसित रूप में अंकित नहीं किया जा सकता था। सहज मानव चेतना का प्रतीक होने के लिये मनु का चरित्र विकासशील है जब दान की गण्यवली में वह पाणव या आणव स्थिति में आरम्भ होकर गानवत स्थिति को प्राप्त करता है। नायक के चरित्र का यह विकास कामायनी के प्रतिपाद्य के अनुरूप ही नहीं है वरन् उसके लिए अनिवाप्य भी है — धीरोदात्त गुणा से समचित्त विकसित चरित्र की सगति न कामायनी के कथानक के साथ बँध सकती है और न उसके प्रतिपाद्य के साथ ही। इसलिए मनु की दुर्बलताओं का उल्लेख कर जो कामायनी की दुर्बलताओं की ओर मकेंत करते हैं वे कामायनी के स्वरूप तथा लक्ष्य दोनों के प्रति अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। अपनी विगिण्य स्थिति के कारण मनु अहङ्कार स्वायत्त इन्द्रिय निष्ठा अतिपरना आदि अनेक मानव चेतना की हीनतर प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हो सकता था किन्तु मनु का दुर्गुण पर विजय प्राप्त कर वे पूर्ण समस्त मानवत्व आध्यात्मिक गण्यवली में गिवाप्य की सिद्धि करते हैं जो वे धीरोदात्त स्थिति से भी कहा ऊपर उठ जाते हैं।

एक पुरुष का प्रवृत्ति के सिद्ध गुणों और उस पर विजय का महान प्रयास ! — मनु के चरित्र चित्रण का एक रूप यह ही है। मनु का जो परम्परागत महाकाव्य के अन्तर्गत आया है, आचार्य गुरु प्रजापति मनु का चरित्र विकास इसी रूप में लक्ष्य चाहते थे क्योंकि कामायनी में उसका अभाव देखकर उनका मान सिद्ध हो गया। मनु सन्त

नहीं कि प्रबंधकाव्य की दृष्टि में मनु का यह विराट् व्यक्तित्व विकास निश्चय ही बड़ा आवश्यक होता, किन्तु कामायनी का कविता अपने कथानक तथा प्रतिपाद्य की विषय परस्त्वितिया से विद्यमाना अतः उसके लिए यह पद्धति ग्रहण करना सम्भवा ही नहल था । अन्तमुर कथानक क नायक का व्यक्तित्व प्रसार देश-काल के विस्तार में सम्भव नही था कशीलिए चाणक्य स्कन्धगुप्त आदि धीरोदात्त चरित्रा की सफल साना करने क उपरान्त भी प्रसाद गुप्त जी की उक्त विराट् कथनाप्रति का अवन नही कर सके । यह मय क्वि उनकी कल्पना में उभरा ही न हो, ऐसा नही है । इस गका को निमूल करने के लिए कामायना की आरम्भिक पकितया का उद्धरण पर्याप्त हागा—

हिमगिरि के उत्तुग गिखर पर
बठ गिला की शीतल छोट
एक पुरुष भीमे नयनो से
दल रहा था प्रलय प्रवाह ।
नीचे जल था ऊपर हिम था
एक तरल था एक मघन,
एक तत्व की ही प्रधानता
बहो उसे जड या चेतन ।^१

प्रकृति के सावभौम आधारफलक पर एक पुरुष क रूप में मनु की यह प्रतिष्ठा उमी विराट् कल्पना की ओर सक्त करती है किन्तु स्पष्ट है कि उपयुक्त कारणों में कवि उसे मूल रूप नही दे सका ।

श्रद्धा का चरित्र अत्यन्त उम्ज्वल है । सात्त्विक गुणा में पूण विभवमगल भावना की प्रतीक श्रद्धा का व्यक्तित्व विकास की अपक्षा नहीं करता कयाकि स्पष्ट श्रद्धा मनु की भांति, अनगड़ मानव चेतना का उसके समग्र रूप में प्रतिनिधित्व नही करता । मनु क व्यक्तित्व में जहाँ मानव चेतना की हीनतर और उच्चतर दाना ही प्रवृत्तिया का मिश्रण अनिवाय था वहाँ श्रद्धा कवल उच्चतर प्रवृत्तिया अर्थात् दया माया ममता मधु रिमा जीर विद्वाम आदि ऐसी प्रवृत्तिया का हा प्रतिनिधित्व करती है जो मानव-चतना को पूणत्व दानिक गणावली में पूण गित्व प्राप्त करने में सहायता देती है । इस प्रकार श्रद्धा के चरित्राकत में बह बाधा नही रनी जो मनु के प्रमग में थी अतः उसमें परम्परागत महाकाव्यिक औत्सुक्य त्व गरिमा का भी अद्भुत समावेश हा गया है । यहा श्रद्धा क विषय में भी सत्य है । उसक व्यक्तित्व में भी बाधित एवय एक गरिमा है । किन्तु श्रद्धा जीर श्रद्धा अपना एातहागिक अस्तित्व रखते हुए सावेतिक अथ का द्योतन भा करती है, स्वभावतः उनकी प्रतीकता क कारण चारित्रिक रूपरेखा में बला दबता और मृत सपनता नहल आ गयी जसी कि पाश्चात्य महाकाव्या क चरित्रा में मिनता है ।

उदात्त गली

कामायनी की गला मयत्र हो एक अरुव लोकात्तर स्तर पर नवीक्ष्यत गृही

है। उसमें दृढ़ता का एकाग्र अभाव है प्रयत्न करने पर सम्पूर्ण काव्य में एकाग्र अग्र वाद ही मिलेगा। पादशास्त्र आधारों में महाकाव्य की गली का प्रमुख गुण माना है असाधारणता। कामायनी की शाली में इन गुण का प्राण्य प्रायः दोष की सीमा तक पहुँच गया है। यहाँ सामान्य प्रसंगों में भी गली का स्तर प्रायः असाधारण ही रहता है और जहाँ कवि सामान्य घरातम पर उतरने का प्रयत्न करता है वहीं गली का स्वरूप विकृत हो जाता है। फलतः उसमें अन्वय ऐश्वर्य एवं अलंकार विलास है लक्षणा-व्यञ्जना का विचित्र अलंकार है। अल्पना तथा भावना के अपूर्व बन्धन के कारण इस गली में मूर्ति विधान एक विश्व योजना की अदभूत समृद्धि मिलती है। कामायनी की भाषा सबत्र ही निरन्तर भाषा एवं प्रतीक भाषा है जिसमें तत्सम तथा सच्चिन्म सत्सम्भ शक्ति का मुक्त प्रयोग हुआ है। भाषा और अभिव्यञ्जना के इन असाधारण गुणों के फलस्वरूप कामायनी की गली सामान्य से सबया भिन्न हो गई है।

गली की असाधारणता के प्रति आप्रह के कारण ही कामायनी की गली में इतिवृत्त-वर्णन का एकाग्र अभाव है। कवि ने अत्यन्त सचेष्ट रूप से मनन चिन्तन सवाद स्वगत स्वप्न दृश्य विधान आदि के द्वारा कथा का विकास किया है। इतिवृत्त गली के प्रति प्रसाद के मन में एक विचित्र विनयना रही है। कामायनी में कथा का स्तर कल्पना विनास दार्शनिक गरिमा और रागात्मक ऐश्वर्य के कारण सामान्य से इतना भिन्न रहा है कि वृत्त-वर्णन की कृत्रिमता इस समृद्धि का बहन नहीं कर सकती थी।

भारतीय काव्यशास्त्र में व्यञ्जना से महाकाव्य की गली को नानावर्णनसमा माना गया है। कामायनी की शाली में यह गुण स्पष्टतः विद्यमान है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और उदात्त से उदात्त मन स्थिति का अन्वय करने में पूणतः समर्थ है। सुन्दर और विरल वधु और मयानक आदि के वर्णन में उसकी समान गति है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य की शाली के लिए यह भी अपेक्षित है कि वह विस्तारगर्भा हो मूल सधन एवं प्रबल हो उसमें दुर्दम नद प्रवाह हो। ये गुण वास्तव में ऐहिक-कथा प्रधान महाकाव्यों की गली में मिलते हैं। कामायनी में भी जहाँ भौतिक घटनाओं की प्रधानता है इन गणों का सम्बन्ध प्रयोग है जैसे प्रलय-वर्णन मधुप आदि में मनु के अहंकार आदि की अभिव्यञ्जना में अज्ञ गुण का भी उचित समावेश है। किन्तु गली के अधिकांश कलेवर में सधनता आदि गुणों का निर्वाह सम्भव नहीं हुआ। क्योंकि कथावस्तु अन्तर्मुख है बहिर्मुख नहीं है इसलिए मूल घटनाओं और दृश्यों के सन्तुलन वर्णन से गली में जो एक प्रकार का सहज घनत्व एवं नव प्रवाह उत्पन्न हो जाता है वह यहाँ नहीं मिल सकता। इसी अन्वयता के कारण कामायनी की गली में प्रगीत-तत्त्व स्थान स्थान पर उभर आता है। सामान्यतः वह महाकाव्य का दोष है किन्तु यहाँ तो विधान ही अन्तर्ग्रह है और घटनाओं की विकास भूमि मानव-व्यञ्जना है इसलिए प्रगीत-तत्त्व यहाँ बाधक न होकर लाभदायक है।

समग्रतः कामायनी की शाली निश्चय ही भव्य है। कवि की प्रतिमाने एक नवरात्रि का कल्पना और भावना के ऐश्वर्य से जगमग कर लिया है।

निष्कर्ष

कामायनी का महाकाव्यत्व असंनिग्ध है। परम्परा का नितान्त निर्वाह प्रसाद व स्वभाव व विपरीत या अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य का 'यगाभ्य'—दोना म से किनी एक व भा सक्षणों का पूरा निर्वाह शोचनी व्यय हागा। फिर भी महाकाव्य व प्रायः सभी महत्त्व कामायनी म स्पष्टतः विद्यमान हैं—वेदल एक ही प्रटि है वह है काय-पापार का अभाव जिसके परिणामस्वरूप क्या म वाछिन भौतिक विस्तार नहा आ सका। क्योंकि कामायनी का वस्तु विकास बहिमुख न हाकर अन्तमुख है वह मानव चेतना व विवाम का क्या है जो मनु व जीवन विकास व माध्यम स कही गई है अतः साधारणीकरण व लिए मर्त्त कवि न रूपक का भावमय पदनि ग्रहण की है जिकर द्वारा मनु मानव चेतना के प्रतिनिधि बन जाने हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य एहिक जीवन प्रधान महाकाव्य की कोटि म कामायनी नहीं आती। वह एहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है मानव चेतना का महाकाव्य है—अतः रूपक-तत्त्व जो सामायन महाकाव्य म बाधक हाता है यहाँ साधक बनकर आया है इसलिए प्रगीत-तत्त्व भी यहाँ बाधक न होकर साधक ही हुआ है। मानव-चेतना व विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सम्पत्ता व विकास का यह विराट् रूपक साहित्य व इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अदभुत उपनिधि है। इसी रूप में यह परम्परा स भिन्न है—रूपक आर महा काव्य के सम-वय के कारण—क्या व अठमु छ विकास व कारण ।

निष्कर्ष

कामायनी का महाकाव्यत्व असंशय है। परम्परा का नितांत निर्वाह प्रसाद के स्वभाव के विपरीत था। अतः कामायनी में भारतीय और पाश्चात्य का "यगास्त्र"—दोनों में से किसी एक का भा सङ्गणना का पूरा निर्वाह योजना व्यय होगा। फिर भी महाकाव्य का प्रायः सभी महत्त्व कामायनी में स्पष्टतः विद्यमान है—केवल एक ही त्रुटि है वह है वायु-वापार का अभाव जिसके परिणामस्वरूप कथा में वाञ्छित भौतिक विस्तार नहीं आ सका। क्याकि कामायनी का वस्तु विकास बहिर्मुख न होकर अन्तर्मुख है वह मानव चेतना के विकास की कथा है जो मनु के जावन विकास के माध्यम से कहा गई है अतः साधारणीकरण के लिए यहाँ कवि ने रूपक की भावमय पद्धति ग्रहण की है जिसके द्वारा मनु मानव चेतना के प्रतिनिधि बन जाते हैं। इस प्रकार परम्परागत महाकाव्य ऐहिक जीवन प्रधान महाकाव्य की कोटि में कामायनी नहीं आती। वह ऐहिक जीवन का महाकाव्य नहीं है मानव चेतना का महाकाव्य है—अतः रूपक-तत्त्व जो कामायनी महाकाव्य में साधक होता है, यहाँ साधक बनकर आया है इसलिए प्रगीत तत्त्व भी यहाँ बापक न होकर साधक ही हुआ है। मानव-चेतना के विकास का यह महाकाव्य अथवा मानव-सम्यक्ता के विकास का यह विराट् रूपक साहित्य के इतिहास में एक नवीन प्रयोग है—एक अदम्य उपलब्धि है। इसी रूप में यह परम्परा से भिन्न है—रूपक और महाकाव्य के सम्बन्ध के कारण—कथा के अन्तर्मुख विकास के कारण।